Gyanvividha

Special Issue : October, 2026 (Part-2)

INTERNATIONAL CONFERENCE ON

CULTURAL RELATIONS BETWEEN INDIA AND BHUTAN

Venue: Royal Thimpu College, Thimpu , Bhutan

EDUCATION • LITERATURE • CULTURE & SUSTAINABILITY

Organized by: Sahitya Sanchay Shodh Samvad Foundation, Delhi, India

In Collaboration with:

हिंदी कल्चर सेंटर, जापान

कठौर, सीतामढ़ी, बिहार से प्रकाशित

पता–ग्राम+पो०–कठौर, वार्ड नं.–13, थाना–परसौनी, जिला–सीतामढ़ी, बिहार, पिन–843325

Website- https://journal.gyanvividha.com

INTERNATIONAL CONFERENCE ON

CULTURAL RELATIONS BETWEEN INDIA AND BHUTAN

Venue: Royal Thimpu College, Thimpu , Bhutan

EDUCATION • LITERATURE • CULTURE & SUSTAINABILITY

Organized by: Sahitya Sanchay Shodh Samvad Foundation, Delhi, India

In Collaboration with:

Special Issue: October 2026 (Part-2)

Cultural Relations between India and Bhutan

ISSN : 3048-4537 (Online)
3049-2327 (Print)
IIFS Impact Factor - 6.125

ज्ञानवानेन सुखवान् ज्ञानवानेव जीवति।
ज्ञानवानेव बलवान् तस्मात् ज्ञानमयो भव।।

# ज्ञानविविधा
# (GYANVIVIDHA)

सहकर्मी–समीक्षित, मूल्यांकित, बहुविषयक (कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान), बहुभाषिक (सभी भाषा) और त्रैमासिक शोध पत्रिका

A Peer Reviewed, Refereed, Multidisciplinary (Arts, Humanities & Social Science), Multilingual (All Languages) & Quarterly Research Journal



Special Issue Editors

Dr. Kumari Manisha

Dr. Pramod Kumar

Editor in Chief

Dr. Divakar Chaudhary

हिंदी कल्चर सेंटर, जापान

**INTERNATIONAL CONFERENCE ON**

**CULTURAL RELATIONS BETWEEN INDIA AND BHUTAN**

Venue: Royal Thimpu College, Thimpu , Bhutan

**EDUCATION • LITERATURE • CULTURE & SUSTAINABILITY**

Organized by: Sahitya Sanchay Shodh Samvad Foundation, Delhi, India
In Collaboration with:

**Date : 24-25, October, 2026 Venue : Royal Thimphu College , Thimphu, Bhutan**

**ISSN : 3048-4537 (Online)**
**3049-2327 (Print)**
**IIFS Impact Factor - 6.125**

# Special Issue : October, 2026 (Part-2)

ज्ञानविविधा
साहित्य संस्कृति और ज्ञान

ज्ञानवानेन सुखवान् ज्ञानवानेव जीवति।
ज्ञानवानेव बलवान् तस्मात् ज्ञानमयो भव।।

प्रधान संपादक
डॉ० दिवाकर चौधरी

**Special Issue Editor's**
**Dr. Kumari Manisha**
**Dr. Pramod Kumar**

**Website- https://journal.gyanvividha.com**

# Special Issue Editorial Board


**Editor's :**

**Dr. Kumari Manisha**

**Dr. Pramod Kumar**

**Co-Editor's :**

**Dr. Heerendra Gautam**

**Prof. Manju Rani**

**Dr. Pratibha Chauhan**

# पत्रिका संपादक मंडल


1. **प्रधान संपादकः-**
   **डॉ. दिवाकर चौधरी**
   सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, लंगट सिंह महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार.
2. **संयुक्त संपादकः-**
   **डॉ. आरले श्रीकांत लक्ष्मणराव**
   सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, ओड़िशा केंद्रीय विश्वविद्यालय, कोरापुट.
3. **संयुक्त संपादकः-**
   **डॉ. उमेश कुमार शर्मा**
   सहा. प्राध्यापक सह अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, श्री राधा कृष्ण गोयनका महाविद्यालय, सीतामढ़ी, बिहार.
4. **डॉ. गुलाब सिंह**
   सहायक प्राध्यापक सह अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, राम सकल सिंह साइंस महाविद्यालय, सीतामढ़ी, बिहार.
5. **डॉ. कृष्ण कुमार झा**
   वरिष्ठ व्याख्याता, महात्मा गांधी संस्थान, मोका, मॉरीशस/ अध्यक्ष, भाषा संसाधान केंद्र, महात्मा गांधी संस्थान, मोका, मॉरीशस.
6. **डॉ. विवेक मणि त्रिपाठी**
   असोसिएट प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग क्वाङ्गतोंग विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, चीन.
7. **डॉ. लुभवानी त्रिपाठी**
   एसो. प्रोफेसर,शिक्षा विभाग, कलिंगा विवि, इंदौर
8. **डॉ. अजित सिंह तोमर**
   सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार, उत्तराखंड.
9. **श्रीमती कंचन कुमारी**
   सहा. प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, श्री राधा कृष्ण गोयनका महाविद्यालय, सीतामढ़ी, बिहार.
10. **डॉ. रामचन्द्र रजक**
    सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, भारतीय भाषा विभाग, दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गयाजी, बिहार.
11. **डॉ. अजीता प्रियदर्शनी**
    सहा. प्राध्यापक, हिन्दी विभाग रमेश झा महिला कॉलेज, सहरसा.
12. **डॉ. ऋषिका वर्मा**
    सहायक आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग, हेमवती नन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय, एक केंद्रीय विश्वविद्यालय,श्रीनगर, गढ़वाल, उत्तराखंड.
13. **डॉ. चन्दीर पासवान**
    सहा. प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह महा., मधुबनी, बिहार.
14. **डॉ. कृष्ण कुमार शर्मा**
    सहायक आचार्य, भाषा विभाग, क्राइस्ट विश्वविद्यालय, बेंगलोर, कर्नाटक.
15. **डॉ. सुरेंदर**
    सहा. प्राध्यापक, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़.
16. **डॉ. सुरेन्द्र शर्मा**
    सहा. प्राध्यापक, पत्रकारिता एवं जनसंचार, राजकीय महाविद्यालय, गुड़गांव.
17. **डॉ. सरिता कुमारी**
    सहा. प्राध्यापक, गृह विज्ञान विभाग, एमडीडीएम कॉलेज, मुजफ्फरपुर, बिहार.
18. **डॉ. अभय कुमार**
    सहा. प्राध्यापक, मैथिली विभाग रमेश झा महिला कॉलेज, सहरसा.
19. **डॉ. अर्पणा कुमारी**
    सहा. प्राध्यापक सह अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, राम सकल सिंह महिला महाविद्यालय, सीतामढ़ी, बिहार.
20. **डॉ. शशिकांत पांडेय**
    सहा. प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग लंगट सिंह महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार.
21. **डॉ. राजेश्वर कुमार**
    सह प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, नालंदा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, राजगीर, बिहार.
22. **डॉ. राधा कुमारी**
    सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, लंगट सिंह महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार.
23. **डॉ. मिहिर डे**
    सहा. प्राध्या., राजनीति विज्ञान विभाग, सुशील कर कॉलेज, चंपाहाटी, दक्षिण 24 पीजीएस, प. बंगाल.
24. **डॉ. राकेश कुमार**
    सहा. प्रा. सह अध्यक्ष, इतिहास विभाग, श्री राधा कृष्ण गोयनका महाविद्यालय, सीतामढ़ी, बिहार.
25. **डॉ. आभा रानी**
    सहा. प्राध्यापक, गृह विज्ञान विभाग, एल.एन.टी कॉलेज, मुजफ्फरपुर, बिहार.

**26. डॉ. अनुपमा वर्मा**
सहा. प्राध्यापक, शिक्षा विभाग,
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर शिक्षा महाविद्यालय, केशव विद्यापीठ, जामडोली, जयपुर, राजस्थान.

**27. डॉ. रणबीर कुमार**
सहा. प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग, एम. एल. एस. एम. महाविद्यालय, दरभंगा, बिहार.

**28. डॉ. रानी कुमारी**
सहा. प्रा. सह अध्यक्ष, मनोविज्ञान विभाग, श्री राधा कृष्ण गोयनका महाविद्यालय, सीतामढ़ी, बिहार.

**29. डॉ. ज्योति सुल्तानिया**
सहा. प्रा. सह अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, श्री राधा कृष्ण गोयनका महाविद्यालय, सीतामढ़ी, बिहार.

**30. डॉ. रमण कुमार ठाकुर**
सहा. प्राध्यापक -अर्थशास्त्र विभाग, श्री राधा कृष्ण गोयनका महाविद्यालय, सीतामढ़ी, बिहार.

**31. डॉ. मिथिलेश कुमार मांझी**
सहा. प्रा., अंग्रेजी विभाग, श्री राधा कृष्ण गोयनका महाविद्यालय, सीतामढ़ी, बिहार.

**32. डॉ. कैलास डी. सलाडे**
सहा. प्रा., मराठी विभाग, एमवीपी समाज केआरटी कला, वाणिज्य और विज्ञान महाविद्यालय, महाराष्ट्र

**33. डॉ. माला कुमारी**
सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान, रास नारायण कॉलेज, पंडौल, मधुबनी, बिहार.

**34. डॉ. चन्दा कुमारी**
सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग,
एम. आर. एम. कॉलेज, दरभंगा.

**35. Dr. Annapurna Gupta**
Senior Asst. Prof., Department of Psychology, Sardar Vallabhbhai Patel College, Bhabua, Kaimur. A constituent unit of Veer Kunwar Singh Uni., Ara, Bihar.

**36. तुलसी कुमारी**
सहा. प्रा. (अतिथि), इतिहास विभाग, श्री राधाकृष्ण गोयनका महाविद्यालय सीतामढ़ी, बिहार.

**37. फतेहचन्द चौहान**
सहायक आचार्य-संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, खाजूवाला, बीकानेर.

**38. डॉ. पुष्पा कुमारी**
वरीय सहायक प्राध्यापक, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, सुंदरवती महिला महाविद्यालय, भागलपुर, (तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर) बिहार.

**39. Md. Ruhul Amin**
Professor, Dept. of Public Administration
Comilla University, Cumilla, Bangladesh.

**40. DR. E.G. WAJIRA GUNASENA**
SENIOR LECTURER (I) IN HINDI,
Department of Languages, Cultural Studies and Performing Arts, University of Sri Jayawardenepura, Nugegoda, Sri Lanka

**41. Dr. Samanthika Lokugamage**
Senior Lecturer, Department of Languages, Cultural Studies & Performing Arts, Uni. of Sri Jayewardenepura Sri Lanka.

**42. डॉ. श्वेता दीप्ति**
अध्यक्ष, हिन्दी केन्द्रीय विभाग,
त्रिभुवन विश्वविद्यालय, काठमांडू, नेपाल.

**परामर्श और शोध पत्र पर्यवेक्षक मंडल :**

**1. डॉ. सतीश कुमार राय**
प्राध्यापक, विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग,
पूर्व संकायाध्यक्ष- मानविकी, बी.आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार.

**2. डॉ. श्याम राव राठौड़**
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, अंग्रेजी और विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, हैदराबाद.

**3. डॉ. एस. आर. जयश्री**
प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष-हिन्दी विभाग,
केरल विश्वविद्यालय, तिरुअनन्तपुरम.

**4. डॉ. कल्याण कुमार झा**
प्राध्यापक, विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग, बी. आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार

**5. डॉ. दशरथ प्रजापति**
प्राध्यापक एवं परीक्षा नियंत्रक, मौलाना मजहरूल हक अरबी फारसी विश्वविद्यालय, पटना, बिहार.

**6. डॉ. निभा शर्मा**
प्राध्यापक, विवि स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, बी. आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार.

**7. प्रो. डॉ. सूर्यभान प्रसाद**
प्राध्यापक एवं पूर्व अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी.

**नोट :-** पत्रिका से संबंधित सभी पद अवैतनिक और परिवर्तनीय हैं।

## विशेषांक अस्वीकरण :

1. 'ज्ञानविविधा' शोधपत्रिका के इस विशेषांक में प्रकाशित शोधपत्र में प्रस्तुत दृष्टिकोण, सिद्धांत एवं विचारों से संपादक एवं प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। सम्बंधित किसी भी विवाद के लिए प्रकाशक/ संपादक जिम्मेवार नहीं होंगे। ये शोधार्थी द्वारा प्रदत्त/अभिव्यक्त हैं, अतः इस हेतु शोधार्थी स्वयं जिम्मेवार होंगे।
2. इस विशेषांक में प्रकाशित शोधपत्र से संबंधित या अन्य किसी विवाद की स्थिति में शिकायत हेतु इस विशेषांक के संपादक/ संपादक/संपादक मंडल से संपर्क किया जा सकता है।
3. इस विशेषांक में प्रकाशित शोधपत्र के चयन, प्रकाशन, समीक्षा या किसी भी शोधपत्र में निहित 'साहित्यिक चोरी' **(Plagiarism)** हेतु प्राथमिक जिम्मेवारी इस विशेषांक के संपादक/ संपादक/संपादक मंडल की है।
4. इस विशेषांक से संबंधित किसी आयोजन, समिति, संस्थान या किसी अन्य गतिविधि से इस पत्रिका या इसके प्रकाशक/प्रधान संपादक/संपादक मंडल का कोई सरोकार नहीं है। इस पत्रिका और इससे संबद्ध व्यक्तियों की भूमिका इस विशेषांक के संपादक/ संपादक/संपादक मंडल द्वारा प्रदत्त शोधपत्रों के प्रकाशन तक सिमित है।
5. इस विशेषांक में प्रकाशित शोधपत्र में या अन्य संबंधित/आवश्यक संशोधन सिर्फ इस विशेषांक के संपादक/ संपादक/संपादक मंडल द्वारा लिखित अनुरोध के आलोक में ही किया जा सकता है।

## सामान्य अस्वीकरण :

1. 'ज्ञानविविधा' शोधपत्रिका में प्रकाशित शोधपत्र में प्रस्तुत दृष्टिकोण, सिद्धांत एवं विचारों से संपादक एवं प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। सम्बंधित किसी भी विवाद के लिए प्रकाशक/ संपादक जिम्मेवार नहीं होंगे। ये शोधार्थी द्वारा प्रदत्त/अभिव्यक्त हैं, अतः इस हेतु शोधार्थी स्वयं जिम्मेवार होंगे।
2. 'ज्ञानविविधा' शोधपत्रिका से संबंधित सभी पद अवैतनिक हैं। संपादक की सहमति से किसी भी नाम या पद को बदला जा सकता है।
3. 'ज्ञानविविधा' शोधपत्रिका में प्रकाशित किसी भी शोधपत्र हेतु किसी विश्वविद्यालय/ संस्थान की स्वीकृति/अस्वीकृति के सम्बन्ध में संपादक/ प्रकाशक की कोई जिम्मेवारी नहीं होगी।
4. 'ज्ञानविविधा' शोधपत्रिका में प्रकाशन हेतु प्राप्त किसी शोधपत्र के प्रकाशित/अप्रकाशित करने का सारा अधिकार संपादक के पास सुरक्षित है।
5. किसी भी शोधपत्र में निहित 'साहित्यिक चोरी' **(Plagiarism)** के लिए रचनाकार स्वयं जिम्मेदार होंगे। इसलिए प्रकाशन हेतु आलेख भेजने से पूर्व 'साहित्यिक चोरी' **(Plagiarism)** की जाँच कर लें।
6. 'ज्ञानविविधा' शोधपत्रिका के प्रकाशन का उद्देश्य विशुद्ध शैक्षिक और अव्यावसायिक है, इसलिए सामान्यतः शोधपत्रिका से संबंधित किसी विवाद की स्थिति उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। किसी भी तरह की शिकायत हेतु संपादक से संपर्क किया जा सकता है, फिर भी क़ानूनी विवाद की स्थिति में न्यायालय क्षेत्र सीतामढ़ी, बिहार होगा।
7. 'ज्ञानविविधा' शोधपत्रिका शोधार्थियों और संकाय सदस्यों को न्यूनतम लागत मूल्य पर आलेख प्रकाशित करने की सुविधा प्रदान करने हेतु प्रतिबद्ध है, अतः इस शोधपत्रिका में प्रकाशित सभी आलेख मुद्रित नहीं किये जाते हैं। सिर्फ लेखकों के अनुरोध और आवश्यकतानुसार क्रम संख्या-1 से वहीँ तक के आलेख मुद्रित (Print) कर भेजे जाते हैं, जिस क्रम संख्या तक के लेखक मुद्रित प्रति लेने का अनुरोध करते हैं।
8. 'ज्ञानविविधा' शोधपत्रिका को ऑनलाइन (Online) और प्रिंट (Print) दोनों ही ISSN प्राप्त हैं। ISSN के नियमानुसार ऑनलाइन ISSN प्राप्त शोधपत्रिका में सिर्फ ऑनलाइन माध्यम से प्रकाशित आलेख भी मान्य होते हैं।

**संपादन संपर्क/पत्राचार का पता :-**

VILL+POST-KATHAUR,PS-PARSAUNI,DIST-SITAMARHI, BIHAR, PIN-843325.

Email : gyanvividhajournal@gmail.com

Website : www.journal.gyanvividha.com

Mobile/ Whatsapp : 9835407563

**©श्रीमती अनुभा चौधरी**

## संपादकीय

## भारत एवं भूटान : संस्कृति, मैत्री और साझा विरासत

भारत और भूटान के संबंध केवल दो पड़ोसी देशों के संबंध नहीं हैं, बल्कि ये सदियों से विकसित विश्वास, आत्मीयता, सांस्कृतिक निकटता और आध्यात्मिक चेतना के संबंध हैं। हिमालय की पर्वत-श्रृंखलाओं से जुड़ी दोनों देशों की भौगोलिक निकटता ने उनके सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को भी एक-दूसरे के करीब लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। समय के साथ इन संबंधों ने राजनीतिक, आर्थिक और कूटनीतिक सहयोग के साथ-साथ जनमानस के स्तर पर भी अपनी गहरी पहचान बनाई है। वहीं बौद्ध दर्शन दोनों देशों की साझा सांस्कृतिक विरासत का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। भगवान बुद्ध के शांति, करुणा, अहिंसा, सद्भाव, संयम, मानसिक शुद्धि आदि के संदेश ने दोनों देशों के जीवन-मूल्यों को समृद्ध किया है। गुरु पद्मसंभव की परंपरा, धार्मिक आस्थाएँ, लोकजीवन और प्रकृति के प्रति सम्मान इस सांस्कृतिक निकटता को और गहरा बनाते हैं। भूटान की प्रकृति-केंद्रित जीवन-दृष्टि और भारत की विविधतापूर्ण सांस्कृतिक परंपरा में मानवीय संवेदना तथा संतुलित जीवन की साझा आकांक्षा दिखाई देती है। इसलिए भारत-भूटान मैत्री को केवल कूटनीतिक संबंधों तक सीमित करके नहीं देखा जा सकता, बल्कि इसकी वास्तविक शक्ति दोनों देशों के लोगों के आत्मीयता संबंधों में निहित है।

साहित्य और शिक्षा किसी भी समाज की चेतना को समझने तथा संस्कृतियों के बीच संवाद स्थापित करने के प्रभावी माध्यम हैं। बौद्ध साहित्य, रामकथा, लोककथाएँ, संगीत, नृत्य और पारंपरिक कलाएँ भारत एवं भूटान की सांस्कृतिक निकटता को अभिव्यक्त करती हैं। अनुवाद, शोध, शैक्षणिक आदान-प्रदान और साहित्यिक संवाद के माध्यम से दोनों देशों की भाषाओं, परंपराओं और जीवन-दृष्टियों को एक-दूसरे के और निकट लाया जा सकता है। इससे न केवल सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण होगा, बल्कि नई पीढ़ी भी अपने साझा मूल्यों और पड़ोसी देश की विशिष्टताओं से परिचित हो सकेगी।

इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए साहित्य संचय शोध संवाद फाउंडेशन, दिल्ली द्वारा रॉयल थिम्पू कॉलेज, भूटान में आयोजित सम्मेलन के संदर्भ में प्रस्तुत यह विशेषांक विशेष महत्त्व रखता है। इसमें भारत एवं भूटान के सांस्कृतिक संबंधों के विविध पक्षों पर विचार करने के साथ-साथ इतिहास, समाज, साहित्य, शिक्षा और समकालीन चुनौतियों से जुड़े प्रश्नों को भी स्थान दिया गया है। विशेषांक के आलेख दोनों देशों की ऐतिहासिक मैत्री, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, बौद्ध परंपरा, लोकजीवन और पारंपरिक ज्ञान की पड़ताल करते हैं। इनके माध्यम से यह समझने का अवसर मिलता है कि सांस्कृतिक संबंध किस प्रकार समाजों को जोड़ते हैं और पारस्परिक समझ को मजबूत बनाते हैं।

इस विशेषांक की एक महत्वपूर्ण विशेषता इसकी विषयगत विविधता है। भारत-भूटान संबंधों के मुख्य विषय के साथ साहित्य में गांधीवादी मूल्यों, दलित एवं आदिवासी विमर्श, स्त्री-अस्तित्व, लोकसाहित्य, भारतीय ज्ञान-परंपरा और बदलते सामाजिक जीवन जैसे विषयों पर भी आलेख शामिल हैं। शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 और उच्च शिक्षा में कृत्रिम बुद्धिमत्ता की भूमिका पर विचार किया गया है। इसी प्रकार संगीत, नृत्य, चित्रकला, लोककलाओं, प्रकृति-चेतना, पर्यावरण संरक्षण और सतत विकास से संबंधित आलेख इस अंक की व्यापक दृष्टि को सामने लाते हैं। ये विविध विषय परस्पर अलग दिखाई देने पर भी मानवीय जीवन, सांस्कृतिक स्मृति और समाज के भविष्य से जुड़े हुए हैं।

आज जब वैश्वीकरण, तकनीकी परिवर्तन और पर्यावरणीय संकट पूरी दुनिया के सामने नई चुनौतियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, तब भारत और भूटान के बीच सांस्कृतिक सहयोग का महत्त्व और बढ़ जाता है। दोनों देशों को शैक्षणिक संस्थानों के बीच सहयोग, संयुक्त शोध, साहित्यिक अनुवाद, युवा संवाद तथा प्रकृति और सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण जैसे क्षेत्रों में मिलकर कार्य करना चाहिए। ऐसे प्रयासों से भारत-भूटान के मैत्रीपूर्ण संबंध औपचारिक दायरे से आगे बढ़कर जनमानस में और गहरे और आत्मीय बन सकते हैं।

फलस्वरूप इस विशेषांक के प्रकाशन में अपना ज्ञान, अनुभव, चिंतन और रचनात्मक योगदान देने वाले सभी विद्वानों, लेखकों एवं शोधकर्ताओं के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। उनके विविध आलेखों ने इस अंक को विचारों की व्यापकता और विषयों की समृद्धि प्रदान की है। सम्मेलन के आयोजन से जुड़े सभी सहयोगियों तथा इस प्रयास को सफल बनाने में योगदान देने वाले प्रत्येक व्यक्ति के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। साथ ही आशा है कि यह विशेषांक भारत और भूटान के सांस्कृतिक संबंधों को समझने, साझा विरासत के प्रति सम्मान बढ़ाने तथा दोनों देशों के बीच साहित्यिक, शैक्षणिक और मानवीय संवाद को नई दिशा देने में उपयोगी सिद्ध होगा। हमारी साझा संस्कृति का दायित्व है कि वह विविधताओं का सम्मान करते हुए आपसी सद्भाव और आत्मीयता को जीवंत बनाए रखे। अतः यह विशेषांक भारत-भूटान के सौहार्दपूर्ण संबंधों, साझा सांस्कृतिक विरासत और सुनहरे भविष्य की आकांक्षा को समर्पित है।

**डॉ. प्रमोद कुमार**
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
सरिया कॉलेज, सरिया, गिरीडीह (झारखण्ड)

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान विषयों की अंतर्राष्ट्रीय सहकर्मी समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध-पत्रिका

# अनुक्रमणिका


| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | आधुनिक हिंदी कथा साहित्य में गांधीवाद मूल्यों का प्रभाव | डॉ. अंटोनी ऑलिवर | 01-04 |
| 2. | अंगामी लोककथाओं में अभिव्यक्त संस्कृति एवं समाज | मासीलेन्यो विज़ो | 05-09 |
| 3. | राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 : विकास के नए क्षितिज | डॉ. संजीव कुमार विश्वकर्मा | 10-13 |
| 4. | भारतीय संस्कृति के आलोक में दिनकर के साहित्य की पुनर्विवेचना | डॉ. अंजु कुमारी | 14-16 |
| 5. | उषा यादव के कहानी-संग्रह 'चाँदी की हँसली' में जीवनमूल्य और बदलते सामाजिक-संदर्भ | गुंजन | 17-20 |
| 6. | संस्कृत साहित्य एवं प्रकृति | डॉ. भारती | 21-23 |
| 7. | पंडित रविशंकर के वाद्यवृंद-सृजन का विश्लेषणात्मक अध्ययन | मीना कुमारी | 24-29 |
| 8. | संगीत, साहित्य और संस्कृति के माध्यम से प्रकृति-चेतना : समकालीन शिक्षा के संदर्भ में एक विमर्श | डॉ. ज्योति विश्वकर्मा | 30-33 |
| 9. | रामरंग संगीत रामायण एवं रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन : नारद मोह प्रसंग के विशेष संदर्भ में | डॉ. रामशंकर | 34-38 |
| 10. | श्रीकांत वर्मा का समग्र लेखन : साहित्य, संस्कृति, इतिहास-बोध एवं समकालीन चेतना के संदर्भ में | अमित कुमार जायसवाल | 39-43 |
| 11. | ओडिसी संगीत : भारतीय शास्त्रीय संगीत की प्राचीन एवं समृद्ध परंपरा | बागेश्वरी बेहेरा | 44-49 |
| 12. | मानव जीवन और कला : एक अंत:सम्बंध | कृष्ण कुमार तिवारी | 50-54 |
| 13. | भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा के पहलू - एक अभ्यास | प्रोफेसर डॉ. चंद्रकांत बन्सीधर भांगे | 55-58 |
| 14. | भारतीय ज्ञानपरंपरा में लोक साहित्य : ज्ञान, संस्कृति और स्मृति का विमर्श | डॉ. बिहारी लाल द्विवेदी | 59-62 |
| 15. | हिंदी साहित्य में नवाचार : परंपरा से आधुनिकता तक | डॉ. विष्णु देव सिंह मलिक | 63-67 |
| 16. | सतत विकास की अवधारणा : संत साहित्य के सन्दर्भ में | डॉ. नवनीत कौर | 68-72 |
| 17. | नाद से आत्मानुभूति तक : "संगीतरत्नाकर" के आलोक में संगीत एवं दर्शन का अन्तर्संबंध | डॉ. शुचि उपाध्याय | 73-76 |
| 18. | ऑनलाइन संगीत शिक्षण : सम्भावनायें और सीमायें | डॉ. वेणु वनिता | 77-80 |
| 19. | विभाजन पर आधारित सिंधी लघु कहानियों में सामाजिक सौहार्द और पारिवारिक जीवन | दमा राम | 81-85 |
| 20. | INDIAN DANCE LITERATURE : A GATEWAY TO ORAL HERITAGE | Dr. Ami Pandya | 86-90 |
| 21. | संजीव के उपन्यासों में अभिव्यक्त दलित जीवन | हिमानी | 91-95 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| 22. | ग्रामीण स्वास्थ्य एवं पर्यावरण : सतत विकास के संदर्भ में एक समग्र विवेचनात्मक अध्ययन | नीरज कश्यप | 96-101 |
| 23. | भारतीय साहित्य और सांस्कृतिक परंपरा | वजीर सुलताना खाजा खान पठाण | 102-105 |
| 24. | हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श | डॉ. प्रियंका रानी | 106-109 |
| 25. | भारतीय चित्रकला की वैश्विक पहचान | डॉ. रीजा. आर. एस | 110-113 |
| 26. | ख़्याल गायकी की संरचना में निहित सौंदर्यतत्व | तेजस्विनि दिगम्बर वेर्णेकर | 114-118 |
| 27. | झारखंड नगर निकाय चुनाव में महिला सशक्तिकरण व चुनौतियाँ | डॉ. अरुण कुमार | 119-124 |
| 28. | Roots and Rhymes : Nature as Cultural Memory in Literature | Anju kamlesh | 125-128 |
| 29. | IPR and Cultural Sustainability : Protecting Indian Classical Musicians in the Digital Era | Dr. Bhanupratap Sahoo | 129-133 |
| 30. | Sacred Masks and Embodied Narratives : A Comparative Study of Bhutanese Cham and Indian Chhau Dance | Dr. Divya Jayantibhai Patel | 134-139 |
| 31. | National Education Policy 2020 : Features and Pattern for Better Future | Dr. Ekta Gupta | 140-143 |
| 32. | The Role and Significance of Svara Samūha in Hindustānī Classical Music : A Study of Rāga Formation, Rāgāṅga Classification, Aesthetics and Elaboration | Ishan Ghosh | 144-148 |
| 33. | काशी की संगीत परम्परा में युगल गायकों का अमूल्य योगदान | आराधना विश्वकर्मा | 149-153 |
| 34. | सुदर्शन प्रियदर्शिनी की कहानी - संग्रहों में पितृसत्तात्मक मानसिकता और पुरुष उच्छृंखलता का चित्रण | खुशी वशिष्ठ | 154-156 |
| 35. | अहिंसा और सत्य का विश्लेष्णात्मक अध्ययन (महात्मा गांधी के विशेष संदर्भ में) | डॉ. रेनू चौधरी | 157-160 |
| 36. | साहित्य : स्वरूप, संवेदना और समकालीन प्रासंगिकता — एक आलोचनात्मक अध्ययन | डॉ. साकेत कुमार पाठक | 161-166 |
| 37. | लोक संगीत में प्रकृति-बोध और सांस्कृतिक चेतना | डॉ. श्रेया पाण्डेय | 167-170 |
| 38. | हिंदी और संस्कृत साहित्य के छंद : ऐतिहासिक विकास, लयात्मक संरचना और संगीतात्मक पुनर्संगठन का सिद्धांत | डॉ. श्याम रस्तोगी | 171-177 |
| 39. | भारतीय परंपरा और संस्कृति में लोक जीवन | डॉ. ओम प्रकाश दास | 178-182 |
| 40. | भूमंडलोत्तर यथार्थ और हिन्दी कथा साहित्य में बदलता जीवन | कल्याणी शर्मा | 183-187 |
| 41. | ओमप्रकाश वाल्मीकि : दलित चेतना के सशक्त साहित्यकार | दीपक कुमार चौधरी | 188-192 |
| 42. | भारतीय संस्कृति में प्रकृति प्रेम | डॉ. रघुनंदन हजाम | 193-197 |
| 43. | उपशास्त्रीय गायन शैली : ठुमरी गायन शैली | डॉ. अपर्णा शुक्ला | 198-201 |
| 44. | मेहरुन्निसा परवेज़ की 'आँखों की दहलीज़' : स्त्री-अस्तित्व का मनोवैज्ञानिक अध्ययन | डॉ. बिन्दु टी आर | 202-207 |
| 45. | वैश्वीकृत समाज में भारतीय ज्ञान परम्परा के मूल्यों का महत्त्व | डॉ. मंजू कुमारी | 208-211 |
| 46. | भारतीय संत परम्परा और दादूदयाल की भक्ति भावना | प्रो. (डॉ.) राजमोहिनी सागर | 212-218 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| 47. | भारतीय संगीत परंपरा में धार्मिक एवं सांस्कृतिक समन्वय : सांस्कृतिक एकात्मता के संदर्भ में एक परिशीलन | डॉ. रितु सिंह | 219-221 |
| 48. | When Music Met the Microphone : Technological Reconfiguration of Sound Structure, Performance Practice and Aesthetic Perception in Indian Classical Music | Prof. (Dr.) Sangeeta Singh | 222-232 |
| 49. | नई शिक्षा नीति 2020 के संदर्भ में भारतीय ज्ञान प्रणाली | डॉ. तनुजा रश्मि | 233-237 |
| 50. | रह गईं दिशाएं इसी पार उपन्यास में अभिव्यक्त पूंजी और विज्ञान के गठजोड़ की पड़ताल | डॉ. माया गोला | 238-243 |
| 51. | शिक्षा, साहित्य, संस्कृति और पर्यावरण की वैश्विक चुनौतियां और संभावनाएं | डॉ. संतोष कुमार सिंह | 244-248 |
| 52. | बिहार एवं झारखंड में मानव संसाधन विकास और सतत विकास की संभावनाएँ एवं चुनौतियाँ : एक भौगोलिक अध्ययन | डॉ. शिलेश मोहन | 249-255 |
| 53. | माया गोला की कविताओं में स्त्री चेतना | अशोक कुमार | 256-259 |
| 54. | सकल राष्ट्रीय प्रसन्नता (GNH) एवं भारतीय ज्ञान परंपरा : शिक्षा, संस्कृति और पर्यावरण संरक्षण का एकीकृत मॉडल | डॉ. अमित शिवाजी चिंगली | 260-264 |

ज्ञानविविधा
कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 01-04
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. अंटोनी ऑलिवर**

हिंदी विभाग अध्यक्ष एवं आचार्य, संत जोसफ वाणिज्य महाविद्यालय (स्वायत्त), बंगलौर, कर्नाटक, भारत

Corresponding Author :

**डॉ. अंटोनी ऑलिवर**

हिंदी विभाग अध्यक्ष एवं आचार्य, संत जोसफ वाणिज्य महाविद्यालय (स्वायत्त), बंगलौर, कर्नाटक, भारत

## आधुनिक हिंदी कथा साहित्य में गांधीवाद मूल्यों का प्रभाव

**भूमिका :** हिंदी कथा साहित्य में गांधीवाद का उद्गम प्रेमचंद युग से दृग्गोचर होने लगता है। राष्ट्र पिता गांधीजी के समग्र विचार, आदर्श और दर्शन को समाहित करने वाले भावजगत गांधीवाद कहलाता है। इस में अहिंसा - सत्य जैसे मूल्य परमोधार्य जान पड़ते हैं। प्रमुखतः व्यक्ति एवं उससे समाज के उत्थान और विकास पर बल दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के समीचीन ज्ञान संग्रह - कौशल विकसन पर भी प्रकाश डालता है (**सर्वोदय से अन्त्योदय तक**)। हिंदी साहित्यकारों ने विशेषतः गांधीजी के मूल आदर्श सत्य, अहिंसा, नैतिकता, कर्मवाद, आस्था, देशप्रेम, स्वदेशी अपनाओ आदि विचारों को गूंथकर पाठकों को उत्प्रेरित करने का प्रयास किया। समय सापेक्ष की आवाश्यक्ताओं के अनुरूप, हिंदी साहित्य में गांधीवाद के विचार कथा -काव्य लोक में अनायास ही उभरने लगे थे। प्रेमचंद के **बड़े घर की बेटी** में सहनशीलता, स्त्री बौधिकता, नारी चेतना, सदाशयता आदि का प्रतिपादन हुआ है तो **होली के उपहार** में सुखदा के चरित्र से स्त्री की समता ममता का बल, देशप्रेम एवं स्वदेशी अपनाओ वाली भावना कथा में यत्र -तत्र -सर्वत्र देखने को मिलती है। जैनेन्द्र कुमार के कथा साहित्य में जीवन के नितांत स्वाभाविक यथार्थ को, धर्मशीलता को **वातायान** और **तत्सत** जैसे पाठों में देख पाते हैं। प्रसाद के **आकाश दीप**, **प्रतिध्वनि**, विश्वम्भर नाथ कौशिक के **ताई**, विष्णु प्रभाकर के **आखिर क्यों, धरती अब भी घूम रही है,** गंगा प्रदाद के नारिह्रदय में गांधीवादी विचार आभास कर सकते हैं। स्वतंत्र प्राप्त भारत की स्थिति-गति, पूरा नक्शा कुछ और बदलने लगे। नए भारत की परस्थिति के अनुसार, अब साहित्यकार गांधीवाद विचारों को समयानुसार नए मूल्य वाले चरित्रों की सृष्टी करने लगे। **चौथे दशक** से **सातवे दशक** तक के कहानी जगत की केंद्र बिंदु समाज उद्धार और व्यक्ति कल्याण पर स्थिर रही। स्वतन्त्रता प्राप्त भारत की दुदर्शा अत्यंत गंभीर रही। भारत देश विश्वयुद्धद्वे की विभीषिका को सहकर अपने में आर्थिक विपन्नता, समाज की दरिद्रता, विभाजन की त्रासदी, धर्म जाति

मतभेद, बेरोजगारी की बढ़ती संख्या, बाढ़ और दुर्भिक्ष के प्राकृतिक कोप का तांडव इत्यादी समस्यायों से जूझ रहा था। अब इसी ओर कहांनी का उददेश्य भी बदलने लगा था। साहित्यकार अब समाज उतथान को मध्य बिंदु बनाकर, कथा की सृष्टि करने लगे जिसमे मानव मूल्यों को प्राधान्यता देकर, संवेदनाओं को उजाग्रत करने केलिए नए भू -जगत के अन्वेषण करने लगे थे।

**विषय प्रवेश :** गांधीवाद के बारे में ध्यान पूर्वक परिशीलन करने पर ज्ञात होता है कि गांधी द्वारा स्वयं अनुपालित उन मूल्यों का क्रम जिसे एक साधारण मनुष्य अपने जीवन को आदर्शमाय बनाने केलिए अपना सकता है, गांधी ने उन्ही मूल्यों पर विश्वास किया जिन्हें वे स्वयं प्रयोग कर, अपनी निजी जीवन में परिपालन कर, व्यक्तिगत विकास प्राप्त किये। उनके अनुसार वे संसार को कुछ नया विचार या नयी खोज नहीं देना चाह रहे थे। सत्य, अहिंसा तो प्राचीन भारत का धरोहर रहा। उनके अनुसार व्यक्ति इन मूल्यों को परिपालन कर, आध्यात्मिक उन्नत की पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। **आप भला तो जग भला** वाली उक्ति को सार्थक बनाने वाले ये आदर्श मूल्य, समाज कल्याण केलिए आवश्यक तत्व माने गए। जब समाज में प्रत्येक व्यक्ति योग्य हो तो समाज अपने आप योग्य बन जाता है। इनके यही समर्पण भाव, सेवार्थ भावना, त्याग, आस्था आदि विचार के पालन से एक समुदाय अपने में उन्नत बन जाता है। यही विचार एक समाज को रामराजय में परिवर्तित करने का श्री मन्त्र सिद्ध हो जाता है। वैचारिक पक्ष के अधीन में, गांधीजी के उन सारे विचार सिद्धांत निहित हैं जिनके प्रायोगिक व व्यवहारिक पक्ष की महता अपने में बढ जाती है।

गांधीवाद विचार के प्रमुख स्तंभ हैं -

1 **अहिंसा :** न मात्र मन से, वरन कर्म वचन, कार्य में अहिंसा का परिपालन - यह भाव कदाचित कायरता या दुर्बलता का द्योतक नहीं समझना चाहिए ।

2 **हृदय परिवर्तन : पाप से द्वेष करो, पापी से नहीं**। हृदय परिवर्तित एक पापी मनुष्य उतना ही सम्मान्य है जितना एक पुन्यवान हो। इस दिशा में हम सभी के अल्पतम प्रयास भी अत्यंत सराहनीय होगा।

3 **सत्याग्रह :** सत्य का आग्रह लेकर सम्पूर्ण किया हुआ प्रत्येक कार्य स्तुत्य है, इसमें स्वयं को कष्ट में डालकर प्रतिपक्षी को सत्य के पथ पर लाना संसुस्त्य कर्तव्य होगा।

4 **स्वालंबन :** अपने कौशल विकसन से स्वयं एवं दूसरों को आत्म सम्मान और स्वालाम्बित बनाना उत्तम है।

5 **ग्रामोद्धार व गोरक्षा :** ग्रामोद्धार और गोरक्षा करना गांधीवाद का प्रमुख सिद्धान्त रहा।

6 **स्वदेशी अपनाओ :** अपने देश में उत्पादित वस्तुओं के प्रयोग से स्वदेश का उतथान करना। हमारे देश में उत्पन्न साधनों का हमसे प्रयोग करना, हमारे देश के आर्थिक विकास का श्रीफल रहेगा।

**7 न्यासिता :** धनि का धन सबके श्रम का परिणाम है। अतएव व्यक्ति और समाज के प्रोन्नयन हेतु न्यासिता एक अत्यंत महत्वपूर्ण मूल्य है।

8 **समता -ममता :** समाज में प्रत्येक धर्मावलम्बी एवं भाषानुयाई सम हैं, देश एक है -जात- पात, रंग आधृत भेद इत्यादि को निर्मूल करना अत्यावशयक है

**9 अस्पृश्य निवारण :** समाज के प्रत्येक वर्ग से प्रेम पूर्ण व्यवहार करना तथा अश्पृश्यता का नितांत विरोध करना गंधिवादिता का प्रमुख लक्ष्य रहा और इसलिए हरिजन का शब्द भी व्यवहृत हुआ।

10 **अन्याय का विरोध :** जहां अन्याय हो वहां डटक़र स्वर बुलंद करना व उसका विरोध करना गांधीवाद का महत्वपूर्ण तत्व है।

स्वतन्त्रता के बाद रची हिंदी कहानियों में गाँधी के आदर्श उसकी कसावट के साथ नहीं दिखता है। समाज के बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में गांधीवाद के विचार भी बदलने लगे थे। समाज के विश्रुखलन के साथ नयी समस्याएं, नयी सोच, नए परिवर्तन आने लगे। इस को केंद्रबिंदु बनाकर साहित्यकार अपनी -अपनी दिशा में दिशान्मुख हुए। समाज के

सामयिक उलझनों के समाधान हेतु, कथाएँ लिखने लगे। कहानियों में यथार्थ झलकने लगी थी। पाठकों के मर्म तक चुभने लगी थी । मार्टिन किंग लूथर ने कहा, "**ईसा के बाद गांधीजी ही एक व्यक्ति रहे जिन्होंने मानवीय प्रेम का प्रसार सशक्त रूप से ईसाई प्रेम के रूप में संसार भर फैलाया**"। गांधीजी के धर्म समन्वयता, हिंदू मुसलमान एकता, हरिजन उद्धार, उपेक्षित वर्ग के प्रोत्नयन, ग्रामोद्धार, नारी सशक्तिकरण, राजनीति में आध्यात्मीकरण आदि इसी सिद्धांत पर आधृत रहे। गाँधीयुग के कथाकार से आज तक विभिन्न साहित्यकारों ने गांधीवाद को अपनी -अपनी रचनाओं में रचा बसाया अवश्य है। परन्तु इसके सम्वेद्नापक्ष भिन्न भिन्न हो सकता था। गांधीवाद के सैन्दान्तिक पक्ष, रचनात्मक पक्ष एवं तथयात्मक पक्ष को इन साहित्यकारों ने पृथक ढंग से पाठकों के समक्ष परोसा था ।रचनात्मक पक्ष में शिक्षा का महत्व, नारी जागृति, स्वभाषा प्रचार, स्वदेशी अपनाना, सर्वधर्म समन्वय भाव आदि को लेकर कहानियां लिखी जाने लगी। सैन्धान्तिक पक्ष में - अहिंसा, सत्याग्रह, ह्रदय परिवर्तन, न्याय्सिता आदि को लेकर कहानियाँ रचाई गयीं। तथ्यात्मक के अंतर्गत राजनीतिक और आर्थिक मूल्य सम्मिलित होते हैं जिनको साहित्यकारों ने अपनी ओर से वाणी दी।

आधुनिक काल में ग्राम से नगर का जीवन प्रमुख होने लगा। महानगरों की जीवन शैली के अपने ही संघर्ष रहे। बड़े -बड़े नगरों में आदमी -आदमी को पहचानता नहीं है। पड़ोस पडोसी को जानता नहीं है। सम्बन्ध मात्र औपचारिक बनते जा रहें हैं। परिवार विघटित होते जा रहें हैं। जीने की होड़ में इंसान मशीनी जीवन जीने लगा है। प्रतिस्पर्धा और घुटन के संत्रस्त जीवन से तंग आने लगा है। अर्थ का बोलबाला यत्र तत्र सर्वत्र दृग्गोचर है । तकनीकी विकास ने अपनी अपनी चुनौतियाँ समाज के समक्ष रखें हैं। मानवीय मूल्यों के ह्रास शनै: शनै: होने लगे हैं । इस कुंठित आधुनिक समाज के जीवन के अभिशाप को आधुनिक कथाकारों ने भली भाँती जानक़र गत्यात्मक शैली में कथा लोक का सृजन करने लगे। भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, अमरकांत, कमलेश्वर, अज्ञेय, फणीश्वर नाथ रेनू, मृदुला गर्ग, उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती,, नासिरा शर्मा, इत्यादि अनेक कहानीकारों ने व्यक्ति विशेष की दशा को यथार्थपूर्ण रूप से मार्मिक वर्णन किया। समसामयिक समाज में हो रहे परिवर्तन को, मूल्य विघटन को, प्रवृत्तियों को उसके कच्चे रूप में दर्शाया जिसके साथ कई अनसुने अंनदेखे अनकहे पहलूओं को भी बड़ी सजगता से पाठकों के समक्ष रखा। कहानी अब संवेदना बोध और भाव शिल्प की दृष्टि से भी अत्यंत सशक्त बनती गयी ।गांधीवाद विचार भी अब इन्ही पथ पर अग्रसर हुआ और आधुनिकताबोध लिए महानगरीय जीवन की गलियों में संप्रसारित होने लगे । यही आधुनिक हिंदी कथा साहित्य का वैचारिक भावभूमि बना और साहित्यकारों को इस दिशा की ओर उन्मुख करने लगा।

**उपसंहार :** निस्संदेह्तः प्रेमचंद, प्रसाद जैसे मूर्धन्य साहित्यकार अब मात्र मनोरंजन के लिए नहीं वरन समाज व् व्यक्ति के कल्याण को केंद्रीकृत करते हुए सटीक बेबाक कथा सार को प्रस्तुत करने की चेष्टा में रहे। इस दिशा में उनके मौलिक सृजन अत्यंत प्रभावशाली और बहुतायित योग देने वाले थे। गांधीवादी विचारों में अपनी कथाओं में समाज कल्याण, व्यक्तिपरक सर्वांगीण विकास हेतु आवश्यक मानवीय प्रेम, समर्पण भाव, सहिष्णुता, अन्याय का विरोध, अहिंसा, समता, ममता, सत्य, देश प्रेम, धार्मिक आस्था आदि प्रामुख्य देने लगे थे । **प्रेमचंद के होली का उपहार, विष्णु जी के अब भी धरती घूम रही है, अमृतलाल नगर के लंगूर का बच्चा, मरघट के कुत्ते, रागे राघव के बाप के दोस्त,, भेरव प्रसाद गुप्त के फंदा, सपने का दांत, नाजिरा शर्मा के सरहद के उस पार आदि अनेक कहानियां अत्यधिक प्रेरणादायीं रहीं हैं।** स्वातंत्रयोत्तर कथाओं की विकासयात्रा सतत एक प्रक्रिया रही है। गांधीवाद बाह्य की अपेक्षा आतंरिक रूप से हमारे भीतर का अनुशासन है। प्रत्येक मनुष्य का उत्तरदायित्व है कि वह कितनी मात्रा में इस अंश को आत्मसात कर पाता है। गांधीजी स्वयं लिखते है "**मैं गत तीस चालीस वर्षों से जो भी पढ़ा लिखा, अनुभव किया, वे सब मेरे आत्मपरीक्षण और आत्मचिंतन का परिणाम है। जिस आतुर भाव से रट लागाये हुए हूँ, वे मेरे आत्म दर्शन का ही कुछ बिंदु है। मेरे सारे काम काज इसी दृष्टि से होते हैं, मेरे राजनीति में कूद पड़ना भी इसी**

**निमित्त है।**

पचास के दशक के बाद हिंदी कहानी भी अपने युगीन चेतना को उसकी समग्र जटिलताओं के साथ चित्रित करने का सम्पूर्ण प्रयास किया गया था। अस्तु ! गांधीजी के साहित्यादर्श निश्चित रूप से आज के साहित्य व समाज के विचारों को एकत्रित कर, वर्तमान युग केलिए प्रासंगिक, सांगत और उपयुक्त बना दिया था। गांधीवाद के विचार उस समय जितना महत्वपूर्ण रहा, उतना ही महत्वपूर्ण आज भी बना हुआ है। गांधीवाद एक ऐसे सिद्धांत है जो समय के बदलते चक्र के साथ- साथ उसे भी हम नए सिरे से समाजकल्याण हेतु अपना सकते हैं। मेरे विचार में गांधीवाद विचार कालजयी है जिसे भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों में सामान रूप से प्रायोगात्मक, प्रयोजनात्मक और प्रासंगिक बने हुए हैं।

**जय भारत, जय भारती।**
**जय हिन्द, जय हिंदी।**

**सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :**

1. मेरी आत्मकथा -महात्मा गाँधी -नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद
2. My experiments with truth -Mahatma Gandhi, Beacon press, Reprint 1993
3. हिंदी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल
4. हिंदी साहित्य का इतिहास -डॉ धीरेन्द्र वर्मा
5. हिंदी साहित्य और गांधीवादी चेतना -डॉ सुशीला गुप्त, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, मुम्बई
6. डॉ अंटोनी ऑलिवर, आचार्य, संत जोसफ वाणिज्य महाविद्यालय (स्वायत्त), बंगलोर

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-05-09

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 05-09
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**मासीलेन्यो विज़ो**

शोधार्थी, हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

Corresponding Author :

**मासीलेन्यो विज़ो**

शोधार्थी, हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

# अंगामी लोककथाओं में अभिव्यक्त संस्कृति एवं समाज

लोक साहित्य की परंपरा मनुष्य जाति जितनी पुरानी है। यह सामान्य जन का साहित्य है, जो मौखिक परंपरा से चला आ रहा है। इसमें मनुष्य के आचार-विचार, व्यवहार, धार्मिक विश्वास, रीति-रिवाज़, प्रेम-भावनाएँ समाहित रहती हैं। लोक साहित्य की रचना जन सामान्य के द्वारा की जाती है। आधुनिक युग में लोक साहित्य को अंग्रेजी में 'फोकलोर' के नाम से जाना जाता है। इसका कोई ज्ञात रचनाकार या रचना काल नहीं होता, यह पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित हुई दंतकथाओं और गीतों आदि का परिणाम है। यह एक स्वतंत्र पक्षी के समान है, जो सांप्रदायिकता को स्थान नहीं देता है। वस्तुतः लोक साहित्य लोक मानस, लोक संस्कृति, लोक चेतना का साहित्य है तथा जीवन के अनुभवों का सत्य है। इसलिए स्वाभाविक, सरल, अनौपचारिक और आडंबर रहित होता है, जिसे हम लोककथा, लोकगीत, लोकगाथा, पहेली, मुहावरे एवं लोकोक्तियों के रूप में देख सकते हैं।

नागालैंड भारत के उत्तर-पूर्व में स्थित है, जिसकी राजधानी कोहिमा है। यहाँ के निवासियों को नागा नाम से जाना जाता है, जो मूल रूप से मैंगोलियन नस्ल के हैं। नागालैंड में अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं, जिसमें से 14 नागा जनजातियों को भारत सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त हैं। अंगामी जनजाति नागालैंड की प्रमुख जनजातियों में से एक है। अंगामी जनजाति की भाषा तेन्यिएदिए है, जो कि तिब्बतो-चाइनीज़ परिवार, तिब्बतो-बर्मन के उप परिवार एवं असम-बर्मिस शाखा की है। अंगामी जनजाति के लोगों को अनेक नामों से जाना जाता है। जहाँ डॉ. जे. एच. हट्टन ने इन्हें 'गंमेई' नाम दिया, जिसका अर्थ मणिपुरी भाषा में 'लोगों के समूह' से है, वहीं माओ नागा ने इन्हें 'नग्मई' नाम से पुकारते हैं, जिसका अर्थ 'उत्कृष्ट' है।[1] अनुन्गला आयीर ने अपनी किताब "स्टडीज ऑन नागा ओरल ट्रेडिशन" में उल्लेख किया कि ज़ेलियन जनजाति के लोग अंगामी के लोगों के लिए 'हंगमई' शब्द का प्रयोग करते थे, जिसका अर्थ 'लुटेरे' है।[2] इन सभी नामों के अतिरिक्त अंगामी जनजाति के लोग एक-दूसरे को

'तेन्यिएमिए' नाम से संबोधित करते हैं, किन्तु 'तेन्यिएमिए' समूह के अंतर्गत सिर्फ अंगामी जनजाति ही नहीं, रेंगमा, ज़ेलियन, छाकेसान, पोछूरी, माओ, मारम और पौमाई आदि जनजातियाँ भी आती हैं।

अंगामी जनजाति की लोककथाएँ विविध विषयों से संबंधित हैं। लोककथाओं में अनेक विश्वासों को देखा जा सकता है। महिलाएँ अंगामी लोककथाओं का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं, जिन्हें विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है। 'मेहोवी और मेरोसा'[3] जैसी लोककथाएँ अंगामी जनजाति के नरमुंड के शिकार के समय की लोकप्रिय लोककथाएँ हैं। जादू-टोना और चालबाजों की कहानियाँ अंगामी लोककथाओं में प्रचुर मात्रा में हैं, जिन्हें अक्सर बच्चों को इकट्ठा करके आग के पास बैठकर सुनाया जाता है। जीववाद भी अंगामी लोककथाओं का एक महत्वपूर्ण बिंदु है। अंगामी लोककथाएँ केवल काल्पनिक किस्से नहीं हैं, बल्कि वे उनके अतीत की ऐतिहासिक और आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। इन कथाओं में ब्रह्मांड की उत्पत्ति, जनजातीय प्रवास, प्रकृति और मानव का अंतर्संबंध, साहसिक युद्ध और सामाजिक नियम आदि गहराई से गुंथे हुए हैं।

'अंगामी नागा समूह का जन्म'[4] तथा 'द लीजेंड ऑफ द मैजिकल स्टोन एट केज़केनो'[5] जैसी लोककथाओं में अंगामी जनजाति के उद्भव से संबंधित कथाएँ प्राप्त होती हैं। दोनों लोककथाओं में कोज़ा नामक व्यक्ति को अंगामी जनजाति के पूर्वज के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कहा जाता है कि कोज़ा और उसके परिवार का प्रारंभिक निवास माखेल में था, जो वर्तमान मणिपुर में स्थित है। बाद में वे वहाँ से प्रवास कर केज़केनो केज़ामी गाँव में आकर बस गए। यहीं उन्होंने अपने वंश का विस्तार किया और उनके तीन पुत्र हुए। इसी गाँव में उन्हें एक ऐसा जादुई पत्थर प्राप्त हुआ, जिसमें किसी भी वस्तु को दो गुना करने की शक्ति थी। तीनों भाई इस पत्थर का बारी-बारी से उपयोग करते थे, किंतु धीरे-धीरे इसी कारण उनके बीच मतभेद उत्पन्न होने लगा। स्थिति बिगड़ती देख कोज़ा और उसकी पत्नी को भय हुआ कि कहीं तीनों भाइयों के बीच संघर्ष और रक्तपात न हो जाए। इस आशंका के कारण उन्होंने उस जादुई पत्थर को जला दिया, जिससे उसकी अलौकिक शक्ति समाप्त हो गई। इसके पश्चात तीनों भाई अलग-अलग दिशाओं में चले गए और आगे चलकर अंगामी, लोथा तथा सेमा जनजातियों के पूर्वज माने गए। इसके अतिरिक्त अंगामी जनजाति के उद्भव से संबंधित एक अन्य किंवदंती भी प्रचलित है। इस मान्यता के अनुसार, अन्य नागा जनजातियों की भाँति अंगामी जनजाति की उत्पत्ति भी पृथ्वी के गर्भ से हुई थी, किंतु यह स्थान अंगामी क्षेत्र में नहीं, बल्कि दक्षिण दिशा में स्थित किसी भूमि में माना जाता है। लोकविश्वास के अनुसार, अंगामी जनजाति का संबंध दो ऐसे व्यक्तियों से है, जिन्हें कभी भाई तो कभी चचेरे भाई के रूप में वर्णित किया गया है।

अंगामी समाज में परिवार सामाजिक व्यवस्था की मूलभूत इकाई है। अंगामी लोककथाओं में पारिवारिक दायित्वों, पारस्परिक संबंधों, अविश्वास, ईर्ष्या तथा उनके परिणामों का यथार्थ चित्रण देखने को मिलता है। 'सोफ़न्यो'[6] की मार्मिक कथा इसका प्रमुख उदाहरण है। रुसोमा गाँव की सुंदर, सर्वगुणसंपन्न तथा कुशल बुनकर सोफ़न्यो पारिवारिक ईर्ष्या और अविश्वास का शिकार बनती है। ग्रामीणों के बहकावे में आकर उसका पति उस पर विश्वास नहीं करता और उसे घर से निकाल देता है। एक तूफानी रात में अपने बच्चे को पीठ पर बाँधकर मायके लौटते समय जंगल में एक दुष्ट प्राणी के आक्रमण से माँ और बच्चे दोनों की मृत्यु हो जाती है। बाद में उनके शरीर पत्थर में परिवर्तित हो जाते हैं, जिन्हें रुसोमा गाँव लाकर स्थापित किया जाता है। यह कथा पारिवारिक संबंधों में उत्पन्न अविश्वास, ईर्ष्या और असंतुलन के दुखद एवं विनाशकारी परिणामों को सामने रखती है। इसी प्रकार 'मनुष्य, बाघ और आत्मा'[7] में मनुष्य, बाघ और आत्मा को तीन भाइयों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कथा में मनुष्य अपनी बीमार माँ की निस्वार्थ भाव से सेवा करता है, जबकि बाघ के उग्र स्वभाव के कारण पारिवारिक तनाव उत्पन्न होता है। वहीं 'नेतेया'[8] की कहानी में पिता और पुत्र के बीच खेत, गाय तथा अन्य संसाधनों के विभाजन के प्रसंग के माध्यम से

स्वार्थ, चालाकी और संपत्ति के प्रति मनुष्य के व्यवहार को उजागर किया गया है। इस प्रकार इन कथाओं में पारिवारिक संबंधों के साथ-साथ ईर्ष्या, स्वार्थ, विश्वास और सामाजिक संघर्षों का भी प्रभावशाली चित्रण मिलता है। अंगामी समाज में विवाह केवल दो व्यक्तियों के व्यक्तिगत संबंध तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक एवं पारिवारिक संबंधों को स्थापित करने का महत्वपूर्ण आधार भी है। अंगामी लोककथाओं में प्रेम, निष्ठा, त्याग, विश्वास और वैवाहिक जीवन से जुड़े विभिन्न पक्षों को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। 'दी ट्रेवलिंग कॉमपीनियन एंड दी ग्रेटफुल दोई'[9] की कथा में एक शिकारी दया और करुणा का परिचय देते हुए हिरणी का शिकार नहीं करता। बाद में वही हिरणी एक सुंदर स्त्री का रूप धारण कर उससे विवाह करती है और अपने त्याग के माध्यम से उसके लिए कठिन कार्य को पूरा करती है। यह कथा प्रेम, कृतज्ञता, निष्ठा और त्याग के महत्व को रेखांकित करती है। दूसरी ओर, 'हुंचीबिली'[10] की कथा में छल और पुनर्प्राप्ति का प्रसंग दिखाई देता है। एक सुंदर स्त्री को छलपूर्वक नदी में फेंक दिया जाता है और उसकी जगह एक कुरूप स्त्री उसके पति से विवाह कर लेती है। बाद में सुंदर स्त्री विभिन्न प्राकृतिक रूपों में पुनर्जन्म लेकर अंततः अपने पति को पुनः प्राप्त करती है। इस प्रकार अंगामी लोककथाएँ वैवाहिक संबंधों में प्रेम, निष्ठा, छल, त्याग और पुनर्मिलन जैसे विभिन्न मानवीय भावों को अभिव्यक्त करती हैं।

अंगामी लोककथाओं में स्त्री की स्थिति अत्यंत जटिल और बहुआयामी रूप में दिखाई देती है। एक ओर स्त्री को सृजन, मातृत्व, कौशल और सम्मान के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है, तो दूसरी ओर उसे सामाजिक वर्जनाओं तथा संघर्षों का सामना करते हुए भी चित्रित किया गया है। सर्वोच्च रचयिता 'उकेपेन्योफ्अ' (Ukepenuopfii)[11] को समस्त मानव जाति की पूर्वज एवं माँ के रूप में चित्रित किया जाना स्त्री की सृजनात्मक और मातृशक्ति को विशेष महत्त्व प्रदान करता है। इसी प्रकार सोपफुनुओ की कथा में स्त्री की कुशलता, शॉल बुनने की कला, पारिवारिक उत्तरदायित्व और मातृत्व के प्रति सम्मान की भावना दिखाई देती है। 'इनयाकोवुरा' की किंवदंती में स्त्री के साहस और रणनीतिक क्षमता का परिचय मिलता है। अपने भाई के हत्यारे से प्रतिशोध लेने के लिए वह अत्यंत चतुराई से उसका सिर काटकर अपने लहंगे में छिपाकर ले आती है। किंतु गाँव के द्वार पर पहुँचकर वह उस सिर को वहीं छोड़ देती है, क्योंकि स्त्रियों के लिए नरमुंड लेकर गाँव में प्रवेश करना सामाजिक रूप से वर्जित था। यह प्रसंग स्त्री के साहस के साथ-साथ समाज में प्रचलित लैंगिक वर्जनाओं को भी उजागर करता है। इसी प्रकार 'मिएग्वे चे' (Miegweno Tsie)[12] की कथा में एक ऐसी साहसी स्त्री का वर्णन मिलता है, जो खतरनाक चट्टान पर स्थित पत्थर पर संतुलन बनाकर पुरुषों को खेल तथा शारीरिक प्रतियोगिताओं में पराजित करती थी। यह कथा पारंपरिक लैंगिक धारणाओं को चुनौती देती हुई स्त्री की शारीरिक क्षमता, साहस और आत्मविश्वास को सामने लाती है।

नागा इतिहास में नरमुंड शिकार केवल युद्ध अथवा सैन्य गतिविधि तक सीमित नहीं था, बल्कि यह वीरता, उर्वरता, सामाजिक प्रतिष्ठा और योद्धा की पहचान से भी जुड़ा हुआ था। मेज़ोमा से लेकर खोनोमा तक संबंधित युद्ध कथाओं में गाँवों के बीच होने वाले संघर्ष, प्रतिशोध, छापामार हमलों तथा नरमुंड शिकार की घटनाओं का उल्लेख मिलता है। इन आख्यानों में युद्ध के साथ जुड़े साहस और सामाजिक प्रतिष्ठा के भाव के साथ-साथ संघर्ष के दुखद परिणाम भी दिखाई देते हैं। 'मेहोवियु और मोरूसा'[13] की कथा में मोरूसा विवाह से पूर्व अपनी वीरता और योद्धा के रूप में अपनी पहचान स्थापित करने के लिए नरमुंड शिकार पर निकलता है। इस प्रकार नरमुंड शिकार की परंपरा अंगामी समाज में केवल युद्ध-कौशल नहीं, बल्कि सामाजिक सम्मान और पुरुषत्व की पहचान से भी जुड़ी हुई दिखाई देती है। अंगामी लोककथाएँ शारीरिक शक्ति को महत्त्व देने के साथ-साथ बुद्धि, चतुराई और रणनीतिक क्षमता को भी समान रूप से महत्त्व प्रदान करती हैं। 'हएखा चे' (Hiekha Tsie)[14] की किंवदंती में गाँव के लोग एक विशाल पत्थर को खड़ा करने में असमर्थ रहते हैं, किंतु बुद्धि और युक्ति का सहारा लेकर अंततः इस कार्य को पूरा कर लेते हैं। इसी

प्रकार 'मत्सुओ' (Matsuo)[15] की कथा में गाँव के बच्चों का भोजन चुराने वाला एक चतुर व्यक्ति अपनी बुद्धिमत्ता के बल पर गाँव वालों द्वारा दिए गए दंड से भी बच निकलता है। इन कथाओं में बुद्धि और चतुराई को जीवन की कठिन परिस्थितियों से निपटने के प्रभावी साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अंगामी लोककथाओं में मनुष्य और पशु-जगत के बीच संबंधों का भी व्यापक चित्रण मिलता है। इन कथाओं में शिकार, सह-अस्तित्व, घरेलू उपयोग तथा पशुओं के व्यवहार से संबंधित अनेक मान्यताएँ और लोकविश्वास दिखाई देते हैं। 'द रेड डॉग'[16] की कथा में जंगली कुत्तों द्वारा शिकार किए जाने तथा उनके गोबर में बाल छोड़ने की प्राकृतिक प्रवृत्ति का पौराणिक आधार प्रस्तुत किया गया है। 'द बियर'[17] की कथा में भालू को एक भोले और मूर्ख जीव के रूप में चित्रित किया गया है, जो वर्षा होने पर बार-बार अपना घर बदलता रहता है। इसी प्रकार 'उबला हुआ केकड़ा'[18] में पक्षी और केकड़े के माध्यम से अंधानुकरण के दुष्परिणाम को हास्यपूर्ण एवं नैतिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन कथाओं से स्पष्ट होता है कि पशु-पात्रों के माध्यम से अंगामी समाज ने मानवीय व्यवहार, बुद्धि, मूर्खता और नैतिक मूल्यों को अभिव्यक्त किया है।

अंगामी नागा जीवन-दर्शन में प्रकृति और अलौकिक शक्तियों के प्रति गहरी आस्था दिखाई देती है। जीववाद तथा प्रकृति के प्रति श्रद्धा अंगामी लोकविश्वासों के महत्वपूर्ण आधार हैं। 'द फिग-ट्री'[19] कथा में अंजीर के पेड़ को रक्षक तथा वृक्षों के मुख्य पुजारी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। पवित्र पत्थरों से संबंधित लोकविश्वास भी अंगामी संस्कृति में विशेष महत्त्व रखते हैं। 'सोकीमेला' (Sokeimela)[20] पत्थर को वर्षा को नियंत्रित करने वाला माना जाता है और उसे छूना कठोर रूप से वर्जित है। इसी प्रकार खोनोमा का 'छखेउ' (Chükhieo)[21] पत्थर शिकार से संबंधित पूर्वाभास प्रदान करने वाला माना जाता है। सोफ़न्यो की कथा में माँ और पुत्र का पत्थर में परिवर्तित हो जाना भी प्राकृतिक तत्वों में मानवीय चेतना के समावेश की लोकमान्यता को व्यक्त करता है। इस प्रकार अंगामी लोककथाओं में प्रकृति केवल पृष्ठभूमि नहीं, बल्कि मानवीय जीवन और धार्मिक विश्वासों का सक्रिय एवं अभिन्न हिस्सा है।

आधुनिक शिक्षा, ईसाई धर्म के आगमन तथा प्रौद्योगिकी के विस्तार ने अंगामी समाज की पारंपरिक जीवन-पद्धति में व्यापक परिवर्तन उत्पन्न किए हैं। पहले जहाँ गाँवों में लोग पारंपरिक रूप से अलाव के आसपास बैठकर लोककथाओं का श्रवण और मौखिक रूप से उनका प्रसार करते थे, वहीं आधुनिक जीवन-शैली के प्रभाव से यह परंपरा धीरे-धीरे कमजोर होती जा रही है। ऐसी स्थिति में अंगामी लोककथाओं का दस्तावेजीकरण, संरक्षण और विश्लेषणात्मक अध्ययन अत्यंत आवश्यक हो जाता है। जे. एच. हट्टन जैसे मानवशास्त्रियों द्वारा किए गए ऐतिहासिक अध्ययनों, क्षेत्रीय साक्षात्कारों तथा स्थानीय संकलनों के माध्यम से इन मौखिक आख्यानों को संरक्षित किया जा सकता है। इन लोककथाओं का संरक्षण केवल साहित्यिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि इससे अंगामी समाज की सांस्कृतिक जड़ों, ऐतिहासिक चेतना, सामाजिक मूल्यों और विशिष्ट पहचान को भावी पीढ़ियों तक पहुँचाने में भी सहायता मिलेगी।

अंगामी लोककथाओं का यह विश्लेषणात्मक अध्ययन स्पष्ट करता है कि ये आख्यान मात्र मनोरंजन के साधन अथवा प्राचीन काल्पनिक कथाएँ नहीं हैं, बल्कि अंगामी जनजाति के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और नैतिक जीवन के महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं। 'कोज़ा की कथा' अंगामी समाज के उद्भव, प्रवास और ऐतिहासिक जड़ों से संबंधित लोकविश्वासों को सामने लाती है, जबकि 'सोफ़न्यो की कथा' पारिवारिक संबंधों, सामाजिक ईर्ष्या, निष्ठा और लोकविश्वासों के दुखद परिणामों को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करती है। इसी प्रकार अन्य लोककथाओं में प्रकृति के प्रति श्रद्धा, जीववादी दृष्टिकोण, सामाजिक वर्जनाएँ, स्त्री की स्थिति, वैवाहिक संबंध, वीरता, युद्ध और ऐतिहासिक संघर्षों का समन्वित चित्रण मिलता है। इन कथाओं में सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक परंपराएँ एक-दूसरे से गहराई

से जुड़ी हुई हैं। आधुनिकता के तीव्र प्रभाव के बावजूद अंगामी समाज की सांस्कृतिक संरचना और ऐतिहासिक चेतना को समझने के लिए इन लोककथाओं की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। अतः इनके व्यवस्थित संकलन, दस्तावेजीकरण और वैज्ञानिक अध्ययन के माध्यम से अंगामी जनजाति की मौखिक सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करना अत्यंत आवश्यक है।

**सन्दर्भ सूची :**


1. Hutton,J.H, The Angami Nagas, Macmillian and co.Ltd. London,1921.
2. Aier, Anungla, Studies on Naga Oral Traditions, Heritage Publishing House, 2018.
3. चौबे, सं चंद्रशेखर, नागालैंड की लोककथाएँए प्रभात प्रकाशन पिविती. एल्तिदी.,17 नवम्बर 2023.
4. Liezietsu, ShÜrhozelie, MehouÜ – MeroÜsa, Ura Academy Publication.
5. Leruo, Khrinyo, U Pfutsanuo Naweu, Ura Academy Publication, 2001.
6. Keditsu, Theyiesenuo, Sopfunuo, Heritage Publishing house ,6 July 2020.
7. Hutton,J.H, The Angami Nagas, Macmillian and co.Ltd. London,1921, पृ. 261.
8. Kuolie, D., Neteya, Ura academy Publication.
9. Hutton,J.H, The Angami Nagas, Macmillian and co.Ltd. London, 1921, पृ. 271.
10. Hutton,J.H, The Angami Nagas, Macmillian and co.Ltd. London, 1921, पृ. 280.
11. Keditsu,T., An Angami Folktale reimagine – UkepenuopfÜ, Pen Thrill Publication, 2022 .
12. Neitsienuo solo, The Angami Nagas in Folklores and stories of the WWII: A study of cultural History, Research paper, Nagaland university, 2020-2021, पृ. 49 .
13. Liezietsu, ShÜrhozelie, MehouÜ – MeroÜsa, Ura Academy Publication.
14. Neitsienuo solo, The Angami Nagas in Folklores and stories of the WWII: A study of cultural History, Research paper, Nagaland university, 2021-2022, पृ. 49.
15. Hutton,J.H, The Angami Nagas, Macmillian and co.Ltd. London, 1921, पृ. 273.
16. Hutton,J.H, The Angami Nagas, Macmillian and co.Ltd. London, 1921, पृ. 273.
17. Hutton,J.H, The Angami Nagas, Macmillian and co.Ltd. London,1921, पृ. 269.
18. Hutton,J.H, The Angami Nagas, Macmillian and co.Ltd. London,1921, पृ. 273.
19. Hutton,J.H, The Angami Nagas, Macmillian and co.Ltd. London,1921, पृ. 265.
20. Hutton,J.H, The Angami Nagas, Macmillian and co.Ltd. London,1921, पृ. 278.
21. Hutton,J.H, The Angami Nagas, Macmillian and co.Ltd. London,1921, पृ. 266.


•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-10-13

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 10-13
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. संजीव कुमार विश्वकर्मा**

सहायक प्राध्यापक-हिन्दी, माधवराव सप्रे शासकीय महाविद्यालय, पथरिया, दमोह (म0प्र0)

Corresponding Author :

**डॉ. संजीव कुमार विश्वकर्मा**

सहायक प्राध्यापक-हिन्दी, माधवराव सप्रे शासकीय महाविद्यालय, पथरिया, दमोह (म0प्र0)

## राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 : विकास के नए क्षितिज

**सार :** राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020) ने भारतीय शिक्षा व्यवस्था में व्यापक एवं संरचनात्मक व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया है, जिसमें शिक्षक शिक्षा को गुणवत्ता सुधार का केन्द्रीय आधार माना गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 शिक्षा का एक ऐसा प्रस्ताव प्रस्तुत करता है जिसने शिक्षा प्रणाली को अधिक प्रभावी बनाया है। इस नीति ने छात्रों को विषयों को बेहतर तरीके से समझने के साथ उनकी तार्किक और आलोचनात्मक सोच को नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया है। इस शोधपत्र के द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के संदर्भ में शिक्षा के क्षेत्र में कार्यक्रम की भूमिका, संरचना, संभावनाओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

**बीज शब्द:** राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020, रोजगार, प्रशिक्षण दक्षता, समानता, समावेशन, गतिशीलता।

शिक्षा का महत्वपूर्ण कार्य है अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जाना। अर्थात व्यक्ति के अंदर छिपे अज्ञान (अंधकार) को दूर कर ज्ञान (प्रकाश) का मार्ग प्रशस्त करना। शिक्षा संपूर्ण मानव जाति के लिए एक न्याय संगत और न्यायपूर्ण समाज के विकास और देश विकास में बढ़ावा देने की मूलभूत आवश्यकता है। शिक्षा का शाब्दिक अर्थ सीखने और सिखाने की क्रिया का नाम है। जो समाज में चलने वाली सामाजिक प्रक्रिया है। जिसका निश्चित उद्देश्य होता है जो मुख्य रुप से व्यक्ति की आंतरिक शक्तियों का विकास कर उसके व्यवहार को बर्तन के मुलम्मा की भाँति परिष्कृत करता है। शिक्षा द्वारा ज्ञान और कौशल में निरंतर वृद्धि कर व्यक्ति को योग्य बनाने का कार्य निरंतर किया जा रहा है जो विकास के नये आयाम स्थापित करने में निरंतर विकासशील है। महात्मा गांधी के अनुसार "शिक्षा से मेरा तात्पर्य बालक एवं मनुष्य के शरीर, मन तथा आत्मा में निहित सर्वोत्तम शक्तियों के उद्घाटन से है।" स्पष्टतः कहा जा सकता है कि सभी प्राणियों को उनके जन्म पश्चात् अपनी-अपनी परिस्थिति अनुसार कर्म करना पड़ता है जिसके लिए उनको सीखना भी आवश्यक होता है और यह कार्य शिक्षा द्वारा ही संभव हो पाता है। यह

प्रक्रिया समाज में निरंतर चलती रहती है जिसमें मनुष्य सीखता है और दूसरों को सिखाता भी रहता है।

शिक्षा नीति किसी भी राष्ट्र विकास के लिए महत्वपूर्ण आवश्यकता एवं उपलब्धि होती है। जिसमें बीते समय का विश्लेषण कर वर्तमान की आवश्यकता को दृष्टिगत रखकर भविष्य की संभावनाओं को निहित कर विचार किया जाता है। जिसमें देश के समग्र विकास को केन्द्रित कर शिक्षा में बुनियादी सुविधाओं के आधार पर परिवर्तन पर ध्यान दिया जाता है। इन्हीं सभी महत्वपूर्ण बातों को ध्यान में रखकर 1947 के बाद हो अब तक आवश्यकतानुसार राष्ट्रीय शिक्षा नीति का निर्माण किया गया जहाँ प्रत्येक राष्ट्रीय शिक्षानीति पूर्व निर्मित शिक्षा नीति में कुछ परिवर्तन को परिलक्षित करती है।

भारत में शिक्षा का समृद्ध इतिहास रहा है। वर्तमान में इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण बदलाव किए गए हैं। जिससे देश में निवास करने वाले युवाओं की विभिन्न समस्याओं का समाधान किया जा सके। "कार्य-कारण सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक कार्य के मूल में एक कारण निहित होता है। वर्ष 2015 में जब भारत की तत्कालीन मानव संसाधन विकास मंत्री श्रीमती स्मृति ईरानी ने कई शिक्षा नीति के निर्माण की बात कही थी, तभी से लोगों के मन में यह प्रश्न बार-बार उठता रहा कि आखिर देश के लिए नई शिक्षा नीति की आवश्यकता महसूस किये जाने के पीछे क्या कारण है इस प्रश्न के उत्तर में दो प्रमुख कारण गिनाए जा सकते हैं- पहला, शिक्षा का चिर-प्रतीक्षित स्वदेशीकरण, जिसकी मांग 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में प्रारम्भ हुए राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन के समय से उठती रही है और दूसरा कारण है शिक्षा का आधुनिकीकरण, क्योंकि अंतिम नीति 1986 में निर्धारित की गई थी, जिसके बाद प्रौद्योगिकी के तेज गति से हुए विकास ने राष्ट्रीय परिवेश में बहुत बड़ा परिवर्तन उत्पन्न किया है।"[1] राष्ट्रीय परिवेश को दृष्टिगत रखते हुए बेरोजगारी, तकनीकी शिक्षा का अभाव एवं रोजगार के अवसरों के अभाव जैसी अनेक समस्याओं के निराकरण हेतु ही राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 लागू की गयी है।

केन्द्र सरकार ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 को मंजूरी दी, जो कि 34 वर्ष पुरानी राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020, 21वीं सदी की पहली शिक्षा नीति है। स्वतंत्र भारत के पश्चात् देश विकास के लिए शिक्षा नीति ही जिम्मेदार होती है जिस पर सरकार विशेष रूप से ध्यान देती है। स्वतंत्रता के पश्चात् 1964 में कोठारी आयोग की स्थापना की गयी जिसमें प्राप्त शिफारिशों के आधार पर 1968 में प्रथम शिक्षा नीति अमल में लाई गयी। स्वतंत्र भारत में शिक्षा के यह लक्षण बुनियादी ही थे जिसके कारण समाज शिक्षित होने लगा और शिक्षा नीति में बदलाव की आवश्यकता महसूस होने लगी। जिसके परिणाम स्वरूप 1986 में दूसरी राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनाई गयी। सामाजिक विकास निरन्तर गतिमान रहता है। अतः समाज में बदलाव के कारण 1986 की शिक्षा नीति में 1992 में संशोधनों किया गया। इस प्रकार प्रथम तथा द्वितीय शिक्षा नीतियों के माध्यम से शिक्षण क्षेत्र में अनेक अनुसंधान किए गए। "किन्तु नई शिक्षा नीति की आवश्यकता महसूस किए जाने का एक और महत्वपूर्ण कारण है। सन् 1986 (1992) की नीति इण्टरनेट क्रांति के ठीक पहले लागू की गई थी जो तकनीक के कारण होने वाले आमूलचूल परिवर्तनों का अनुमान नहीं लगा सकी थी। तभी से हम शिक्षा की गुणवत्ता सुधारने में प्रौद्योगिकी के उपयोग एवं शिक्षा संबंधी विषयों को लेकर काफी धीमें रहे हैं। प्रौद्योगिकी एवं तकनीकों से समृद्ध परिवेश में जन्म ने एवं बढ़ने वाली नई पीढ़ी भविष्य में उन तकनीकों का उपयोग करेगी जिनका तो अभी तक अविष्कार ही नहीं हुआ है। वे ऐसे क्षेत्रों में रोजगार प्राप्त करेंगे जो अभी तक अस्तित्व में ही नहीं हैं। जैसे कि आज से 30-35 वर्ष पूर्व कम्प्यूटर क्रांति से पहले जो रोजगार हुआ करते थे, वे आज नहीं है और उस समय जिनका अस्तित्व भी नहीं हुआ करता था, वे आज रोजगार के साधन हैं। अतः सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक जगत की आवश्यकताओं के साथ की बदलती हुई व्यक्तिगत आवश्यकताओं व राष्ट्रीय विकास लक्ष्य को भी प्रासंगिक बनाए रखने के लिए शिक्षा में नवीनीकरण आवश्यक है।"[2]

ज्ञान के परिदृश्य में जब समस्त विश्व परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। समय-समय पर शिक्षा नीतियों में बदलाव

परिलक्षित होता रहा है। उसी समय की मांग अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भी आवश्यकता की ही देन है। जिसका मुख्य उद्देश्य सभी विद्यार्थियों के शिक्षा प्रदान कर शिक्षा को रोजगारपरक बनाना है। नई शिक्षा नीति 2020 की घोषणा माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी द्वारा की गई। जून 2017 में पूर्व प्रमुख डॉ. के. कस्तूरीरंगन की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया तथा भारत के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ कि शिक्षा नीति बनाने के लिए देश की 2.5 लाख ग्राम पंचायतों, 6600 ब्लॉकों और 676 जिलों से एक साथ विचार विमर्श किया गया। जिसमें शिक्षाविदों, अध्यापकों, अभिभावकों, जन प्रतिनिधियों के साथ-साथ छात्रों से सुझाव आमंत्रित कर उनका मंथन एवं निष्कर्ष निकाला गया। समिति ने मई 2019 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति का मसौदा प्रस्तुत किया तथा भारत सरकार ने 29 जुलाई 2020 को नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 की घोषणा की।

यह शिक्षा नीति भारत की परम्परा और सांस्कृतिक मूल्यों को यथोचित रखते हुए आधुनिक शिक्षा की आवश्यकताओं को लक्ष्य करके शिक्षा व्यवस्था एवं नियमों का वर्णन सहित पुनर्गठन का प्रस्ताव रखती है। जिसका लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति में निहित रचनात्मक क्षमता के विकास को साकार करना है। "नई शिक्षा नीति को सभी विद्यार्थियों के लिए, चाहे उनका निवास स्थान कहीं भी हो, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा व्यवस्था उपलब्ध करानी होगी। इस कार्य में ऐतिहासिक रूप से हाशिये पर रह रहे समुदायों, वंचित और अल्प प्रतिनिधित्व वाले समूहों पर विशेष ध्यान दिए जाने की जरूरत होगी। शिक्षा बराबरी सुनिश्चित करने का बड़ा माध्यम है और इसके द्वारा समाज में समानता, समावेशन और सामाजिक आर्थिक रूप से गतिशीलता हासिल की जा सकती है। ऐसे समूहों के सभी बच्चों के लिए, परिस्थितिजन्य बाधाओं के बावजूद, हर संभव पहल की जानी चाहिए जिससे वे शिक्षा व्यवस्था में प्रवेश भी पा सकें और उत्कृष्ट प्रदर्शन भी कर सकें।"[3]

निश्चय ही राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारत के सर्वांगीण विकास का लक्ष्य लेकर चलती है। 1986 की शिक्षा नीति के संदर्भ में तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने अपनी घोषणा में कहा था- "शिक्षा के द्वारा राष्ट्रीय एकता तथा कार्य नैतिकता का विकास होना चाहिए। हमारे स्वतंत्रता संग्राम की भव्यता तथा राष्ट्रीय एकता में उसका महत्व प्रत्येक विद्यार्थी तक पहुँचना चाहिए।"[4] इसके 34 साल बाद भारतीय शिक्षा नीति में महत्वपूर्ण और अहम परिवर्तन किए गए हैं। यह नीति व्यापक है जिसमें प्रारम्भिक तथा उच्च शिक्षा के लिए जो रूप रेखा तैयार की गयी है। उसमें भारत के ग्रामीण तथा शहरी दोनों क्षेत्रो में व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए स्थान दिया गया है। जैसा कि भारतीय संविधान भारत के लोकतांत्रिक, न्यायपूर्ण, सामाजिक समानता, स्वतंत्रता, सांस्कारिक तथा मानवीय राष्ट्र की परिकल्पना की गयी है। इसी भांति शिक्षा नीति 2020 भी भारतीय मूल्यों से विकसित शिक्षा प्रणाली है। जो सभी को उच्च गुणवत्ता शिक्षा उपलब्ध कराकर भारत को वैश्विक ज्ञान महाशक्ति के रूप में बदलने के लिए प्रत्यक्ष योगदान प्रदत्त करती है। इस नीति का विजन ही है छात्रों में भारतीय होने का गर्व विचारों में ही नहीं अपितु उनके व्यवहार और कार्यों में भी परिलक्षित करना। इसके साथ-साथ मूल्यों, ज्ञान, कौशल और सोच में सामंजस्य बनाना।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 की शुरुआत के बाद मानव संसाधन विकास मंत्रालय का नाम बदलकर शिक्षा मंत्रालय कर दिया गया। यह नीति देश के स्कूलों और उच्च शिक्षण प्रणालियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन की उम्मीद करती है। 2030 तक सरकार का लक्ष्य स्कूली शिक्षा में 100 प्रतिशत जीईआर (सकल नामांकन अनुपात) हासिल करना है। 21वीं सदी की आवश्यकतानुसार महाविद्यालयीन शिक्षा को अधिक समग्र लचीला बनाकर, ज्ञान आधारित जीवंत समाज के लिए छात्रों में निहित अद्वितीय क्षमताओं को उजागर करना है।

मध्यप्रदेश देश का वह पहला राज्य है जहाँ सबसे पहले राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 के अंतर्गत अध्ययन-अध्यापन की शुरुआत की गयी। इस शिक्षा व्यवस्था के अंतर्गत योग, ध्यान, डिजिटल जागरुकला, व्यक्तित्व विकास के साथ महिला सशक्तिकरण जैसे विषय भी शामिल किए गए हैं। स्नातक प्रथम वर्ष में 2 मेजर, 1 माइनर विषय की

अनिवार्यता के साथ कौशल विकास के लिए वैकल्पिक विषय निर्धारित है। जिस विषय को अध्ययन हेतु छात्र चुनना चाहे चुन सकता है कोई विषय आपको आपके लक्ष्य हासिल करने में मददगार साबित होगा। नई शिक्षा नीति समाज केन्द्रित है। इसमें महाविद्यालयीन पढ़ाई में डिग्री तथा उम्र का बंधन खत्म कर दिया गया है। कोई किसी भी उम्र में किसी की कक्षा से अपनी अधूरी पढ़ाई को पूरी कर सकता है। "इस नीति का उद्देश्य व्यावसायिक शिक्षा से जुड़ी सामाजिक पदानुक्रम की स्थिति को दूर करना है, और इसके लिए आवश्यक होगा कि समस्त शिक्षण संस्थान, जैसे स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय चरणबद्ध तरीके से व्यावसायिक शिक्षा के कार्यक्रमों को मुख्यधारा की शिक्षा में एकीकृत करे, और इसकी शुरुआत आरंभिक वर्षों में व्यावसायिक के अनुभव प्रदान करने से हो जो कि फिर सुचारु रूप से उच्चतर प्राथमिक, माध्यमिक, कक्षाओं से होते हुए उच्चतर शिक्षा तक जाए। इस तरह से व्यावसायिक शिक्षा को एकीकृत करना यह सुनिश्चित करेगा कि प्रत्येक बच्चा कम से कम एक व्यवसाय से जुड़े कौशलों को सीखे और अन्य कई व्यवसायों से इस प्रकार परिचित हो। ऐसा करने के परिणामस्वरूप श्रम की महत्ता और भारतीय कलाओं और कारीगरी सहित अन्य विभिन्न व्यवसायों के महत्व से परिचित होगा।"[5]

शिक्षा ग्रहण करने में भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में फिर चाहे सैद्धांतिक ज्ञान हो या व्यावहारिक दोनों को भाषा द्वारा की ग्रहण किया जाता है। यदि भाषा स्थानीय हो तो ग्रहण करने की क्षमता अधिक बढ़ जाती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में कक्षा पाँच तक की शिक्षा मातृभाषा, क्षेत्रीय भाषा, घरेलू भाषा को अपनाया गया है। सरकार ने इस नीति में सभी भाषाओं के संरक्षण, विकास को सम्मिलित किया है। "इस नीति ने पूर्व की ही तरह की त्रिभाषा सूत्र को ही बनाए रखे जाने की अनुशंसा की है और ये भाषाएं पूर्व प्राथमिक स्तर से की उन्हें सिखायी जायेंगी। इन तीन भाषाओं में पहली भाषा विद्यार्थी की मातृभाषा होगी। द्वितीय भाषा हिन्दी व तृतीय भाषा अंग्रेजी होगी। जिन विद्यार्थियों की मातृभाषा हिन्दी है उन्हें त्रिभाषा सूत्र के तहत संस्कृत, तमिल आदि अन्य भारतीय भाषओं में से एक का चयन करना होगा। इन सब बातों के होते हुए भी बच्चों को भाषा के चयन में पर्याप्त लचीलापन दिया जायेगा।"[6] इस प्रकार मातृभाषा तथा क्षेत्रीय भाषा में शिक्षा मानवीय मूल्यों और भावनाओं को बढ़ाने की सशक्त अभिव्यक्ति का साधन होगी।

स्पष्ट है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 एक व्यापक नीति है जिसका उद्देश्य शिक्षा प्रणाली में सुधारकर उसको आधुनिक आवश्यकतानुरूप परिवर्तित कर रोजगारपरक शिक्षा को बढ़ावा देना है। यह शिक्षा नीति समतामूलक और समावेशी शिक्षा के महत्व को रेखांकित करती है। जो 21वीं सदी की आवश्यकताओं के अनुरूप छात्रों के सर्वांगीण विकास पर बल देती है। शिक्षा सदैव रोचक तथा ज्ञानप्रद होना चाहिये इसलिए शिक्षा का विजन और मिशन दोनों बुलंद होने चाहिए जिससे विद्यार्थी रुचि अनुसार पढ़ने तथा रोजगार स्थापित करने में अपने आपको स्थापित कर सके। तभी सबका साथ - सबका विकास यह बात सच संभव हो सकेगी।

**संदर्भः**

1. ऐश्वर्य पुरोहित - राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (एक विहग अवलोकन) म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल सं. 2022 पृ. 01
2. वही पृ. 16
3. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020(हिन्दी अनुवाद), मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार नई दिल्ली पृ. 05
4. डॉ. राजेश वशिष्ट-समकालीन भारत और शिक्षा, लक्ष्मी बुक डिपो (न्यू एडीशन) सं. 2019 पृ. 165
5. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020(हिन्दी अनुवाद), मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार नई दिल्ली पृ. 71
6. ऐश्वर्य पुरोहित - राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (एक विहग अवलोकन) म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल सं. 2022 पृ. 29

•

ज्ञानविविधा
कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 14-16
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**
**डॉ. अंजु कुमारी**
सहायक प्राध्यापक हिन्दी विभाग,
गंगादेवी महिला महाविद्यालय, कंकड़बाग, पटना

Corresponding Author :
**डॉ. अंजु कुमारी**
सहायक प्राध्यापक हिन्दी विभाग,
गंगादेवी महिला महाविद्यालय, कंकड़बाग, पटना

# भारतीय संस्कृति के आलोक में दिनकर के साहित्य की पुनर्विवेचना

**शोध सार :** भारतीय संस्कृति और हिन्दी साहित्य का संबंध अत्यंत गहरा और परस्पर पूरक है। दोनों एक–दूसरे को जन्म देते हैं, पोषित करते हैं और समय–समय पर परखते भी हैं। साहित्य जहाँ संस्कृति की स्मृतियों और आकांक्षाओं को शब्द देता है, वहीं संस्कृति साहित्य को संदर्भ, भाषिक संसाधन और अर्थवत्ता प्रदान करती है। भारतीय परंपरा में यह परस्परता मानव मूल्यों, सह–अस्तित्व और सृजनशीलता की रचना करती है। इसी कारण किसी समाज को समझने, बदलने और बेहतर बनाने के लिए साहित्य केवल पढ़ने की चीज नहीं, बल्कि जीने की विधा बन जाती है। साहित्य संस्कृति की स्मृतियों को सिर्फ शब्द देता है और संस्कृति साहित्य को आधार प्रदान करती है। वेद, उपनिषद और महाकाव्यों ने भारतीय जीवन को नैतिक दिशा दी, वहीं लोकगीत एवं कथाएँ संस्कृति को जीवित रखते हैं।

**मूल शब्द :** सह–अस्तित्व, सृजनशीलता, कर्मयोग, उदात्त कर्मयोग।

हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों के साहित्य में तत्कालीन भारतीय संस्कृति का वर्णन मिलता है। आदिकालीन साहित्य की बात करें तो चाहे रासो काव्य हो या सिद्धों एवं नाथों का साहित्य, उसमें तत्कालीन संस्कृति का वर्णन सर्वत्र मिलता है। भक्तिकालीन साहित्य में कबीर, सूरदास और तुलसीदास ने धार्मिक एवं सामाजिक भेदभाव तोड़े। रीतिकाल के साहित्य में श्रृंगार और दरबारी संस्कृति की झलक मिलती है। वहीं आधुनिक काल के साहित्य में प्रेमचंद, मैथिलीशरण गुप्त और रामधारी सिंह दिनकर ने न केवल अपने साहित्य में भारतीय संस्कृति के तत्वों का सिंचन किया, बल्कि राष्ट्रीय–चेतना और स्वतंत्रता संग्राम को आगे बढ़ाया। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर के साहित्य में भारतीय संस्कृति के मूल तत्व कूट–कूट कर भरे हैं। दिनकर जी ने अपनी कविताओं के माध्यम से भारत के गौरवशाली अतीत, नैतिक मूल्यों और सांस्कृतिक चेतना को आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत किया है। उनके प्रमुख ग्रंथ रश्मिरथी, उर्वशी, कुरुक्षेत्र या संस्कृति के चार अध्याय सभी में भारतीय संस्कृति के संपूर्ण सांस्कृतिक तत्व उभरकर सामने आते हैं।

कुरुक्षेत्र, जिसकी रचना दिनकर जी ने 1946 में की थी, वैचारिक और सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दी साहित्य की एक युगांतकारी रचना है। द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका से व्यथित होकर लिखे गए इस विचार–काव्य में महाभारत के युद्ध को पृष्ठभूमि बनाया गया है और भीष्म–युधिष्ठिर के संवाद के माध्यम से भारतीय दर्शन, संस्कृति और जीवन मूल्यों की गहन विवेचना की गई है। कुरुक्षेत्र में भारतीय संस्कृति के निम्नलिखित मुख्य तत्व उभरकर सामने आते हैं : भारतीय संस्कृति में धर्म का अर्थ केवल पूजा–पाठ नहीं, बल्कि कर्तव्य और न्याय है। जब शांति के सारे प्रयास विफल हो जाएँ, तब अन्याय के खिलाफ युद्ध करना ही सबसे बड़ा धर्म (कर्तव्य) बन जाता है। भीषण कायरतापूर्ण शांति से बेहतर है न्याय के लिए संघर्ष करना। भीष्म युधिष्ठिर को समझाते हैं कि यह गीता के कर्मयोग और भारतीय संस्कृति के धर्म का सजीव रूप है। भारतीय संस्कृति स्वभाव से शांतिप्रिय और 'वसुधैव कुटुम्बकम' की समर्थक है। कुरुक्षेत्र इस सांस्कृतिक मूल्य को पूरी तरह

स्वीकार करता है। दिनकर जी स्पष्ट करते हैं कि जो शांति अन्याय और शोषण की बुनियाद पर टिकी हो, वह कृत्रिम है।

''शांति नहीं तब तक, जब तक सुख भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को अधिक हो, नहीं किसी को कम हो।''[1]

यह विचार उपनिषद के समतावादी और कल्याणकारी दृष्टिकोण से प्रेरित है।

भारतीय दर्शन में दो धाराएँ रही हैं–एक संसार को छोड़कर संन्यास लेने की 'निवृत्ति' और दूसरी संसार में रहकर कर्म करने की 'प्रवृत्ति'। युधिष्ठिर युद्ध के विनाश से दुखी होकर वैराग्य (निवृत्ति) की ओर भागना चाहते हैं। भीष्म उन्हें रोकते हैं और कर्मक्षेत्र में उतरकर समाज का नेतृत्व करने की प्रेरणा देते हैं। यह श्रीमद्भागवत गीता के निष्काम कर्मयोग का ही आधुनिक रूपांतरण है। पश्चिमी संस्कृति जहाँ भौतिक सुखों को सर्वोपरि मानती है, वहीं भारतीय संस्कृति आंतरिक संतोष पर बल देती है। कुरुक्षेत्र के छठे सर्ग में दिनकर जी ने आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति और मानवीय मूल्यों के संतुलन की बात की है। भारतीय संस्कृति का अंतिम लक्ष्य लोक मंगल है। कुरुक्षेत्र में राजा या शासक के धर्म को परिभाषित करते हुए प्रजा के सुख और सामाजिक न्याय को ही सबसे बड़ा सांस्कृतिक मूल्य माना गया है। जब तक समाज में विषमता रहेगी, युद्ध की संभावना बनी रहेगी।

दिनकर जी भारतीय संस्कृति के कुशल चितेरे हैं। कुरुक्षेत्र के बाद जब हम उनकी प्रमुख रचना रश्मिरथी को पढ़ते हैं, जो महाभारत के उपेक्षित पात्र कर्ण के जीवन पर आधारित है, तो उस कृति में भारतीय संस्कृति के उदात्त मूल्यों, दार्शनिक विचारों और नैतिक आदर्शों का जीवंत वर्णन मिलता है। भारतीय संस्कृति में त्याग, परोपकार और वचनों पर अडिग रहने को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। कर्ण यह जानते हुए भी कि कवच और कुंडल दान करने से उसकी मृत्यु निश्चित है, इन्द्र को उन्हें हंसते–हंसते दान कर देता है। वह अपनी माता कुंती को वचन देता है कि अर्जुन के अलावा उसके शेष चार पुत्र जीवित रहेंगे। यह त्याग और प्रतिज्ञा–पालन भारतीय संस्कृति के आदर्श चरित्र को दर्शाता है।

**गुरु भक्ति और कृतज्ञता :** भारतीय परंपरा में गुरु का स्थान ईश्वर से भी ऊपर माना गया है और कृतज्ञता एक परम आवश्यक नैतिक मूल्य है। कर्ण अपने गुरु परशुराम के प्रति अगाध श्रद्धा रखता है। गुरु की निद्रा भंग न हो, इसलिए वह जाँघ पर कीट के काटने का भयानक दर्द भी चुपचाप सह लेता है। दुर्योधन ने संकट के समय कर्ण को सम्मान दिया और अंग देश का राजा बनाया था। कृष्ण और कुंती के प्रलोभन देने पर भी कर्ण दुर्योधन का साथ नहीं छोड़ता, जो भारतीय संस्कृति के मित्र–धर्म और कृतज्ञता का अनुपम उदाहरण है। न्याय और शांतिप्रियता भारतीय संस्कृति का बीज है, जिसे हम रश्मिरथी के तृतीय सर्ग में तब देखते हैं जब कृष्ण पांडवों के दूत बनकर हस्तिनापुर जाते हैं और केवल पाँच गाँव माँगते हैं ताकि युद्ध टल सके :

''दो न्याय अगर तो आधा दो, पर
इसमें भी यदि बाधा हो, तो दे दो
केवल पाँच ग्राम, रखो अपनी धरती तमाम।''[2]

जब दुर्योधन शांति प्रस्ताव ठुकराकर कृष्ण को बाँधने चलता है, तब कृष्ण अपना विराट रूप दिखाकर अधर्म के विनाश की घोषणा करते हैं, जो भारतीय दर्शन के ''परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' के सिद्धांत पर आधारित है। भारतीय संस्कृति का मूल आधार 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' अर्थात सभी जीवों को अपने समान देखना है। रश्मिरथी में दिनकर जी ने सूतपुत्र कहे जाने वाले कर्ण को नायक बनाकर समाज के शोषित और वंचित वर्ग को सम्मान दिया है। यह काव्य सिखाता है कि मनुष्य की गरिमा उसके गुणों से है, उसके जन्म से नहीं।

रामधारी सिंह दिनकर कृत 'उर्वशी', जो सिर्फ साहित्य संसार की अमूल्य धरोहर है और जिसे देश के सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' से नवाजा गया था, उसमें दिनकर जी ने भारतीय दर्शन, अध्यात्म और काम–चेतना के गहन सांस्कृतिक तत्वों को पिरोया है। भारतीय संस्कृति जीवन को एकांगी नहीं मानती, बल्कि जीवन के चार पुरुषार्थों–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के संतुलन पर बल देती है। उर्वशी मुख्य रूप से काम का महाकाव्य है, लेकिन यहाँ काम केवल शारीरिक आकर्षण नहीं है। दिनकर जी ने दिखाया है कि सच्चा प्रेम और दैहिक मिलन धीरे–धीरे मनुष्य को आत्मिक और आध्यात्मिक ऊँचाई की ओर ले जाता है। राजा पुरूरवा और अप्सरा उर्वशी का प्रेम अंततः आत्मा के मिलन और ईश्वरीय आनंद का माध्यम बन जाता है। भारतीय दर्शन में आदिकाल से दो प्रवृत्तियों के बीच संवाद रहा है– प्रवृत्ति और निवृत्ति। राजा पुरूरवा एक पराक्रमी योद्धा और शासक हैं, लेकिन उर्वशी के प्रेम में वे सब कुछ भूलकर अंतर्मुखी हो जाते हैं। काव्य के अंत में दिनकर जी यह संदेश देते हैं कि संसार से भागना ही एकमात्र सत्य नहीं है, बल्कि संसार के भीतर रहकर प्रेम और कर्तव्य के मार्ग से आत्मिक ऊँचाई तक पहुँचा जा सकता है। भारतीय संस्कृति में देवताओं को पूजनीय माना गया है, लेकिन तुलसीदास जी की तरह दिनकर जी ने भी मानव जीवन और मानवीय संवेदनाओं को देवलोक से भी बढ़कर माना है। स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी देवलोक के नीरस जीवन को छोड़कर भारतीय धरती पर आती है। वह कहती है कि देवलोक में अमरता तो है, लेकिन वहाँ धरती जैसा कोमल भावों से सिंचित प्रेम नहीं।

भारतीय संस्कृति में प्रकृति को जड़ नहीं बल्कि चेतन और साक्षात शक्ति माना गया है। उर्वशी स्वयं प्रकृति के सौंदर्य का प्रतीक है जो पुरूरवा (पुरुष) को पूर्णता की ओर ले जाती है। गंधमादन पर्वत, वन–उपवनों का वर्णन वैदिक काल के प्राकृतिक सह–अस्तित्व की याद दिलाता है। उर्वशी काव्य में कदम–कदम पर उपनिषदों की सूक्तियाँ और भारतीय दर्शन का सिद्धांत दिखाई देता है। उपनिषद कहते हैं कि आनंद ही ब्रह्म है और उर्वशी में प्रेम और सौंदर्य के माध्यम से उसी आनंद की खोज की गई है। पुरूरवा के संवादों में वेदों और उपनिषदों की दार्शनिकता साफ झलकती है, जब वे आत्मा, माया

और ब्रह्मांड की चर्चा करते हैं।

दिनकर जी की संस्कृति के चार अध्याय की बात करें तो इसमें भारतीय संस्कृति का सर्वांगीण निरूपण है। यह गद्य विधा की एक युगांतकारी और महाकाव्यात्मक कृति है। इस पुस्तक के लिए उन्हें 1959 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। इस पुस्तक में दिनकर जी ने भारत के हजारों वर्षों के इतिहास का विश्लेषण करते हुए यह सिद्ध किया है कि भारतीय संस्कृति कोई जड़ या एकल धारा नहीं है, बल्कि यह एक मिश्रित और सामासिक (Composite) संस्कृति है। दिनकर जी के अनुसार भारतीय संस्कृति का निर्माण चार बड़ी सांस्कृतिक क्रांतियों या अध्यायों के माध्यम से हुआ है। संस्कृति के चार अध्याय पुस्तक के पहले अध्याय में दिनकर जी बताते हैं कि जिसे हम हिंदू या भारतीय संस्कृति कहते हैं, वह आर्यों और यहाँ के मूल निवासियों (द्रविड़ों एवं अन्य) का अनूठा मिश्रण है। शक, हूण, कुषाण जैसी अनेक विदेशी जातियाँ भारत आईं, लेकिन वे भारतीय संस्कृति में इस तरह घुल–मिल गईं कि उनका अपना अलग अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

भारतीय संस्कृति रूढ़िवादी नहीं है; इसमें समय–समय पर भीतर से ही सुधार और विद्रोह के स्वर गूँजे हैं। दिनकर जी ने जैन और बौद्ध धर्म के उदय को वैदिक कर्मकांड और जाति प्रथा के खिलाफ एक बड़ा सांस्कृतिक विद्रोह माना है। बुद्ध और महावीर ने भारतीय संस्कृति को अहिंसा, करुणा और सदाचार के व्यावहारिक तत्व दिए, जिसने संपूर्ण एशिया को प्रभावित किया। तीसरे अध्याय में दिनकर जी ने भारत में इस्लाम के आगमन और उसके बाद उत्पन्न हुई नई साझी संस्कृति का अत्यंत निष्पक्ष विश्लेषण किया है। भारतीय संस्कृति भक्ति और सूफी आंदोलन का मिलन है। कबीर, नानक, जायसी और रसखान जैसे संतों ने धर्म के बाहरी आडंबरों को नकार कर दिल के रिश्ते और ईश्वर–प्रेम पर बल दिया। हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों के मिलन से भारत को नई वास्तुकला, संगीत, नई भाषा और खान–पान की नई शैलियाँ मिलीं, जो आज हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग हैं। चौथे अध्याय में दिनकर जी ने अंग्रेजों के आगमन और उसके जवाब में उपजे भारतीय नवजागरण (Indian Renaissance) की चर्चा की है। राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानंद और महात्मा गांधी जैसे मनीषियों ने पश्चिमी शिक्षा का लाभ उठाकर भारतीय संस्कृति की कुरीतियों को दूर किया।

विज्ञान और अध्यात्म का संतुलन भारतीय संस्कृति की अन्यतम निधि है। भारतीय संस्कृति जहाँ एक ओर नए विचारों और तकनीक को स्वीकार करती है, वहीं अपनी आध्यात्मिक जड़ों को भी नहीं छोड़ती। भारत की भाषा, धर्म, रीति–रिवाजों की विविधता इसकी कमजोरी नहीं बल्कि इसकी सांस्कृतिक ताकत है। भारतीय संस्कृति एक ऐसे गुलदस्ते की तरह है जिसमें हर रंग के फूल शामिल हैं। दिनकर की पुस्तक संस्कृति के चार अध्याय भारतीय सांस्कृतिक इतिहास को समझने का एक नया नजरिया देती है।

**निष्कर्ष :** राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर के साहित्य में निहित सांस्कृतिक तत्व आज के वैश्विक और भारतीय परिदृश्य में न केवल प्रासंगिक हैं, बल्कि समाज को दिशा दिखाने वाले मार्गदर्शक हैं। जब समाज वैचारिक ध्रुवीकरण, तकनीकी अंधी दौड़ और नैतिक पतन से जूझ रहा है, तब दिनकर का सांस्कृतिक दृष्टिकोण एक संजीवनी की तरह काम करता है। आज के समय में जब धार्मिक तनाव वैश्विक और राष्ट्रीय स्तर पर एक बड़ी चुनौती हैं, तब दिनकर की संस्कृति के चार अध्याय की अवधारणा बेहद प्रासंगिक है। दिनकर ने सिद्ध किया था कि भारत किसी एक रंग से नहीं बल्कि अनेक संस्कृतियों के ताने–बाने से बना है। उनका यह विचार आज युवाओं को कट्टरता से दूर रहकर एक–दूसरे के धर्म, भाषा और खान–पान के प्रति सहिष्णु और सम्मानजनक दृष्टिकोण विकसित करना सिखाता है। दिनकर ने चेतावनी दी थी कि यदि मनुष्य की बुद्धि पर उसके हृदय का अंकुश नहीं होगा तो विज्ञान विनाशकारी बन जाएगा। आज जब हम तकनीकी रूप से अत्यधिक उन्नत हो रहे हैं, तब दिनकर हमें याद दिलाते हैं कि मानवीय मूल्यों और आत्मिक शांति के बिना यह प्रगति अधूरी और खतरनाक है। आज की वैश्विक भू–राजनीति में कुरुक्षेत्र का शांति–दर्शन सबसे सटीक बैठता है। दिनकर का राष्ट्रवाद संकीर्ण या आक्रामक राष्ट्रवाद नहीं था। उनका राष्ट्रवाद भारतीय संस्कृति के 'वसुधैव कुटुम्बकम' से प्रेरित था। आज वैश्वीकरण के दौर में, जहाँ अपनी सांस्कृतिक पहचान को भी बचाना है और वैश्विक नागरिक भी बनना है, दिनकर का साहित्य हमें अपनी जड़ों से जुड़े रहकर पूरे विश्व के कल्याण की सोच रखने की प्रेरणा देता है।

**संदर्भ गंथ :**

1. कुरूक्षेत्र : रामधारी सिंह दिनकर, तृतीय सर्ग, तृतीय संस्करण, पृष्ठ–25
2. रश्मिरथी : रामधारी सिंह दिनकर, तृतीय सर्ग, पृ.–82 राजपाल एंड सन्स दिल्ली

- कुरूक्षेत्र : रामधारी सिंह दिनकर, छठा सर्ग, तृतीय संस्करण, राजपाल प्रकाशन दिल्ली
- उर्वशी : रामधारी सिंह दिनकर, तृतीय संस्करण, लोकभारती प्रकाशन नई दिल्ली
- संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह दिनकर, द्वितीय संस्करण, उदयांचल प्रकाशन, पटना

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-17-20

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 17-20
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**गुंजन**
शोधार्थी, हिन्दी विभाग, कनोहर लाल स्नातकोत्तर महिला महाविद्यालय, मेरठ

Corresponding Author :

**गुंजन**
शोधार्थी, हिन्दी विभाग, कनोहर लाल स्नातकोत्तर महिला महाविद्यालय, मेरठ

# उषा यादव के कहानी–संग्रह 'चाँदी की हँसली' में जीवनमूल्य और बदलते सामाजिक संदर्भ

**सारांश :** हिंदी कथा–साहित्य में उषा यादव का रचनात्मक व्यक्तित्व संवेदनशील, यथार्थपरक और मानवीय दृष्टि से संपन्न कथाकार के रूप में सामने आता है। उनके कहानी–संग्रह 'चाँदी की हँसली' में समकालीन समाज के विविध पक्षों के साथ–साथ मानवीय जीवन–मूल्यों की गहन अभिव्यक्ति दिखाई देती है। लेखिका ने सामान्य जीवन की छोटी–छोटी घटनाओं और पारिवारिक एवं सामाजिक संबंधों के माध्यम से उन मूल्यों को रेखांकित किया है, जो मनुष्य के जीवन को सार्थक और मानवीय बनाते हैं।

इस संग्रह की कहानियों में मानवता, करुणा, प्रेम, त्याग, विश्वास, आत्मसम्मान, पारिवारिक उत्तरदायित्व और सामाजिक समानता जैसे जीवन–मूल्य विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुए हैं। विशेष रूप से स्त्री–जीवन से संबंधित कहानियों में स्त्री को केवल पीडित अथवा शोषित पात्र के रूप में प्रस्तुत न करके उसे संवेदनशील, संघर्षशील, आत्मसम्मानी और निर्णय लेने वाली चेतनशील व्यक्तित्व के रूप में चित्रित किया गया है।

साथ ही, कहानियाँ यह भी संकेत करती हैं कि आधुनिक सामाजिक परिवेश में पारंपरिक जीवन–मूल्यों के सामने नई चुनौतियाँ उपस्थित हुई हैं। भौतिकता, स्वार्थ, अंहकार और बदलती पारिवारिक मानसिकता के कारण संबंधों में दूरी उत्पन्न हो रही है। इसके बावजूद ईमानदारी, मानवीयता और संवेदना जैसे मूल्य आज भी मनुष्य और समाज को दिशा देने की क्षमता रखते है। प्रस्तुत आलेख में 'चाँदी की हँसली' की चयनित कहानियों के आधार पर इन्हीं जीवन–मूल्यों का विश्लेषण किया गया है।

**बीज शब्द :** जीवन–मूल्य, मानवीय संवेदना, स्त्री–जीवन, पारिवारिक संबंध, नैतिकता, सामाजिक परिवर्तन, सहनशीलता

साहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं है, बल्कि वह अपने समय, समाज और मनुष्य के जीवन का संवेदनशील दस्तावेज भी होता है। कथा–साहित्य विशेष रूप से सामान्य मनुष्य के सुख–दुःख, संघर्ष, संबंधों, आकांक्षाओं और सामाजिक परिस्थितियों को अभिव्यक्त करने का सशक्त माध्यम है। इसी कारण किसी रचनाकार की कहानियों का अध्ययन केवल कथानक अथवा पात्रों तक सीमित नहीं रहता, बल्कि उनके माध्यम से तत्कालीन और परिवर्तित होते सामाजिक जीवन को भी समझा जा सकता है।

हिंदी कथा–साहित्य में उषा यादव का कथा–लेखन इसी मानवीय दृष्टि के कारण महत्त्वपूर्ण दिखाई देता है। उनका कहानी–संग्रह 'चाँदी की हँसली' समकालीन समाज में स्त्री–जीवन, पारिवारिक संबंधों, सामाजिक रूढ़ियों, आर्थिक दबावों और नैतिक मूल्यों को अत्यंत संवेदनशील ढंग से प्रस्तुत करता है। उनकी कहानियों में जीवन के बाहरी संघर्षों के साथ–साथ पात्रों के भीतर चलने वाले मानसिक और नैतिक द्वंद्व भी दिखाई देते हैं।

लेखिका की कहानियाँ केवल घटनाओं का विवरण नहीं देतीं, बल्कि सामान्य जीवन की घटनाओं के भीतर छिपे जीवन–मूल्यों को सामने लाती हैं। इन कहानियों में यह प्रश्न बार–बार उभरता है कि बदलते हुए सामाजिक परिवेश में मनुष्य अपने संबंधों, उत्तरदायित्वों और नैतिक मूल्यों को किस प्रकार बचाए रख सकता है। इसी दृष्टि से 'चाँदी की हँसली' को जीवन–मूल्यों की अभिव्यक्ति के संदर्भ में देखना महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

**1. स्त्री–जीवन और जीवन–मूल्य** : 'चाँदी की हँसली' की अनेक कहानियों का केंद्र स्त्री–जीवन है। लेखिका स्त्री को केवल पीड़ित और परिस्थितियों से समझौता करने वाली व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत नहीं करतीं, बल्कि उसके भीतर उपस्थित संघर्षशीलता, संवेदनशीलता, आत्मसम्मानन, ममतामयी और निर्णय क्षमता को भी सामने लाती हैं। संग्रह की कहानी 'धीरे–धीरे' में नीलिमा का चरित्र पारिवारिक परिस्थितियों के बीच स्त्री के संघर्ष और सहनशीलता को सामने लाता है, जब नीलिमा अपनी सासु माँ के ताने और बातें सहन करती है और तब उसका पति उसका साथ देते हुए अलग रहने की बात करता है तो वह कहती है कि–"मायके में मां मुझे नहीं डॉटती थीं क्या? पर उनकी डॉट हमेशा शरबत के घूँट की तरह गले में नीचे उतार ली। एक आँसू तक कभी नहीं बहाया और यहाँ आकर अम्मा की बातों पर मुँह लटका लेती हूँ, टपाटप आँसू बहाने लगती हूँ।"[1]

नीलिमा अपने जीवन की कठिन परिस्थितियों को सहन करती है, लेकिन उसके भीतर प्रेम, त्याग और करुणा की भावना समाप्त नहीं होती। यह चरित्र इस बात को रेखांकित करता है कि स्त्री के लिए परिवार केवल सामाजिक संस्था नहीं, बल्कि भावनात्मक उत्तरदायित्व का भी क्षेत्र है।

स्त्री अपने परिवार और संबंधों के लिए अनेक व्यक्तिगत इच्छाओं का त्याग कर देती है ऐसा ही भाव इस संग्रह की कहानी 'हर मोती अनमोल' में दिखाई देता है। मालती कहती है कि–"एक दायिलपूर्ति के सन्तोष को छोड़ दो, तो चुक जाने के पीड़ा भरे अहसास के सिवाय और कुछ नहीं हासिल हुआ। अब तो खैर उम्र निकल गई, पर अठारह–बीस साल के उस भरे यौवन में भी कब चाव से सज–सँवर सकी थी।"[2]

स्त्री सामाजिक मर्यादाओं और पारिवारिक जिम्मेदारियों के बीच संतुलन बनाने का प्रयास करते–करते अपने अस्तित्व, अपनी इच्छाओं को धीरे–धीरे समाप्त कर देती हैं, किंतु लेखिका इस त्याग को केवल विवशता के रूप में प्रस्तुत नहीं करतीं, बल्कि कई प्रंसगों में यह उसके नैतिक निर्णय और संबंधों के प्रति उत्तरदायित्व का प्रतीक बन जाता है।

इस प्रकार उषा जी की स्त्री–पात्रों में त्याग के साथ ममता और संवेदना का संतुलन दिखाई देता है। यही उनकी कहानियों को केवल स्त्री–वेदना की कथा न बनाकर जीवन–मूल्यों की कथा बनाता है।

**2. पारिवारिक संबंधों की संवेदना** : मानव जीवन में परिवार सबसे महत्वपूर्ण है। व्यक्ति के संस्कार, व्यवहार और जीवन–मूल्यों का निर्माण बड़ी सीमा तक पारिवारिक वातावरण में होता है। उषा जी की कहानियों में परिवार इसी कारण केवल पृष्ठभूमि नहीं है, बल्कि जीवन–मूल्यों की परीक्षा का प्रमुख क्षेत्र है।

पारिवारिक संबंधों की संवेदना इन कहानियों का केंद्रीय स्वर है, जहाँ स्त्री–पुरुष, माता–पिता, पुत्र–पुत्री के रिश्तें मानवीय धरातल पर उभरते हैं। वहीं दूसरी ओर इन संबंधों में प्रेम के साथ–साथ टकराव, उपेक्षा और पीड़ा भी उपस्थित हैं। ऐसी ही स्थिति इस संग्रह की कहानी 'चाँदी की हँसली' में मिलती है जिसमें लेखिका दिखाना चाहती है कि स्त्री अपनी सारी अपेक्षाएँ व सपने अपनी संतान और परिवार के लिए समाप्त कर देती है किंतु जब वृध्दावस्था में उसे अपनी संतान की सबसे अधिक आवश्यकता होती है तब वही संतान उस पर सबसे अधिक अत्याचार करने से पीछे नहीं हटती, जब चिरौंजा अपनी चाँदी की हँसली एक गरीब औरत की सहायता के लिए दे देती है तो उसके पुत्र और बहुएँ केवल उस चाँदी की हँसली के बारे में पूछते हैं और उस पर अनेक आरोप भी लगाते है परन्तु चिरौंजा की कोई परवाह तक नहीं करता, यहाँ तक की बहू तो उसे पीटवाने से पीछे नहीं हटती वह कहती है–"लातों के भूत बातों से नहीं मानते।" – पीछे बड़ी बहू की झुँझलाई आवाज गूँजी – "तुम सख्ती से पेश आओ ने। दो हाथ पडेंगे, तो अभी बोल पड़ेगी बुढिया।"[3]

पारिवारिक संबंधों में माता–पिता और संतान का संबंध विशेष महत्त रखता है। माता–पिता अपनी संतान के लिए अनेक संघर्ष करते हैं, किंतु समय के साथ संतान की प्राथमिकताएँ बदल जाती हैं। वर्तमान समय में एकल परिवार बनाकर रहने की मानसिकता अधिकतर व्यक्ति में देखने को मिल जाती है, यही मानसिकता इस संग्रह की कहानी 'अपना आसमान' में देखने को मिलती है जब दीक्षा विवाह करके आती है तो लेखिका के शब्दों में–"दीक्षा नए जमाने की लड़की थी। 'मैं और मेरे पति' तक ही उसने अपने सपने बुने थे। चार–चार ननदों के रूप में किसी फालतू जिम्मेदारी को ढ़ोने में उसकी रुचि नहीं थी।"[4]

दीक्षा बात–बात में चारों को ताने देती और अपने स्वर्गीय सास–ससुर को कोसती रहती थी वह कहती है–"आप तो मरकर ऊपर चले गए। यह बवाल हमारी जान को रोने के लिए छोड़ गए। एक न दो, पूरी चार हैं। इन्हें पार लगाने में हमारी तो जिन्दगी तबाह हो जाएगी।"[5]

इन्हीं तानों के चलते तीन बहने आत्महत्या कर लेती है, ऐसी सीमित मानसिकता रिश्तों को खत्म कर देती है। आज के समय में पारिवारिक संबंध कमजोर होते जा रहे है क्योंकि हमारी संकुचित सोच परिवार को बिखेर रही है। यहाँ पारिवारिक जीवन–मूल्य के रूप में आपसी समझ, संवेदनशीलता और उत्तरदायित्व की कमी स्पष्ट दिखाई देती हैं।

**3. नैतिकता और आत्मबोध** : जीवन–मूल्यों में नैतिकता का विशेष स्थान है। नैतिकता मनुष्य को उचित–अनुचित का विवेक प्रदान करती है और आत्मबोध उसे अपने कार्यों एवं निर्णयों का मूल्यांकन करने की क्षमता देता है। उषा जी की कहानियों में

पात्र कई बार ऐसी परिस्थितियों में पड़ते हैं जहाँ उन्हें अपने स्वार्थ और नैतिक दायित्व के बीच चुनाव करना पड़ता है। यही परिस्थितियाँ उनके व्यक्तित्व की वास्तविक परीक्षा बनती हैं।

उषा जी के इस संग्रह की कहानी 'एक ओर संगम' में मानव– जीवन के महत्वपूर्ण मूल्यों– नैतिकता और आत्मबोध–को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। कहानी के पात्रों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य कई बार अपने अहंकार, बाहरी रूप–रंग अथवा सामाजिक दृष्टि के कारण गलत निर्णय ले लेता है, किंतु समय के साथ उसके भीतर आत्मबोध का विकास हो जाता है और यही आत्मबोध उसे नैतिकता की ओर ले जाता है।

'एक ओर संगम' कहानी के आरम्भ में विकास अपने मित्र आलोक से अपनी पत्नी रत्ना को छिपाना चाहता है क्योकि वह बाहरी रूप–रंग में ज्यादा सुन्दर नहीं थी, उसे यह डर था कि कहीं आलोक उसकी पत्नी को देखकर उसका मजाक न उड़ाए क्योंकि कॉलेज में पढ़ते समय विकास अपनी जीवन–संगिनी के बारे में बहुत बढ़ा–चढ़ाकर बड़ी डींगें हाँकता था वह सोचता है–"रत्ना को सामने बुलाकर क्या वह अपने मन की लज्जा छिपाने के लिए चुल्लू भर पानी पा सकता था ?... छिः, क्या सोचेगा आलोक ? बिना कहे मानेगा नहीं। 'यही काली–कलूटी बीवी लिखी थी तेरे नसीब में ?... कॉलेज में पढ़ते समय तो बड़ी डींगे हाँकते थे बच्चू, कि ऐसी जीवन–संगिनी लाऊँगा, जिसे देखकर दुनिया रश्क करेगी।"[6]

यहाँ विकास की मानसिकता में नैतिक कमजोरी दिखाई देती है, क्योंकि वह अपनी पत्नी रत्ना के बाहरी रूप–रंग के कारण शर्म महसूस करता है। विकास के मन में अपने इस विवाह को लेकर लगातार संघर्ष चलता रहता है, वह अपनी अम्मा को अपने मन में कहता है–"अम्मा को थोक के भाव कोसने का जी चाहता था, जिन्होंने आव देखा न ताव, इकलौते बेटे को अथाह अंधकूप में धकेल दिया।"[7]

यहाँ विकास के मन में चल रहे आत्मिक संघर्ष और आत्मबोध को स्पष्ट देखा जा सकता है। परंतु जब उसे पता चलता है कि उसका मित्र एक चित्र कलाकार की तलाश कर रहा है और वह ओर कोई नहीं उसकी पत्नी है, तब धीरे–धीरे उसे समझ आ जाता है कि जीवन केवल बाहरी सुंदरता या प्रतिष्ठा से नहीं चलता, बल्कि मानवीय संवेदनाओं से चलता है। जब मनुष्य अपनी संकुचित मानसिकता को हराकर अपनी गलतियों को स्वीकार करता है, तभी वह एक बेहतर इंसान बनने की शुरुआत कर देता है। यही आत्मबोध मनुष्य को अपनी भूल स्वीकार करने और अपने व्यवहार में परिवर्तन करने की प्रेरणा देता है। इस अर्थ में नैतिकता स्थिर उपदेश नहीं, बल्कि अनुभव और आत्मचिंतन से विकसित होने वाली जीवन–दृष्टि है।

**4. परिवर्तनशील समाज और नए जीवन–मूल्य** : समाज निरंतर परिवर्तनशील है। समय के साथ सामाजिक संरचनाएँ, पारिवारिक संबंध, जीवन–शैली और मनुष्य की प्राथमिकताएँ बदलती रहती हैं। साहित्य इन परिवर्तनों को संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त करता है।

उषा जी की कहानी 'दो बूँद आँसू' में परिवर्तनशील समाज और नए मूल्यों की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस कहानी में लेखिका ने एक ओर आधुनिक समाज की स्वार्थी प्रवृत्ति और भ्रष्टाचार को दिखाया है, तो दूसरी ओर ईमानदारी और पुराने संस्कार जैसे पारंपरिक मूल्यों को भी महत्व दिया है

चंदन के पिता शम्भू रिक्शा चलाते है। एक बार उनकी रिक्शा में एक महिला सवारी अपना बैग भूल जाती है, उस बैग में पूरे पचास हजार रुपए थे जब शम्भू उस बैग को उस महिला को वापिस लौटा देता है और यह सारी बातें जब वह अपने परिवार को बताता है, तब उसके पुत्र चंदन के मन में समाए लालच के कारण यह बात उसे अच्छी नहीं लगती और वह कहता है–"किसी को किसी की चिंता नहीं, दूसरे का गला कटे तो कटे, अपनी जेब भरी रहनी चाहिए, यह उसूल है आज के आदमी का।"[8]

यह मानसिकता हमारे समाज के एक ऐसे दृश्य को दर्शाती है कि आज मनुष्यों में स्वार्थ और लालच बढ़ रहा है। वह अपने नैतिक मूल्यों से दूर होता जा रहा है। वहीं दूसरी ओर शंभू का चरित्र पुराने और सच्चे मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है। जब उसे रिक्शा में पैसों का बैंग मिलता है, तब भी उसके मन में एक बार भी लालच नहीं आता और वह उस बैंग को उसकी मालकिन को वापस लौटा देता है। वह अपने बेटे से कहता है–"पर तुम्हारे इस बूढ़े – अपढ़ बाप की मजबूरी है कि वह अपने संस्कार नहीं छोड़ सकता। उसने इन्हें घुट्टी में पिया है। हो सके तो उसे उसकी बेवकूफी के लिए माफ कर देना।"[9]

सामाजिक परिवर्तन के बावजूद समाज में आज भी ईमानदारी और नैतिकता जैसे मूल्य जीवित है। शंभू में यह मूल्य हमें देखने को मिलता है। कहानी के अंत में शंभू की ईमानदारी की खबर अखबार में छपती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हमारे समाज में ईमानदारी का सम्मान आज भी किया जाता है। समाज चाहे कितना भी बदल जाए, सच्चे और मानवीय मूल्यों का महत्व कभी भी समाप्त नहीं होता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि उषा जी का कहानी–संग्रह 'चाँदी की हँसली' केवल कहानियों का संकलन नहीं, बल्कि जीवन–मूल्यों की सशक्त अभिव्यक्ति है। इस संग्रह की प्रत्येक कहानी समाज के किसी न किसी पक्ष को उजागर करती है और पाठक को मानवीय संवेदना से जोड़ती है। उनकी कहानियाँ यह समझने के लिए प्रेरित करती हैं कि सामाजिक परिवर्तन आवश्यक है, किंतु परिवर्तन के साथ मानवीयता, नैतिकता, संवेदना और आत्मसम्मान जैसे मूल्यों का संरक्षण भी उतना ही आवश्यक है। इस दृष्टि से 'चाँदी की हँसली' वर्तमान समाज के लिए केवल साहित्यिक पाठ नहीं, बल्कि मानवीय जीवन और सामाजिक चेतना पर विचार करने वाला महत्वपूर्ण कथा–साहित्य बन जाता है।

**सन्दर्भ–सूची** :

1. यादव, उषा, 2024, धीरे–धीरे, चाँदी की हँसलीः कहानी–संग्रह, (प्रथम संस्करण), सुयोग्य प्रकाशन W–116, ग्रेटर कैलाश–1 नई दिल्ली–110048, पृ०12
2. यादव, उषा, 2024, हर मोती अनमोल, चाँदी की हँसलीः कहानी–संग्रह, (प्रथम संस्करण), सुयोग्य प्रकाशन W–116, ग्रेटर कैलाश–1 नई दिल्ली – 110048, पृ० 45
3. यादव, उषा, 2024, चाँदी की हँसली, चाँदी की हँसलीः कहानी–संग्रह, (प्रथम संस्करण), सुयोग्य प्रकाशन W–116, ग्रेटर कैलाश–1 नई दिल्ली–110048, पृ० 39
4. यादव, उषा, 2024, अपना आसमान, चाँदी की हंसलीः कहानी–संग्रह, (प्रथम संस्करण), सुयोग्य प्रकाशन W–116, ग्रेटर कैलाश–1 नई दिल्ली–110048, पृ० 49
5. 5 वहीं, पृ० 50
6. यादव, उषा, 2024, एक और संगम, चाँदी की हँसलीः कहानी संग्रह (प्रथम संस्करण), सुयोग्य प्रकाशन W–116, ग्रेटर कैलाश–1 नई दिल्ली–110048, पृ०14
7. वही, पृ० 15
8. यादव, उषा, 2024, एक बूंद आँसू, चाँदी की हँसलीः कहानी–संग्रह (प्रथम संस्करण), सुयोग्य प्रकाशन W–116, ग्रेटर कैलाश – 1 नई दिल्ली–110048, पृ० 28
9. वहीं, पृ० 28

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-21-23

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 21-23
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**
**डॉ0 भारती**
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, जखोली, (रुद्रप्रयाग)

Corresponding Author :
**डॉ0 भारती**
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, जखोली, (रुद्रप्रयाग)

# संस्कृत साहित्य एवं प्रकृति

**शोध सार :** संस्कृत साहित्य में प्रकृति के पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश प्रमुख पाँच तत्वों को अधिक महत्व दिया है। इन्हीं को दार्शनिक दृष्टि के आधार में ''**पञ्चमहाभूत**'' कहा गया है। संस्कृत साहित्य के वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत की दो धाराएँ हैं। वैदिक साहित्य में प्रकृति एवं मानव को एक ही प्राणतन्त्र के रूप में ही स्वीकारा है। लौकिक साहित्य अन्तर्गत पौराणिक साहित्य में प्राकृतिक घटक को दैविक रूप दिया गया है। प्रकृति के विविध रूप और दृश्य का वर्णन किया है। इन में प्रकृति के प्रति संरक्षण का संदेश दिया गया है। अतः प्रकृति के घटकों को देवता के रूप में स्वीकारना प्रमुख उद्देश्य देखा जाता है। रामायण में प्रकृति के विविध रूपों का वर्णन किया गया है। प्रकृति प्रतिपादन के माध्यम से नैतिक सम्बन्ध को दर्शाया गया है। रामायण और महाभारत उत्तरवर्ती लौकिक संस्कृत सृजनात्मक साहित्य के सभी विधाओं में प्रकृति एवं पर्यावरण के विषय में मुग्ध कण्ठ से चर्चा की गयी है। वैदिक साहित्य से लेकर लौकिक संस्कृत साहित्य के वर्तमान काल तक का अध्ययन किया जाए तो संस्कृत साहित्य में प्रकृति के विविध स्वरूप दिखाते हुए मानवीय चेतनत्व प्रत्यारोपण किया है। प्रकृति में मानवीय चेतनत्व प्रत्यारोपण करते हुए भी जीवात्माओं को जीवन प्रदान करने वाली शक्ति का रूप स्वीकार किया गया है। विशेषतः संस्कृत साहित्य में प्रकृति के उग्र, कोमल एवं शान्ते तीन रूप में विवेचना कि गयी है। इस शोध लेख में विविध दृष्टान्त एवं उदाहरण प्रस्तुत करते हुए, वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य में अभिव्यक्त प्रकृति के उक्त तीनों रूपों को स्पष्ट किया जाएगा।

**शब्द : प्रकृति, सृष्टि, पर्यावरण, पञ्चतत्व, पञ्चमहाभूत, प्राणतन्त्र, उग्र, कोमल, शान्त आदि।**

**संस्कृत साहित्य** में प्रकृति को केवल एक भौतिक संसाधन नहीं, बल्कि जीवन का आधार, देव–तुल्य और मानवीय भावनाओं का सहचर माना गया है। विश्वभर की समस्त प्राचीन भाषाओं में संस्कृत का सर्वप्रथम और उच्च स्थान है। विश्व –साहित्य की पहली पुस्तक ऋग्वेद इसी भाषा का देदीप्यमान रत्न है। भारतीय संस्कृति का रहस्य इसी भाषा में निहित है। साहित्य वह कलात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें मानव अनुभव, भावनाएँ, विचार और संस्कृति शब्दों के सुंदर माध्यम से प्रस्तुत किए जाते हैं। 'साहितस्य भावः साहित्यम् ' यानी साथ–साथ चलने या हित, कल्याण की भावना से जुड़ा हुआ । यह समाज का आईना होता है। यह समाज को सही राह दिखाता है और हमारी संस्कृति को सुरक्षित रखता है।

साहित्य का महत्व :यह हमें खुद को और दुनिया को बेहतर तरीके से समझना सिखाता है। यह हमारी भाषा को मजबूत और सुंदर बनाता है। यह समाज में अच्छे बदलाव लाने की ताकत रखता है। साहित्य शब्द अंग्रेजी शब्द लिटरेचर ( Literature ) का प्र्यायवाची है। हिन्दी में साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति सहित शब्द से हुई है, जिसकी संस्कृत में व्याख्या है– 'सहितेन भावः स साहित्यम् ' हित के भावों से भरे को साहित्य कहते हैं। 'सहित' में 'यत्' प्रत्यय लगाकर साहित्य शब्द बना है। अंग्रेजी लिटरेचर दो अर्थों में प्रयुक्त होता है– 1–व्यापक अर्थ में, 2– संकुचित अर्थ में । व्यापक अर्थ में इसका

आशय समस्त वाङ्ग्मय से होता है। इसके अन्तर्गत सभी विषयों का साहित्य आता है। प्रत्येक प्रकाशित कृति साहित्य कहलाती है। संकुचित अर्थ में साहित्य से आशय रसात्मक साहित्य से होता है। इससे भाषा साहित्य का भी तात्पर्य हो सकता है। उपन्यास, कविता, नाटक, कहानी, गल्प, निबन्ध, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी –साहित्य, गद्यकाव्य आदि सभी विधाओं का इसमें परिगणन होता है। इस प्रकार स्थूलतः हम प्रत्येक हित–साधन करने वाली कृति को साहित्य कह सकतें हैं, पर रूढ़ार्थ में साहित्य शब्द का प्रयोग रसात्मक साहित्य के अर्थ से ही होता है, क्योंकि इसमें भावनाओं का प्राधान्य होता है।

ऋग्वेद काल से लेकर आज तक संस्कृत भाषा के माध्यम से सभी प्रकार के वाङ्ग्मय का निर्माण होता आ रहा है। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी के छोर तक किसी न किसी रूप में संस्कृत का अध्ययन अध्यापन अब तक होता चल रहा है। भारतीय संस्कृति और विचार की धारा का माध्यम होकर भी यह भाषा अनेक दृष्टियों से धर्मनिरपेक्ष ( सेक्यूलर ) रही है। संस्कृत भाषा का साहित्य अनेक अमूल्य ग्रंथरत्नों का सागर है, इतना समृद्ध साहित्य किसी भी दूसरी प्राचीन भाषा का नहीं है और न ही किसी अन्य भाषा की परम्परा अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में इतने दीर्घ काल तक रहने पायी है। अति प्राचीन होने पर भी इस भाषा की सृजन शक्ति कुण्ठित नहीं हुई, इसका धातुपाठ नित्य नये शब्दों को गढ़ने में समर्थ रहा है।

**संस्कृत साहित्य का महत्त्व :** विश्वभर की समस्त प्राचीन भाषाओं में संस्कृत का सर्वप्रथम और उच्च स्थान है। विश्व–साहित्य की पहली पुस्तक ऋग्वेद इसी भाषा का देदीप्यमान रत्न है। भारतीय संस्कृति का रहस्य इसी भाषा में निहित है। संस्कृत का अध्ययन किये बिना भारतीय संस्कृति का पूर्ण ज्ञान कभी सम्भव नहीं है। अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओं की यह जननी है। आज भी भारत की समस्त भाषाएँ इसी वात्सल्यमयी जननी के स्तन्यामृत से पुष्टि पा रहीं हैं। भारतीय भाषाओं को जोड़ने वाली कड़ी यदि कोई भाषा है तो वह संस्कृत ही है। विश्व की समस्त प्राचीन भाषाओं और उनके साहित्य (वाङ्ग्मय) में संस्कृत का अपना विशिष्ट महत्त्व है। यह महत्त्व अनेक कारणों और दृष्टियों से है। भारत के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन एवं विकास के सोपानों की संपूर्ण व्याख्या संस्कृत वाङ्ग्मय के माध्यम से आज उपलब्ध है। सहस्त्राब्दियों से इस भाषा और इसके वाङ्ग्मय को भारत में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त रही है। भारत की यह सांस्कृतिक भाषा रही है। सहस्त्राब्दियों तक समग्र भारत को सांस्कृतिक और भावनात्मक एकता में आबद्ध रखने को इस भाषा ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसी कारण भारतीय मनीषा ने इस भाषा को '**अमरभाषा'** या **'देववाणी'** के नाम से सम्मानित किया है।

**प्रकृति का अर्थ :** प्रकृति ( Nature) वह भौतिक, प्राकृतिक या जगत का स्वरूप है जो मनुष्य द्वारा नहीं बनाया गया है, बल्कि स्वतः अस्तित्व में आया है। 'प्रकृति' संस्कृत शब्द है, जिसका मतलब होता है– **''स्वभाव''** या **''मूल स्वरूप''** । यह वही मूल सत्ता है जिसमें धरती, जल, वायु, अग्नि, आकाश, पेड़–पौधे, जीव– जंतु, ऋतु– चक्र, यहाँ तक कि इंसान का शरीर भी सम्मिलित है। यानी, प्रकृति वह है, जो मनुष्य द्वारा बनाई नहीं गई, बल्कि स्वयं अस्तित्व में आई और जीवन का आधार बनी। प्रकृति का अर्थ और रूप –भौतिक जगत : इसमें पेड़ – पौधे, नदियाँ, पर्वत, झरने, जीव– जंतु और पूरा ब्रह्माण्ड शामिल है। पंचतत्व : मानव शरीर सहित पूरी सृष्टि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्वों से बनी है। स्वभाव : किसी प्राणी या वस्तु का मूल गुण या फितरत भी उसकी 'प्रकृति' कहलाती है।

सांख्य दर्शन के रचयिता महर्षि कपिल ने प्रकृति की परिभाषा दी है कि–**''सत्त्वरजसतमसां साम्यवस्था प्रकृति–''**

अर्थात् सत्त्व रज और तम नामक तीन परमाणुओं से मिलकर जो एक संघात बना है वह प्रकृति है। सरल भाषा में कहें तो जो दृश्यमान जगत या जिससे यह जगत् बना है वह प्रकृति है। इस सम्पूर्ण सृष्टि के तीन कारण हैं। एक निमित्त कारण दूसरा उपादान कारण और तीसरा साधारण कारण। निमित्त कारण वह होता हैजिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने। ईश्वर इस सृष्टि का मुख्य निमित्त और जीव साधारण निमित्त कारण हैं। दूसरा है उपादान कारण है 'प्रकृति ' 'परमाणु' जिसको सब ङसंसार के बनाने की सामग्री कह सकते हैं। वे सभी परमाणु या प्रकृति जड़ है। जिनके द्वारा ईश्वर इस दृश्यमान जगत को बनाता है और जगत् बनाने के बाद जीवात्मा भी अनेक पदार्थों का स्व आवश्यकता अनुसार निर्माण करता है। और तीसरा साधारण कारण निर्माण करने वाले साधनों ( ज्ञान, बल, औजार आदि )को कहते हैं। इस प्रकार साररूप में कह सकते हैं कि जिन परमाणुओं से द्वारा ईश्वर सूर्य पृथ्वी आदि दृश्यमान जगत् को बनाते हैं वे प्रकृति का मूल हैं प्रकृति हैं और यह प्रकृति परिवर्तनशीला है। जो कुछ आंखो से दिखाई दे रहा ह ैवह सब प्रकृति के ही रूप हैं। ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों अनादि हैं। सृष्टि के कारण हैं। कारण का कारण नहीं होता है इसलिए इनको बनाने वाला भी कोई नहीं है।ये तीनों प्रवाह से अनादि हैं।

**प्रकृति क्यों आवश्यक है? :** जीवन का आधार – बिना हवा, पानी और भोजन के कोई जीव नहीं रह सकता। ये सब हमें प्रकृति देती है। संतुलन बनाए रखना – पेड़ कार्बन डाइऑक्साइड को सोखकर ऑक्सीजन देते हैं, नदियाँ प्यास बुझाती हैं, पहाड़ मौसम नियंत्रित करते हैं। मानव का सहारा – दवा, लकड़ी, भोजन, खनिज, ऊर्जा – सब कुछ प्रकृति की गोद से ही आता है। आध्यात्मिक शांति – जब भी इंसान प्रकृति से जुड़ता है, उसका मन शांत और प्रसन्न हो जाता है।

**प्रकृति का महत्व :** यह पृथ्वी पर जीवन का एकमात्र आधार है। वायु, जल और सूर्य हमें जीवित रखने के लिए ऊर्जा प्रदान करते हैं। इसके बिना मानव अस्तित्व की कल्पना असंभव है। प्रकृति शब्द सुनते ही मन में हरियाली, नदियाँ, पहाड़, सूरज की रोशनी, चाँद की ठंडक और पक्षियों की मधुर आवाज गूंज उठती है । परन्तु ''प्रकृति किसे कहते हैं? '' यह केवल पेड़ो – पौधों और पहाड़ों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सम्पूर्ण सृष्टि का आधार है।

**प्रकृति केवल संसाधन नहीं :** इंसान प्रकृति को केवल **''उपयोग की वस्तु''** मानकर उसका दोहन करता है – जंगल काटता है, नदियाँ प्रदूषित करता है, खनिजों का अंधाधुंध शोषण करता है। लेकिन याद रखिए, प्रकृति सिर्फ हमारी जरूरतें पूरी करने का साधन नहीं, बल्कि हमारा अस्तित्व है। यदि प्रकृति न रही तो इंसान का अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाएगा।

**प्रकृति और मनुष्य का रिश्ता :** यह रिश्ता एकतरफा नहीं है जैसे माँ अपने बच्चे की रक्षा करती है, वैसे ही प्रकृति हमें जीवन देती है। लेकिन अगर बच्चा माँ को चोट पहुँचाए तो माँ भी नाराज हो सकती है। इसी तरह यदि हम प्रकृति के साथ अन्याय करेंगे, तो वह जलवायु परिवर्तन बाढ़, सूखा, तूफान और नई बीमारियों के रूप में हमें उसका परिणाम दिखाएगी। प्रकृति वही है जो हमें जीने का सहारा देती है, हमारी सांसों से लेकर हमारी आत्मा तक को पोषित करती है। यह हमारे लिए केवल हरे– भरे पेड़ या पहाड़ नहीं, बल्कि जीवन का आधार, माता और मार्गदर्शक है। यदि हम प्रकृति को बचाएँगें तो वह हमेशा हमें संवारती रहेगी।

संस्कृत साहित्य में प्रकृतिको केवल भौतिक वस्तु की सृजना, आचरण एवं घटनाओं के रूप में वर्णन नहीं किया है। यहाँ प्रकृति को विभिन्न प्रतीक एवं स्वरूप के आधार पर देखा जाता है। साहित्यों में निश्चित किया है, प्रकृति का सुख, दुःख और मोहात्मक स्वभाव होती हैं। इसी स्वभाव के आधार पर प्रकृति का स्वरूप उग्र, कोमल एवं शान्त देखा जाता है। दुःखात्मक अनुभूति व्यक्त के प्रसङ्ग में प्रकृति का उग्र स्वरूप प्रस्तुत किया है। इसी के आधार पर सङ्कट, मृत्यु, समय के विविध विषम चक्र, युद्ध, व्याधि, अनिकाल सङ्केतकिया है। जैसे कि श्रीमद्भगवद गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है **''कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् ''** अथवा मैं वो समय हूँ, जो संसार के संहारक रूप में प्रकट होता हूँ। इस प्रसङ्ग में श्री कृष्ण ने प्रकृति के उग्र रूप का सङ्केत महाप्रलय और समग्र विनाश के रूप में दिया गया है। महाकाव्य एवं पुराणों में महाप्रलय के समय पृथ्वी समुद्र में डूबने और भयङ्कर आँधी एवं तुफान द्वारा पृथ्वी नष्ट होने का उल्लेख किया है। पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश के विशेष कार्य के रूप में व्यक्त किया है। काव्यों में जैसे कि भाष के विविध नाटक, कालिदास के मेघदूत,ऋतुसंहार, कुमारसम्भव, रघुवंश, बाणभट्ट के कादम्बरी, माघ के शिशुपालवध, हर्ष के नैषधीयचरितम्, भट्टनारायण के वेणीसंहारम् नाटक, भवभूति के उत्तररामचरितम् नाटक आदि विभिन्न कृतियों में प्रकृति का उग्र रूप चित्रित है। कृतियों में विषम स्थितियों का प्रतीकात्मक चित्रण प्रस्तुत करने के लिए प्रकृति का उग्र रूप प्रस्तुत किया है।

संस्कृत साहित्य में प्रकृति के शान्त स्वरूप का चित्रण ऋग्वेद, उपनिषद, महाकाव्य, दृश्य काव्य, गद्यकाव्य, खण्डकाव्य लगायत पुराण आदि में पर्याप्त प्राप्त होता है। साहित्यों में प्रकृति के शान्त स्वरूप के माध्यम से जीवनदाता, सुखदाता, सत्कार्य, सद्गुण, आदि का प्रतीकात्मक चित्रण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अथर्ववेद में प्रकृति को माता के रूप में वर्णन किया है और नदियाँ सूर्य, वायु, आकाश, पृथ्वी आदि के माध्यम से शान्तिपूर्ण एवं समृद्ध जीवन का कामना किया है। रामायण में राम के वनवास के दौरान प्रकृति की शान्त स्वरूप का अद्भुत चित्रण प्रस्तुत किया है। महाभारत के वनपर्व और शान्तिपर्व में भी प्रकृति की शान्त स्वरूप चित्रण विशेष पाया जाता है। उपनिषदों में ब्रह्म एवं परमात्मा के एकात्मता की प्रतीकात्मक चित्रण के रूप में प्रकृति के शान्त स्वरूप चित्रित है। काव्य साहित्य एवं दृश्य काव्यों में ऋतुओं, फूलों, वृक्षों, नदियों, आकाश, वायु आदि का सन्तुलित, शान्त एवं मनमोहक स्वरूप चित्रित है। साहित्यों में प्रकृति के शान्त स्वरूप का वर्णन केवल दृश्य रूप में ही नहीं बल्कि अनुभूतिगत रूप में भी किया है। अतः इस तरह की प्राकृतिक स्वरूप के चित्रण से मनोदैहिक प्रभाव व्यक्त होता है। ये कैवल्य, मोक्ष, तप, ज्ञान आध्यात्म, जीवन, आनन्द, शान्ति आदि का प्रतीकात्मक संकेत, स्थिति एवं आदर्श व्यक्त करता है।

**निष्कर्ष :** संस्कृत साहित्य विश्व साहित्य का सर्वप्राचीन, समृद्ध एवं विकसित ज्ञान परम्परा है। जिसमें वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत, आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन और विभिन्न विधा के साहित्य, ज्योतिष, भाष्य, व्याकरण, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, कलाशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि के माध्यम से धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं व्यवहारिक ज्ञान अभिव्यक्त हुई है। यह भारतीय संस्कृति, सभ्यता, दर्शन एवं जीवन पद्धति का महत्वपूर्ण दर्पण एवं ज्ञान भण्डार है। वैदिककाल से लेकर आज तक के संस्कृत साहित्य में प्रकृति का विभिन्न स्वरूप में चित्रण किया है। सृष्टि प्रकृया लेकर संलयन तक का आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण अभिव्यक्त किया है। वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत, दर्शन, विविध साहित्य महाकाव्य, खण्डकाव्य, दृश्यकाव्य, गद्यकाव्य आदि सृष्टि, पर्यावरण, पंचमहाभूत, प्राणतन्त्र और प्रकृति के उग्र, कोमल एवं शान्त स्वरूप का चित्रण पाया जाता है । भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय वेदान्त, न्याय, सांख्य, योग आदि ने सृष्टि की उत्पत्ति एवं प्रकृति के गुणों का गहन अध्ययन किया है। पर्यावरण के प्रति सम्मान और इसके संरक्षण की भावना स्पष्ट व्यक्त किया है। अतः संस्कृत साहित्य के वैदिक काल से लेकर आज तक के साहित्यिक कृतियों पर प्रकृति एवं सृष्टि की महत्व और इसकी विविधता का विवेचन के माध्यम से जीवन के सभी कोण को दर्शाने का प्रयत्न किया है। जीवन, प्रकृति एवं सृष्टि के गहन अध्ययन के माध्यम से एक समस्त रूप प्रदान किया है।

**सन्दर्भ ग्रन्थ :**


1. भगवद् गीता, अध्याय– 11
2. भरत, सन् 2015, नाट्यशास्त्रम्, पारशनाथ द्विवेदी ( मनोरमा व्याख्या )
3. पराशर, कुमार राकेश रोशन एवं किरण वर्मा, सन् 2019, भारतीय वाङ्मय में प्राण और उसका वैज्ञानिक विवेचन, JASRAE
4. वेदव्यास, महाभारत आदि पर्व
5. वेदव्यास, गरूड़ पुराण, उत्तराखण्ड
6. मम्मट, सन् 1998 काव्यप्रकाशः, सत्यव्रतसिंह ( व्याख्या ), वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन
7. अथर्ववेद, पृथ्वीसूक्त, अध्याय 12
8. ईश्वरकृष्ण, सन् 1970, सांख्यकारिका, रमाशङ्करत्रिपाठी ( व्याख्या )वाराणसी : बालकृष्ण त्रिपाठी
9. ऋग्वेद, मण्डल 10
10. सरस्वती, स्वामी दयानन्द https://xn--j2b3a4c.com/rigveda/1/2/6
11. संस्कृत साहित्य एवं प्रकृति Dr.Hemant Kumar Nepal, www.jetir.org(ISSN-2349-5162)
12. संस्कृत साहित्य https://hi.wikipedia.org

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-24-29

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 24-29
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**मीना कुमारी**

शोध छात्रा, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Corresponding Author :

**मीना कुमारी**

शोध छात्रा, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

## पंडित रविशंकर के वाद्यवृंद-सृजन का विश्लेषणात्मक अध्ययन

**सारांश :** भारतीय संगीत के आधुनिक इतिहास में पंडित रविशंकर का योगदान सामान्यतः भारतीय शास्त्रीय संगीत को पश्चिमी जगत तक पहुँचाने और पूर्व-पश्चिम संगीत-संवाद स्थापित करने के संदर्भ में देखा जाता है। किंतु उनके रचनात्मक व्यक्तित्व का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण पक्ष भारतीय वाद्यवृंद (Indian Orchestra) के निर्माण और विकास से संबंधित है, जिसकी चर्चा अपेक्षाकृत कम हुई है। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य रविशंकर के वाद्यवृंद-सृजन को केवल 'फ्यूज़न' या पूर्व-पश्चिम सम्मिश्रण के रूप में देखने के स्थान पर उसके संगीतशास्त्रीय और संस्थागत स्वरूप का परीक्षण करना है।

अध्ययन से स्पष्ट होता है कि रविशंकर का वाद्यवृंद-संबंधी प्रयोग मूलतः तीन स्तरों पर विकसित हुआ—पहला, मैहर की सामूहिक वाद्य-परंपरा से प्राप्त अनुभव; दूसरा, आकाशवाणी के राष्ट्रीय वाद्यवृंद (Vadya Vrinda) के माध्यम से भारतीय वाद्यों को सामूहिक संरचना में संगठित करने का संस्थागत प्रयोग; और तीसरा, पश्चिमी सिम्फनी ऑर्केस्ट्रा के साथ राग, ताल, भारतीय वाद्य-ध्वनि तथा अपनी विशिष्ट रचनात्मक भाषा का संवाद। 1952 में आकाशवाणी के वाद्यवृंद की स्थापना इस विकासक्रम में निर्णायक भूमिका थी। बाद के वर्षों में *Concerto for Sitar and Orchestra*, *Raga-Mala*, *Symphony* और *Sukanya* जैसी रचनाओं में यह प्रयोग क्रमशः व्यापक होता गया। इस दृष्टि से रविशंकर का वास्तविक योगदान पश्चिमी ऑर्केस्ट्रा की नकल करना नहीं, बल्कि भारतीय रागात्मकता और वाद्य-ध्वनि को बड़े सामूहिक वाद्य-संयोजन के लिए नए ढंग से व्यवस्थित करना था।

**प्रमुख शब्द :** रविशंकर, वाद्यवृंद, वाद्य वृंद, आकाशवाणी, राग, ऑर्केस्ट्रेशन, भारतीय संगीत, सिम्फनी, Concerto

**1. प्रस्तावना :** भारतीय शास्त्रीय संगीत की पारंपरिक प्रस्तुति मुख्यतः एकल कलाकार और उसके सीमित संगति-वर्ग पर आधारित रही है। यहाँ राग का विस्तार, स्वर-संस्कार, आलाप, तान, मींड, गमक तथा तात्कालिक सृजन (improvisation) प्रमुख भूमिका निभाते हैं। इसके विपरीत पश्चिमी ऑर्केस्ट्रा की परंपरा अनेक वाद्यों को पूर्वनिर्धारित

संगीत-पाठ (score) के अनुसार एक साथ संगठित करती है। इसलिए भारतीय संगीत को वाद्यवृंदीय रूप देना केवल अनेक वाद्यों को एक साथ बजा देना नहीं था; इसके लिए ध्वनि, स्वर-विन्यास, वाद्य-सीमा, लय और सामूहिक प्रस्तुति की नई समस्याओं का समाधान आवश्यक था।

पंडित रविशंकर इसी चुनौती के महत्त्वपूर्ण रचनाकार थे। उनकी उपलब्धि का मूल्यांकन केवल इस आधार पर नहीं किया जाना चाहिए कि उन्होंने भारतीय संगीत में पश्चिमी वाद्यों का प्रयोग किया। अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि उन्होंने **भारतीय रागात्मक और वाद्यगत संवेदना को बड़े वाद्यवृंद के लिए किस प्रकार पुनर्संगठित किया।** यही इस शोध अध्ययन का केंद्रीय प्रश्न है।

**2. पंडित रविशंकर के वाद्यवृंद ज्ञान की पृष्ठभूमि :** रविशंकर के वाद्यवृंद-संबंधी विचारों की प्रारंभिक पृष्ठभूमि मैहर से जुड़ती है। उस्ताद अलाउद्दीन ख़ाँ ने मैहर में केवल एक विशिष्ट वादन-परंपरा ही विकसित नहीं की, बल्कि सामूहिक वादन के प्रयोग को भी महत्त्व दिया। मध्य प्रदेश शासन के सांस्कृतिक अभिलेखों में भी मैहर की वाद्यवृंद परंपरा को अलाउद्दीन ख़ाँ की प्रमुख उपलब्धियों में गिना गया है।[1]

रविशंकर ने 1930 के दशक में उदयशंकर के दल के साथ यूरोप की यात्रा की और बाद में अलाउद्दीन ख़ाँ से दीर्घकालीन शिक्षा प्राप्त की। इस प्रकार उनके अनुभव में एक ओर भारतीय गुरु-शिष्य परंपरा और दूसरी ओर यूरोपीय संगीत-संस्कृति का प्रत्यक्ष संपर्क साथ-साथ विकसित हुआ। यही द्वंद्व आगे उनके रचनात्मक दृष्टिकोण की विशेषता बना। रविशंकर की दृष्टि में भारतीय संगीत की मौलिकता को बनाए रखते हुए उसे नई सामूहिक संरचना देना आवश्यक था। इसलिए उनके लिए 'Indian Orchestra' का अर्थ पश्चिमी सिम्फनी का भारतीय रूपांतरण मात्र नहीं था।

**3. आकाशवाणी का वाद्यवृंद :** रविशंकर के वाद्यवृंद-सृजन को समझने के लिए 1952 का वर्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। G. C. Awasthy की *Broadcasting in India* में उल्लेख है कि आकाशवाणी का Vadya Vrinda 1952 में 27 वाद्यों के साथ अस्तित्व में आया और इसका वादन notation के आधार पर किया जाता था। इसके हिन्दुस्तानी और कर्नाटक विभाग क्रमशः रविशंकर और टी. के. जयराम अय्यर के निर्देशन में थे।[2] पहली बार भारतीय वाद्यों को एक ऐसी संस्थागत संरचना में रखा जा रहा था जिसमें अनेक कलाकार एक निर्धारित रचना को सामूहिक रूप से प्रस्तुत करते थे। इससे तीन महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए—पहला, भारतीय वाद्यों को उनकी पारंपरिक एकल भूमिका से बाहर निकालकर सामूहिक ध्वनि-संरचना में प्रयोग किया गया। दूसरा, मौखिक परंपरा पर निर्भर भारतीय संगीत को लिखित notation के माध्यम से सामूहिक अभ्यास और पुनर्प्रस्तुति के लिए व्यवस्थित किया गया। तीसरा, रागात्मक सामग्री को एक ऐसे संगीत-संगठन में रूपांतरित किया गया जिसमें विभिन्न वाद्यों की ध्वनि-सीमा और प्रकृति को ध्यान में रखना आवश्यक था।

इस प्रयोग की संस्थागत पुष्टि स्वयं प्रसार भारती के अभिलेखों से होती है। 2015–16 की वार्षिक रिपोर्ट में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि दिल्ली में Vadya Vrinda Unit 1952 में भारतीय धुनों को orchestral compositions के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयोग के रूप में प्रारंभ हुआ और उसके अभिलेखों में रविशंकर सहित अनेक संगीतकारों की रचनाएँ सुरक्षित हैं।[3] अतः रविशंकर के वाद्यवृंद-सृजन का पहला महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि यह केवल व्यक्तिगत प्रयोग नहीं था; यह **भारतीय प्रसारण संस्था के भीतर विकसित हुआ एक संगठित संगीतशास्त्रीय प्रयोग** था।

**4. भारतीय संगीत मर्यादा एवं पंडित रविशंकर का वाद्यवृंद :** रविशंकर के वाद्यवृंद में भारतीय और पश्चिमी दोनों प्रकार के वाद्यों का प्रयोग मिलता है। किंतु इसे केवल 'पूर्व-पश्चिम मिश्रण' कहना पर्याप्त नहीं होगा। पश्चिमी वाद्यों का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य ऐसी ध्वनि-भूमि (sonic body) तैयार करना था जिसे केवल पारंपरिक भारतीय वाद्यों से प्राप्त करना कठिन था।

भारतीय वाद्यों में सितार, सरोद, वीणा, बाँसुरी, सारंगी, शहनाई आदि की अपनी विशिष्ट ध्वनि और स्वर-व्यवस्था है। इनके साथ violin family, cello, double bass अथवा clarinet जैसे वाद्यों का प्रयोग सामूहिक ध्वनि को अधिक व्यापक register और अलग-अलग timbral layers प्रदान कर सकता था।

यहाँ रविशंकर का दृष्टिकोण उल्लेखनीय था। उन्होंने भारतीय संगीत को पश्चिमी संगीत में विलीन करने के बजाय दोनों की विशिष्टताओं को एक साथ रखने का प्रयास किया। इसीलिए उनके वाद्यवृंद में पश्चिमी वाद्य केवल 'विदेशी रंग' देने के लिए नहीं, बल्कि **ध्वनि-विस्तार, register, texture और orchestral balance** के साधन के रूप में दिखाई देते हैं।

**5. राग और वाद्यवृंदीय संरचना :** रविशंकर की सबसे बड़ी चुनौती यह थी कि पश्चिमी ऑर्केस्ट्रा की सामूहिक संरचना को स्वीकार करते हुए राग की पहचान को कैसे सुरक्षित रखा जाए।

पश्चिमी harmony में अनेक स्वरों का vertical संबंध अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है, जबकि हिन्दुस्तानी संगीत का मूल संगठन melodic और modal है। राग की पहचान केवल scale से नहीं, बल्कि वादी-संवादी, प्रमुख-अल्प स्वर, आरोह-अवरोह, पकड़, स्वर-संस्कार और भावात्मक व्यवहार से निर्मित होती है।

रविशंकर की रचनाओं में इसीलिए रागात्मक सामग्री को पूर्णतः पश्चिमी harmonic system के अधीन नहीं किया गया। विशेषतः उनके sitar concertos में राग को रचना की पहचान के केंद्रीय तत्व के रूप में रखा गया। यहाँ उनका उद्देश्य दो संगीत-भाषाओं में से किसी एक को समाप्त करना नहीं था, बल्कि दोनों के बीच एक कार्यशील संबंध बनाना था।

**6. आकाशवाणी की रचनाएँ :** रविशंकर के वाद्यवृंदीय योगदान का मूल्यांकन करते समय उनकी आकाशवाणी-कालीन रचनाओं को केवल प्रारंभिक प्रयोग मानकर आगे बढ़ जाना उचित नहीं है। प्रसार भारती के अभिलेखों में उनके Vadya Vrinda compositions संरक्षित हैं। 2013–14 की वार्षिक रिपोर्ट में *Orchestral Composition (Vol. 2) Pt. Ravi Shankar* के अंतर्गत *Awakening, Gaon Ki Gori, Adi Basant, Rangavali* और *Kari Badariya* जैसी रचनाएँ सूचीबद्ध हैं।[4]

इन रचनाओं का महत्त्व इस बात में है कि यहाँ रविशंकर ने भारतीय संगीत-सामग्री को प्रारंभ से ही ensemble thinking के आधार पर व्यवस्थित किया। अर्थात् वाद्यवृंद उनके लिए बाद में पश्चिमी ऑर्केस्ट्रा के साथ जुड़ने वाली चीज नहीं था; उसकी प्रयोगात्मक नींव भारत में ही पड़ चुकी थी।

**7. *West Meets East* :** 1966 में रविशंकर और प्रसिद्ध वायलिन वादक येहुदी मेनुहिन ने Abbey Road के Studio Three में साथ रिकॉर्डिंग की। Abbey Road के अभिलेख के अनुसार दोनों ने जुलाई 1966 में रिकॉर्डिंग की और उससे निकला *West Meets East* 1967 में प्रकाशित हुआ।[5]

यहाँ वाद्यवृंद का प्रश्न अपेक्षाकृत सीमित था, किंतु संगीत-संवाद की दृष्टि से यह अनुभव अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। सितार और पश्चिमी violin को समान स्तर के रचनात्मक संवाद में रखना आगे चलकर बड़े ensemble के साथ रविशंकर के प्रयोगों के लिए महत्त्वपूर्ण अनुभव बना। इस प्रयोग की विशेषता यह थी कि 'East' और 'West' को किसी एक संयुक्त शैली में घोलने की अपेक्षा दोनों की अपनी संगीत- की स्थिति में रखा गया।

**8. *कंसर्टो फॉर सितार एंड आर्केस्ट्रा :*** रविशंकर का पहला सितार कंसर्टो इस विकासक्रम की निर्णायक उपलब्धि है। यह रचना London Symphony Orchestra के लिए commissioned हुई और 1971 में André Previn के निर्देशन में रिकॉर्ड हुई।[6] इसके चार गति संरचना क्रमशः राग खमाज, सिंधी भैरवी, अड़ाना और मांझ खमाज पर आधारित हैं।[7]

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आता है। रविशंकर ने कंसर्टो का पश्चिमी ढाँचा स्वीकार किया, किंतु उसकी

संगीतात्मक सामग्री को भारतीय रखा। सितार केवल एक 'solo instrument' नहीं रह जाता, बल्कि वह पूरे orchestral environment के भीतर भारतीय राग-संवेदना का प्रतिनिधि बनता है।

इस रचना में भारतीय संगीत की तात्कालिकता और पश्चिमी orchestral planning के बीच तनाव भी दिखाई देता है। यही तनाव इस कंसर्टो को केवल fusion composition बनने से बचाता है। इसमें प्रश्न यह नहीं है कि कौन-सी संगीत-भाषा विजयी होती है; प्रश्न यह है कि दोनों की कार्यप्रणालियाँ एक ही रचना में किस सीमा तक सह-अस्तित्व रख सकती हैं।

**9. *राग माला :*** दूसरे सितार कंसर्टो *रागमाला* में रविशंकर की वाद्यवृंदिय विचार और अधिक व्यापक रूप ग्रहण करती है। Los Angeles Philharmonic के आधिकारिक विवरण के अनुसार यह रचना 1980 में composed हुई और अप्रैल 1981 में Zubin Mehta तथा New York Philharmonic के साथ premiered हुई। इसमें 29 राग चार बड़े movements में व्यवस्थित हैं।[8]

यहाँ रागों की संख्या मात्र प्रदर्शनात्मक विस्तार नहीं है। यह रविशंकर के उस विचार की ओर संकेत करती है जिसमें भारतीय राग-समय, राग-स्वभाव और अलग-अलग melodic identities को एक बड़े orchestral narrative में संगठित किया गया।

*Raga-Mala* में orchestral writing पहले concerto की तुलना में अधिक जटिल है। फिर भी राग इसकी संरचना का मूल आधार बना रहता है। इस प्रकार रविशंकर ने यह दिखाने का प्रयास किया कि भारतीय राग-व्यवस्था बड़े orchestral form में भी अपनी पहचान बनाए रख सकती है।

**10. *सिंफनी* :** 2010 में रविशंकर की *सिंफनी* का premiere London Philharmonic Orchestra के साथ हुआ। LPO के आधिकारिक अभिलेख के अनुसार यह रविशंकर की पहली ऐसी सिंफनी थी जिसकी परिकल्पना Western symphony orchestra के लिए की गई थी; डेविड मर्फी ने इसका संचालन किया और अनुष्का शंकरने sitar बजाया।[9]

यहाँ रविशंकर का प्रयोग एक नए चरण में प्रवेश करता है। अब वे केवल भारतीय वाद्य को पश्चिमी orchestra के भीतर रखने की कोशिश नहीं कर रहे थे, बल्कि भारतीय संगीत की ध्वनि शास्त्र को पाश्चात्य वाद्यवृंद तकनीक के भीतर पुनर्संगठित कर रहे थे।

इस रचना को इसलिए उनके पूरे वाद्यवृंदीय विकास की परिणति के रूप में देखा जा सकता है। फिर भी इसे पश्चिमी सिंफनी के मानकों पर पूर्णतः परखना उचित नहीं होगा। इसकी सार्थकता इस बात में अधिक है कि भारतीय राग विचार ने बहुस्वर विधि के साथ किस प्रकार संवाद किया।

**11. *सुकन्या* :** रविशंकर की अंतिम महत्त्वपूर्ण वृहद् रचनात्मक परियोजनाओं में *सुकन्या* का स्थान विशेष है। यह उनका ओपेरा था, जिसका वर्ड प्रीमियर प्रोडक्शन 2017 में हुआ और जिसे London Philharmonic Orchestra ने भारतीय पारंपरिक वाद्यों के कलाकारों के साथ प्रस्तुत किया।[10]

यहाँ भारतीय और यूरोपीय संगीत-परंपराओं का संबंध केवल वाद्य–रंग तक सीमित नहीं रहता। कथानक, गायन, वाद्यवृंदिय, भारतीय वाद्य और पश्चिमी वाद्यवृंद मिलकर एक नाट्य-संगीत संरचना बनाते हैं।

इस प्रकार *सुकन्या* को रविशंकर के वाद्यवृंदीय चिंतन के अंतिम विस्तार के रूप में देखा जा सकता है—जहाँ भारतीय संगीत केवल किसी पश्चिमी संरचना का अतिथि नहीं है, बल्कि रचना की संरचनात्मक भाषा का सक्रिय भाग बन जाता है।

**12. फ्यूज़न एवं पंडित रविशंकर का वाद्यवृंद चिंतन :** रविशंकर के संगीत को 'East-West fusion' कहना आसान है, किंतु यह शब्द उनके वाद्यवृंदीय योगदान की पूरी जटिलता को व्यक्त नहीं करता। *Shankar Family & Friends*

के आधिकारिक पुनर्प्रकाशन विवरण में भी 1974 के इस प्रकल्प को भारतीय, pop, classical और jazz प्रभावों को मिलाने वाला तथा 30 से अधिक पूर्वी और पश्चिमी वाद्यों वाला प्रयोग बताया गया है।[11]

किन्तु वाद्यवृंद के संदर्भ में रविशंकर की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह नहीं थी कि उन्होंने अधिक वाद्य एकत्र कर दिए। उनकी वास्तविक उपलब्धि थी—**भारतीय संगीत की राग मर्यादा को बनाए रखते हुए उसे वाद्य वृंद विचार में प्रवेश देना।**

रविशंकर का प्रयोग राग ताल एवं वाद्यवृंदिय तकनीक इन तीनों को एक साथ लेकर चलता है।

**13. निष्कर्ष :** पंडित रविशंकर के वाद्यवृंद-सृजन को केवल भारतीय और पश्चिमी संगीत के सम्मिश्रण के रूप में देखना उनके योगदान को सीमित कर देना होगा। उनके प्रयोग की जड़ें भारतीय सामूहिक वादन की परंपरा और मैहर के अनुभवों में थीं; 1952 में आकाशवाणी के वाद्यवृंद ने उन्हें संस्थागत रूप प्रदान किया; *West Meets East* ने अंतर-सांस्कृतिक chamber dialogue को विस्तार दिया; *Concerto for Sitar and Orchestra* और *Raga-Mala* ने भारतीय राग-संरचना को बड़े पश्चिमी orchestra के साथ जोड़ा; और *Symphony* तथा *सुकन्या* ने इस प्रयोग को व्यापक orchestral तथा नाट्य-संगीत संरचनाओं तक पहुँचाया।

इस पूरे विकासक्रम को देखने पर रविशंकर की उपलब्धि को तीन शब्दों में संक्षेपित किया जा सकता है—**राग, ध्वनि और संरचना।**

उन्होंने राग को छोड़ा नहीं, बल्कि उसे नई संरचनाओं में रखा; भारतीय वाद्यों की पहचान को समाप्त नहीं किया, बल्कि उन्हें नए ध्वनि-संदर्भ दिए; और पश्चिमी orchestra को केवल अनुकरण की वस्तु न मानकर एक रचनात्मक माध्यम के रूप में ग्रहण किया।

इसलिए भारतीय वाद्यवृंद के इतिहास में रविशंकर का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि उन्होंने भारतीय संगीत के लिए एक ऐसा क्षेत्र निर्मित किया जिसमें **एकल राग-संगीत सामूहिक वाद्य-संरचना के साथ संवाद कर सकता था, बिना अपनी मूल संगीतात्मक पहचान को पूरी तरह खोए।**
यही उनके वाद्यवृंदीय चिंतन की सबसे स्थायी उपलब्धि है।

**पाद टिप्पणी :**

1. Government of Madhya Pradesh, Department of Culture, "Maihar," District Maihar cultural information, Government of Madhya Pradesh.
2. G. C. Awasthy, *Broadcasting in India* (Bombay: Allied Publishers, 1965), 268 pp. Awasthy's account specifically records the establishment of the A.I.R. Vadya Vrind in 1952 with 27 instruments and its Hindustani and Karnatak sections under Ravi Shankar and T. K. Jayarama Iyer.
3. Prasar Bharati, *Annual Report 2015–16*, section concerning Vadya Vrinda Units. The report states that the Delhi Vadya Vrinda was started in 1952 as an experiment in presenting Indian melodies as orchestral compositions and that compositions of Ravi Shankar and other composers are preserved in All India Radio archives.
4. Prasar Bharati, *Annual Report 2013–14*, "Orchestral Composition (Vol. 2) Pt. Ravi Shankar," listing *Awakening, Gaon Ki Gori, Adi Basant, Rangavali,* and *Kari Badariya*. The annual-report archive is maintained by Prasar Bharati.

5. Abbey Road Studios, "Abbey Road 90: Ravi Shankar and Yehudi Menuhin Record 'West Meets East'," 10 July 2021. The archival account records the July 1966 Abbey Road sessions and the subsequent 1967 release.
6. Ravi Shankar, André Previn, and London Symphony Orchestra, *Concerto for Sitar and Orchestra*, Parlophone/EMI, 1971. Warner Classics identifies the work as commissioned by the London Symphony Orchestra in 1970 and recorded in 1971 with André Previn.
7. *Shankar: Concerto for Sitar and Orchestra No. 1*, Ravi Shankar, André Previn, London Symphony Orchestra, 1971. The official digital catalogue lists the four movements as Raga Khamaj, Raga Sindhi Bhairavi, Raga Adana, and Raga Manj Khamaj.
8. Los Angeles Philharmonic, "Sitar Concerto No. 2, 'Raga Mala' (West Coast premiere)." The official work note records composition in 1980, New York Philharmonic premiere with Zubin Mehta in April 1981, and 29 ragas distributed across four movements.
9. London Philharmonic Orchestra, *Ravi Shankar: Symphony*. The official LPO record identifies the premiere recording as having been made at Royal Festival Hall on 1 July 2010, conducted by David Murphy with Anoushka Shankar on sitar, and describes it as Shankar's first symphony conceived for a Western symphony orchestra.
10. London Philharmonic Orchestra, *Shankar's Sukanya*. The LPO identifies it as Ravi Shankar's only opera and records the world-premiere production with the LPO, Indian instrumentalists and David Murphy.
11. Dark Horse Records, "Shankar Family & Friends." The official record-label description identifies the album as originally released in 1974, produced by George Harrison, and involving more than 30 instruments from Indian and Western traditions.

**संदर्भ-सूची :**

1. Awasthy, G. C. *Broadcasting in India*. Bombay: Allied Publishers, 1965.
2. London Philharmonic Orchestra. *Ravi Shankar: Symphony*. LPO–0060. London Philharmonic Orchestra, 2012.
3. London Philharmonic Orchestra. *Shankar's Sukanya*. London Philharmonic Orchestra.
4. Los Angeles Philharmonic. "Sitar Concerto No. 2, 'Raga Mala'." Los Angeles Philharmonic, work catalogue.
5. Prasar Bharati. *Annual Report 2013–14*. New Delhi: Prasar Bharati.
6. Prasar Bharati. *Annual Report 2015–16*. New Delhi: Prasar Bharati.
7. Shankar, Ravi. *Raga Mala: The Autobiography of Ravi Shankar*. Guildford: Genesis Publications, 1997. ISBN 0-904351-46-7.
8. Shankar, Ravi, André Previn, and London Symphony Orchestra. *Concerto for Sitar and Orchestra*. EMI/Parlophone, 1971.
9. Abbey Road Studios. "Abbey Road 90: Ravi Shankar and Yehudi Menuhin Record 'West Meets East'." 10 July 2021.
10. Dark Horse Records. "Shankar Family & Friends." Dark Horse Records.

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-30-33

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 30-33
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**
**डॉ० ज्योति विश्वकर्मा**
सहायक आचार्य, जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग राज्य विश्वविद्यालय, चित्रकूट, उ. प्र.

Corresponding Author :
**डॉ० ज्योति विश्वकर्मा**
सहायक आचार्य, जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग राज्य विश्वविद्यालय, चित्रकूट, उ. प्र.

## संगीत, साहित्य और संस्कृति के माध्यम से प्रकृति–चेतना : समकालीन शिक्षा के संदर्भ में एक विमर्श

**सारांश :** *प्रकृति मानव जीवन की आधारभूत आवश्यकता होने के साथ–साथ उसकी सृजनात्मक एवं सांस्कृतिक चेतना की महत्वपूर्ण प्रेरणास्रोत रही है। भारतीय परंपरा में प्रकृति के प्रति संवेदना केवल धार्मिक या दार्शनिक चिंतन तक सीमित नहीं रही, बल्कि साहित्य, संगीत और विविध सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों में भी इसका व्यापक स्वरूप दिखाई देता है। भारतीय साहित्य में ऋतु, नदी, पर्वत, वनस्पति, वर्षा और जीव–जगत के माध्यम से प्रकृति के विविध रूपों तथा मानवीय भावनाओं का चित्रण मिलता है। इसी प्रकार संगीत में प्रकृति का संबंध ऋतु, समय, भाव और लोकजीवन से स्थापित होता है। लोक संगीत एवं लोक साहित्य में प्रकृति दैनिक जीवन, कृषि, उत्सव और सामुदायिक अनुभवों के साथ सहज रूप से जुड़ी हुई दिखाई देती है। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य संगीत, साहित्य और संस्कृति में अभिव्यक्त प्रकृति–बोध का विश्लेषण करते हुए उसके समकालीन शैक्षिक संदर्भ को स्पष्ट करना है। वर्तमान समय में बढ़ते पर्यावरणीय संकट, शहरीकरण और प्रकृति से मनुष्य की बढ़ती दूरी के बीच केवल पर्यावरण संबंधी जानकारी पर्याप्त नहीं है, बल्कि प्रकृति के प्रति संवेदनशील दृष्टिकोण विकसित करना भी आवश्यक है। इस संदर्भ में संगीत और साहित्य भावनात्मक एवं सौंदर्यात्मक स्तर पर प्रकृति से जुड़ने का प्रभावी माध्यम प्रदान करते हैं, जबकि संस्कृति इस संवेदना को सामूहिक स्मृति और जीवन–मूल्यों से जोड़ती है। समकालीन शिक्षा में संगीत, साहित्य और स्थानीय सांस्कृतिक परंपराओं के समन्वित प्रयोग द्वारा विद्यार्थियों में प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता, सांस्कृतिक उत्तरदायित्व और पर्यावरणीय चेतना विकसित की जा सकती है। अतः यह अध्ययन प्रकृति–चेतना को केवल पर्यावरणीय विषय न मानकर संगीत, साहित्य, संस्कृति और शिक्षा के परस्पर संबंधों से निर्मित मानवीय एवं सांस्कृतिक चेतना के रूप में देखने का प्रयास करता है।*

**सूचक शब्द :** संगीत, साहित्य, संस्कृति, प्रकृति–चेतना, लोक संगीत, लोक साहित्य, पर्यावरणीय संवेदना, समकालीन शिक्षा।

**भूमिका :** प्रकृति मानव जीवन की आधारभूत शक्ति होने के साथ–साथ उसकी सृजनात्मक, भावनात्मक और सांस्कृतिक चेतना की महत्वपूर्ण प्रेरणास्रोत रही है। मानव सभ्यता का विकास प्रकृति के साथ निरंतर संवाद और सह–अस्तित्व की प्रक्रिया में हुआ है। जल, वायु, भूमि, वनस्पति, नदियाँ, पर्वत, ऋतुएँ तथा जीव–जगत ने न केवल मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा किया, बल्कि उसकी कल्पना, संवेदना और जीवन–दृष्टि को भी प्रभावित किया। मनुष्य ने प्रकृति के साथ अपने अनुभवों को भाषा, साहित्य, संगीत, कला और विभिन्न सांस्कृतिक परंपराओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया। इस प्रकार प्रकृति मानव की सांस्कृतिक यात्रा का एक महत्वपूर्ण आधार रही है। भारतीय जीवन–दृष्टि में प्रकृति को मनुष्य से अलग और केवल उपयोग की वस्तु के रूप में नहीं देखा गया, बल्कि उसके साथ आत्मीय एवं सह–अस्तित्वपूर्ण संबंध स्थापित किया गया। भारतीय चिंतन और

परंपराओं में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश जैसे प्राकृतिक तत्वों के प्रति सम्मान की भावना दिखाई देती है। ऋतुचक्र, कृषि, नदियों, वृक्षों और जीव–जगत से संबंधित अनेक परंपराएँ भारतीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का हिस्सा रही हैं। यही प्रकृति–सापेक्ष दृष्टिकोण भारतीय साहित्य और संगीत में भी विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। साहित्य प्रकृति को शब्दों और कल्पना के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रभावी माध्यम रहा है। भारतीय साहित्य में प्रकृति का चित्रण केवल उसके बाहरी सौंदर्य तक सीमित नहीं है। प्रकृति कभी मानवीय भावनाओं की सहचरी बनती है, कभी प्रेम और विरह की अभिव्यक्ति का माध्यम, तो कभी जीवन और सृष्टि के व्यापक दर्शन का प्रतीक। ऋतु, वर्षा, वसंत, नदी, पर्वत, वन और पशु–पक्षियों के माध्यम से साहित्य ने प्रकृति और मानव मन के बीच गहरे संबंध को अभिव्यक्त किया है। लोक साहित्य में यह संबंध और अधिक सहज दिखाई देता है, क्योंकि लोकजीवन अपने स्थानीय प्राकृतिक परिवेश से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा रहा है। संगीत भी प्रकृति और मानव संवेदना के बीच एक सशक्त सेतु का कार्य करता है। भारतीय संगीत परंपरा में प्रकृति, ऋतु, समय और भाव के बीच संबंध को विशेष महत्व प्राप्त है। शास्त्रीय संगीत में जहाँ विभिन्न रागों का संबंध ऋतु और भाव से जोड़ा गया है, वहीं लोक संगीत में प्रकृति का संबंध दैनिक जीवन, कृषि, श्रम और उत्सवों से प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है। वर्षा, सावन, वसंत, फसल, नदी, खेत और स्थानीय प्राकृतिक परिवेश से जुड़े लोकगीत इस बात के उदाहरण हैं कि प्रकृति लोक संगीत के कथ्य और भाव–जगत का अभिन्न हिस्सा रही है। संगीत प्रकृति को केवल वर्णित नहीं करता, बल्कि उसे अनुभूत और संवेदित करने का अवसर भी प्रदान करता है। संगीत और साहित्य में अभिव्यक्त प्रकृति–बोध जब सामाजिक जीवन और परंपराओं से जुड़ता है, तो वह सांस्कृतिक चेतना का रूप ग्रहण करता है। पर्व–त्योहार, कृषि–परंपराएँ, लोकाचार, लोकविश्वास और सामुदायिक उत्सव प्रकृति के साथ मानव संबंधों को पीढ़ी–दर–पीढ़ी आगे बढ़ाते रहे हैं। लोकगीतों में सुरक्षित स्थानीय भाषा, जीवन–पद्धति, प्रकृति संबंधी अनुभव और सामुदायिक स्मृतियाँ किसी क्षेत्र की सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस प्रकार संस्कृति प्रकृति, संगीत और साहित्य से प्राप्त अनुभवों को सामूहिक जीवन से जोड़ने का कार्य करती है। वर्तमान समय में तीव्र शहरीकरण, औद्योगीकरण, तकनीकी विकास और बदलती जीवन–शैली के कारण मनुष्य का प्रकृति से प्रत्यक्ष एवं आत्मीय संबंध कमजोर होता जा रहा है। पर्यावरण प्रदूषण, जल–संकट, वनों का ह्रास, जैव–विविधता में कमी और जलवायु परिवर्तन जैसी समस्याएँ मानव और प्रकृति के बीच संतुलित संबंध स्थापित करने की आवश्यकता को और अधिक महत्वपूर्ण बनाती हैं। ऐसी परिस्थिति में केवल पर्यावरण संबंधी वैज्ञानिक जानकारी पर्याप्त नहीं है। प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता, जिम्मेदारी और आत्मीयता विकसित करना भी आवश्यक है। इस संदर्भ में समकालीन शिक्षा की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। शिक्षा व्यक्ति में ज्ञान के साथ–साथ संवेदनशीलता, मूल्य–बोध और सामाजिक उत्तरदायित्व विकसित करती है। यदि संगीत, साहित्य और स्थानीय सांस्कृतिक परंपराओं को शैक्षिक प्रक्रिया से जोड़ा जाए, तो विद्यार्थियों को प्रकृति के साथ अपने संबंध को समझने का अवसर मिल सकता है। प्रकृति–आधारित लोकगीतों, साहित्यिक रचनाओं और सांस्कृतिक परंपराओं के माध्यम से पर्यावरणीय चेतना को केवल सूचना के स्तर पर नहीं, बल्कि भावनात्मक और अनुभवात्मक स्तर पर भी विकसित किया जा सकता है। साथ ही, लोक संगीत और लोक साहित्य शिक्षा को स्थानीय परिवेश से जोड़ने का अवसर प्रदान करते हैं। विद्यार्थी अपने क्षेत्र के लोकगीतों, लोककथाओं और सांस्कृतिक परंपराओं के माध्यम से वहाँ की प्रकृति, भाषा और जीवन–पद्धति को समझ सकते हैं। इससे उनमें अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति सम्मान के साथ–साथ अन्य क्षेत्रों की सांस्कृतिक विविधता के प्रति भी स्वीकार्यता विकसित होती है। इस प्रकार शिक्षा सांस्कृतिक संरक्षण और प्रकृति–संवेदना, दोनों को सुदृढ़ करने का माध्यम बन सकती है।

**भारतीय परंपरा में प्रकृति–बोध :** भारतीय परंपरा में प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण मूलतः सम्मान, सह–अस्तित्व और आत्मीयता पर आधारित रहा है। प्राचीन भारतीय चिंतन में पंचमहाभूतों–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश को जीवन के आधारभूत तत्व माना गया है। नदियों, पर्वतों, वृक्षों तथा विभिन्न जीव–जंतुओं के प्रति सम्मान की भावना भारतीय सांस्कृतिक जीवन में विभिन्न रूपों में दिखाई देती है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रकृति को केवल संसाधन न मानकर जीवन–व्यवस्था का अभिन्न अंग समझा गया। ऋतुचक्र का प्रभाव भी भारतीय जीवन और संस्कृति में व्यापक रहा है। विभिन्न ऋतुओं के अनुसार खान–पान, वेशभूषा, उत्सव और कृषि संबंधी गतिविधियों में परिवर्तन होता रहा है। इसी कारण ऋतु और प्रकृति भारतीय साहित्य, संगीत तथा लोकपरंपराओं के महत्वपूर्ण विषय बने। वसंत, वर्षा और शरद जैसी ऋतुओं से संबंधित साहित्यिक एवं संगीतात्मक अभिव्यक्तियाँ प्रकृति के प्रति भारतीय संवेदना को दर्शाती हैं। लोक परंपराओं में प्रकृति का संबंध और अधिक प्रत्यक्ष दिखाई देता है। कृषि, वर्षा, जल, वन और स्थानीय जीव–जगत से जुड़े गीत एवं रीति–रिवाज प्रकृति पर निर्भर जीवन–पद्धति को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार भारतीय परंपरा में प्रकृति–बोध केवल विचार या दर्शन नहीं, बल्कि जीवन–व्यवहार, कला और संस्कृति में अभिव्यक्त एक जीवंत चेतना रहा है। समकालीन संदर्भ में इसी प्रकृति–सापेक्ष दृष्टि को समझना महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह मनुष्य और प्रकृति के बीच संतुलित संबंध स्थापित करने के लिए सांस्कृतिक आधार प्रदान कर सकती है।

**साहित्य में प्रकृति–चेतना :** भारतीय साहित्य में प्रकृति का स्थान अत्यंत व्यापक और महत्वपूर्ण रहा है। प्रकृति को केवल दृश्य–सौंदर्य के रूप में प्रस्तुत करने के स्थान पर साहित्य ने उसे मानव जीवन और भावनाओं से जोड़कर देखा है। ऋतुओं, वर्षा, वसंत, नदियों, पर्वतों, वनस्पतियों और पशु–पक्षियों के माध्यम से साहित्यकारों ने प्रकृति और मनुष्य के बीच स्थापित आत्मीय संबंध को अभिव्यक्त किया है।प्राचीन भारतीय साहित्य में ऋतु और प्राकृतिक परिवेश का विस्तृत वर्णन मिलता है। संस्कृत साहित्य में प्रकृति मानवीय भावनाओं की सहचरी के रूप में दिखाई देती है। आगे चलकर हिंदी साहित्य में भी प्रकृति ने प्रेम, विरह, सौंदर्य, करुणा और जीवन–दर्शन की अभिव्यक्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आधुनिक साहित्य में प्रकृति के प्रति बदलते मानवीय दृष्टिकोण और पर्यावरणीय चिंताएँ भी साहित्यिक अभिव्यक्ति का हिस्सा बनी हैं। लोक साहित्य में प्रकृति

का संबंध सामान्य जनजीवन से अधिक निकट है। लोकगीतों में वर्षा, सावन, खेत, नदी, पेड़–पौधे और पक्षियों के माध्यम से लोकसमुदाय की भावनाएँ और जीवनानुभव व्यक्त होते हैं। यहाँ प्रकृति और मनुष्य के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं दिखाई देताय दोनों एक–दूसरे के जीवन का हिस्सा हैं। इस प्रकार साहित्य प्रकृति के प्रति केवल ज्ञान नहीं, बल्कि संवेदना और आत्मीयता विकसित करता है। जब प्रकृति साहित्यिक अनुभव के माध्यम से मनुष्य के भाव–जगत से जुड़ती है, तो उसके संरक्षण और सम्मान की भावना भी अधिक गहरी हो सकती है। यही साहित्यिक प्रकृति–बोध समकालीन शिक्षा में पर्यावरणीय संवेदना विकसित करने के लिए उपयोगी आधार प्रदान करता है।

**संगीत में प्रकृति–चेतना :** संगीत मनुष्य की भावनाओं और प्रकृति के बीच संवाद स्थापित करने वाली सशक्त कला है। भारतीय संगीत परंपरा में प्रकृति का संबंध स्वर, लय, ऋतु, समय और भाव से विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। प्रकृति के परिवर्तित रूपों ने संगीतकारों की कल्पना और सृजन को निरंतर प्रभावित किया है। भारतीय शास्त्रीय संगीत में ऋतु और संगीत का संबंध विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वसंत और वर्षा जैसी ऋतुओं से संबंधित रागों और संगीतात्मक परंपराओं में प्रकृति के वातावरण तथा उससे उत्पन्न भावों को स्वर दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय संगीत में प्रकृति केवल बाहरी दृश्य नहीं, बल्कि भावानुभूति का आधार भी रही है। लोक संगीत में प्रकृति का संबंध और अधिक सहज एवं जीवनपरक दिखाई देता है। वर्षा, सावन, वसंत, कृषि, फसल, नदी, पर्वत, पशु–पक्षी तथा स्थानीय परिवेश से जुड़े लोकगीत प्रकृति के साथ लोकसमुदाय के प्रत्यक्ष संबंध को व्यक्त करते हैं। इन गीतों में प्राकृतिक घटनाएँ मानवीय भावनाओं और सामुदायिक अनुभवों से जुड़ जाती हैं। संगीत की विशेषता यह है कि वह प्रकृति को केवल शब्दों के माध्यम से नहीं, बल्कि स्वर और ध्वनि के अनुभव के माध्यम से भी व्यक्त करता है। इसलिए संगीत के माध्यम से प्रकृति के प्रति भावात्मक जुड़ाव अधिक प्रभावशाली ढंग से विकसित किया जा सकता है। समकालीन शिक्षा में प्रकृति–आधारित लोकगीतों और संगीत परंपराओं का प्रयोग विद्यार्थियों में पर्यावरणीय संवेदना, सांस्कृतिक जागरूकता और सौंदर्यबोध विकसित करने में सहायक हो सकता है। इस प्रकार संगीत प्रकृति–चेतना को ज्ञान से आगे बढ़ाकर अनुभूति और संवेदना में परिवर्तित करने की क्षमता रखता है।

**संगीत, साहित्य और संस्कृति का अंतर्संबंध :** संगीत, साहित्य और संस्कृति तीनों मानव जीवन की सृजनात्मक चेतना के महत्वपूर्ण आयाम हैं। साहित्य जहाँ अनुभवों और भावनाओं को शब्द प्रदान करता है, वहीं संगीत उन्हें स्वर और लय के माध्यम से अनुभूत कराता है। संस्कृति इन दोनों अभिव्यक्तियों को सामाजिक जीवन, परंपराओं और सामूहिक स्मृतियों से जोड़ती है। इस प्रकार तीनों एक–दूसरे के पूरक हैं। भारतीय लोक परंपरा में यह संबंध विशेष रूप से स्पष्ट दिखाई देता है। लोकगीतों में साहित्यिक कथ्य और संगीतात्मक अभिव्यक्ति का स्वाभाविक समन्वय मिलता है। विवाह, जन्म, पर्व–त्योहार, कृषि तथा ऋतु से जुड़े गीतों में स्थानीय जीवन, प्रकृति और सांस्कृतिक परंपराएँ एक साथ अभिव्यक्त होती हैं। इस कारण लोकगीत किसी क्षेत्र की संस्कृति और प्रकृति दोनों को समझने का महत्वपूर्ण माध्यम बन जाते हैं। साहित्य और संगीत जब प्रकृति को अभिव्यक्ति देते हैं, तो वह केवल सौंदर्य का विषय नहीं रहती, बल्कि मानवीय संवेदना और सांस्कृतिक अनुभव का हिस्सा बन जाती है। वर्षा, वसंत, नदी, पर्वत या पक्षियों जैसे प्राकृतिक प्रतीक साहित्य में भावों को व्यक्त करते हैं और संगीत उन्हें श्रव्य अनुभव प्रदान करता है। इस प्रकार प्रकृति शब्द, स्वर और सांस्कृतिक स्मृति के माध्यम से मानव चेतना का हिस्सा बनती है। यह अंतर्संबंध शिक्षा के लिए भी महत्वपूर्ण है। संगीत और साहित्य के माध्यम से विद्यार्थियों को प्रकृति एवं संस्कृति से जोड़ना शिक्षा को अधिक अनुभवात्मक और संवेदनशील बना सकता है। इस प्रकार संगीत, साहित्य और संस्कृति मिलकर प्रकृति–चेतना के विकास का प्रभावी आधार निर्मित करते हैं।

**प्रकृति–चेतना और समकालीन शिक्षा :** समकालीन शिक्षा का उद्देश्य केवल विषयगत ज्ञान प्रदान करना नहीं, बल्कि विद्यार्थियों में संवेदनशीलता, मूल्य–बोध और सामाजिक उत्तरदायित्व विकसित करना भी है। वर्तमान पर्यावरणीय परिस्थितियों में प्रकृति के प्रति जागरूक और जिम्मेदार दृष्टिकोण विकसित करना शिक्षा का महत्वपूर्ण दायित्व बन गया है। इस संदर्भ में संगीत, साहित्य और संस्कृति को शिक्षा से जोड़ना प्रभावी हो सकता है। प्रकृति–आधारित साहित्यिक रचनाएँ विद्यार्थियों में प्रकृति के प्रति संवेदना विकसित कर सकती हैं, जबकि लोकगीत एवं संगीत उन्हें प्रकृति से भावनात्मक रूप से जोड़ते हैं। स्थानीय पर्व–त्योहार, लोक परंपराएँ और सांस्कृतिक गतिविधियाँ विद्यार्थियों को अपने परिवेश और सांस्कृतिक विरासत से परिचित कराती हैं। शिक्षण प्रक्रिया में स्थानीय लोकगीतों, प्रकृति–आधारित कविताओं और क्षेत्रीय सांस्कृतिक परंपराओं को शामिल करके अनुभवात्मक एवं रचनात्मक शिक्षा को बढ़ावा दिया जा सकता है। विद्यार्थी किसी लोकगीत को केवल गाने के बजाय उसके शब्दों में व्यक्त प्रकृति, उसके सांस्कृतिक संदर्भ और उसमें निहित जीवन–मूल्यों को समझ सकते हैं। इस प्रकार संगीत, साहित्य और संस्कृति के समन्वय से शिक्षा विद्यार्थियों में प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता के साथ–साथ सांस्कृतिक विविधता के प्रति सम्मान भी विकसित कर सकती है। ऐसी शिक्षा ज्ञान को जीवन और परिवेश से जोड़ते हुए प्रकृति–सम्मत एवं उत्तरदायी नागरिकता के निर्माण में सहायक हो सकती है।

**शिक्षा में संगीत और साहित्य का प्रयोग :** समकालीन शिक्षा में संगीत और साहित्य को केवल अलग–अलग विषयों के रूप में देखने के बजाय उन्हें अनुभवात्मक अधिगम के माध्यम के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। प्रकृति से संबंधित लोकगीत, कविताएँ और साहित्यिक रचनाएँ विद्यार्थियों को अपने प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक परिवेश से जोड़ने में सहायक हो सकती हैं। शिक्षक स्थानीय लोकगीतों के माध्यम से ऋतु, वर्षा, कृषि, जल, वनस्पति और जीव–जगत जैसे विषयों पर चर्चा कर सकते हैं। इसी प्रकार प्रकृति–आधारित कविताओं को संगीतबद्ध करके विद्यार्थियों में साहित्यिक संवेदना और संगीतात्मक अभिव्यक्ति दोनों का विकास किया जा सकता है। इससे विभिन्न विषयों के बीच अंतर्विषयी संबंध भी स्थापित होते हैं। ऐसी गतिविधियों में विद्यार्थियों की सक्रिय भागीदारी उन्हें केवल जानकारी प्राप्त करने के बजाय प्रकृति को अनुभव करने और उसके प्रति

संवेदनशील होने का अवसर देती है। साथ ही स्थानीय लोकगीतों और परंपराओं से परिचय उनकी सांस्कृतिक पहचान को भी सुदृढ़ करता है। अतः संगीत और साहित्य का शैक्षिक प्रयोग ज्ञान, संवेदना और सृजनात्मकता को एक साथ विकसित करने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

**संरक्षण की आवश्यकता और संभावनाएँ :** आधुनिकता, शहरीकरण और वैश्वीकरण के प्रभाव से पारंपरिक संगीत, लोक साहित्य और सांस्कृतिक परंपराओं में निरंतर परिवर्तन हो रहा है। नई पीढ़ी का अपने स्थानीय परिवेश और पारंपरिक अभिव्यक्तियों से संबंध कम होने के कारण अनेक लोकगीत और लोकपरंपराएँ धीरे–धीरे सीमित होती जा रही हैं। इसके साथ ही प्राकृतिक परिवेश में हो रहे परिवर्तन भी उन सांस्कृतिक परंपराओं को प्रभावित कर रहे हैं, जिनका आधार ऋतु, कृषि, जल और स्थानीय जीवन रहा है। ऐसी स्थिति में संगीत, साहित्य और संस्कृति से जुड़े प्रकृति–बोध का संरक्षण आवश्यक है। इसके लिए लोकगीतों एवं लोक साहित्य का दस्तावेजीकरण, स्थानीय कलाकारों और समुदायों की सहभागिता तथा डिजिटल माध्यमों का उपयोग किया जा सकता है। शैक्षिक संस्थानों में स्थानीय लोकपरंपराओं पर आधारित परियोजनाओं, कार्यशालाओं और सांस्कृतिक गतिविधियों को बढ़ावा देना भी उपयोगी होगा। लोक परंपराओं का संरक्षण केवल उनके पुराने स्वरूप को सुरक्षित रखना नहीं, बल्कि उनके मूल भाव, सांस्कृतिक संदर्भ और प्रकृति से जुड़े ज्ञान को नई पीढ़ी तक पहुँचाना है। इस दिशा में शिक्षा एक महत्वपूर्ण माध्यम बन सकती है, जो परंपरा और आधुनिकता के बीच संतुलित संवाद स्थापित करे।

**निष्कर्ष :** प्रकृति और मानव जीवन का संबंध भारतीय चिंतन, साहित्य, संगीत और संस्कृति में गहराई से विद्यमान रहा है। साहित्य ने प्रकृति को शब्द और कल्पना दी, संगीत ने उसे स्वर और अनुभूति प्रदान की तथा संस्कृति ने इन अनुभवों को सामूहिक जीवन और परंपराओं से जोड़ा। विशेष रूप से लोक संगीत और लोक साहित्य में प्रकृति दैनिक जीवन, ऋतुचक्र, कृषि और सामुदायिक अनुभवों के साथ सहज रूप से जुड़ी दिखाई देती है। वर्तमान समय में बढ़ते पर्यावरणीय संकट और प्रकृति से मनुष्य की दूरी के कारण इस प्रकृति–बोध को पुनः समझने की आवश्यकता है। संगीत और साहित्य प्रकृति के प्रति केवल जानकारी नहीं, बल्कि संवेदना और आत्मीयता विकसित करने की क्षमता रखते हैं। संस्कृति इस संवेदना को सामूहिक स्मृति और जीवन–मूल्यों से जोड़ती है। समकालीन शिक्षा में इन तीनों के समन्वित प्रयोग से विद्यार्थियों में पर्यावरणीय जागरूकता के साथ सांस्कृतिक चेतना, सौंदर्यबोध और सामाजिक उत्तरदायित्व विकसित किया जा सकता है। अतः संगीत, साहित्य और संस्कृति को शिक्षा से जोड़ना प्रकृति–चेतना के विकास का प्रभावी माध्यम बन सकता है। इस प्रकार प्रकृति–चेतना केवल पर्यावरण संरक्षण का विषय नहीं, बल्कि मनुष्य के जीवन, संवेदना और संस्कृति से जुड़ा व्यापक प्रश्न है। संगीत, साहित्य और शिक्षा के माध्यम से प्रकृति के साथ स्थापित आत्मीय संबंध को पुनर्जीवित करना वर्तमान और आने वाली पीढ़ियों के लिए एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक एवं शैक्षिक आवश्यकता है।

**सन्दर्भ सूची :**


1. शर्मा, मनोरमा. Folk India: A Comprehensive Study of Indian Folk Music and Culture- Vol- 1- प्रथम संस्करण. नई दिल्ली : Sundeep Prakashan 2004.
2. देवा, बी. चैतन्य. The Music of India: A Scientific Study- पुनर्मुद्रित संस्करण. नई दिल्ली : Munshiram Manoharlal 1980
3. भातखंडे, विष्णु नारायण. हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति : क्रमिक पुस्तक मालिका. हाथरसरू संगीत कार्यालय.
4. नायर, सोभना. Bhatkhande's Contribution to Music: A Historical Perspective- प्रथम संस्करण. मुंबई : Popular Prakashan 1989.
5. रानाडे, अशोक दामोदर. Hindi Film Song: Music Beyond Boundaries. नई दिल्ली : Promilla & Co. 2006.
6. द्विवेदी, हजारीप्रसाद. हिन्दी साहित्य रू उद्भव और विकास. नई दिल्लीरू राजकमल प्रकाशन।
7. अग्रवाल, वासुदेवशरण. लोक जीवन और संस्कृति. वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन.
8. श्रीवास्तव, वीणा. भारतीय लोक संगीत : संरक्षण, संवर्धन एवं संभावनाएँ. द्वितीय/नवीन संस्करण. दिल्ली : Radha Publications 2025.


•

ज्ञानविविधा
कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 34-38
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. रामशंकर**

प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवम मंच कलामंच कला संकाय, काशी हिंदू विश्व विद्यालय, वाराणसी

Corresponding Author :

**डॉ. रामशंकर**

प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवम मंच कलामंच कला संकाय, काशी हिंदू विश्व विद्यालय, वाराणसी

## रामरंग संगीत रामायण एवं रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन : नारद मोह प्रसंग के विशेष संदर्भ में

**शोध सारांश :** 20वीं सदी के महान् वाग्येयकार, संगीत मनीषी पंडित रामाश्रय झा 'रामरंग' जी की सुप्रसिद्ध कृति "रामरंग संगीत रामायण" गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा रचित श्री रामचरितमानस को अवलम्ब मानकर लिखी गई संगीत क्षेत्र की कालजयी रचना है।

इसमें अनेकानेक प्रसंगों के माध्यम से शास्त्रीय रागों और तालों में निबद्ध कई रचनाओं को संजोया गया है। नारद मोह प्रसंग में भी अनेक रागों और तालों में निबद्ध रचनाएं हैं जो समाज को आनंदानुभूति तो कराती ही है साथ ही साथ शिक्षा और संदेश भी प्रदान करती हैं ।

नारद मोह प्रसंग की समस्त बंदिशों और मानस की चौपाइयों के अध्ययन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति को अपने जीवन में अहंकार नहीं करना चाहिए क्योंकि एक कहावत है कि - 'गुमान गोपालहिं भावत नाहीं' अर्थात् भगवान को किसी का अहंकार अच्छा नहीं लगता है वह उसको किसी भी प्रकार से नष्ट कर ही देते हैं। अहंकार न करने का संदेश देता हुआ रहीम जी का भी एक प्रसिद्ध दोहा है-

बड़े बड़ाई ना करें, बड़े न बोले बोल।
रहिमन हीरा कब कहे, लाख टका है मोल ।।

नारद मोह प्रसंग का शुभारम्भ मानस में-

हिमगिरि गुहा एक अति पावन।
बह समीप सुरसरि सुहावन ।।

इस चौपाई के साथ होता है। इसी चौपाई को आश्रय बनाकर के पंडितजी ने भी अपनी संगीत रामायण में नारद मोह प्रसंग की शुरुआत की है उनकी बंदिश इस प्रकार है -

स्थाई- देख सुहागन गिरी गुहा पावन,
नारद भजन लीन, श्राप गति बाधी ।
अंतरा- मघवा मलीन मन, मनसिज पठायो,
करि जतन हारे काम, टूटी ना समाधि ।।

उपर्युक्त रचना राग शुद्ध सारंग ताल झपताल में निबद्ध है। ऐसी अनेक रचनाओं को इस शोध में प्रस्तुत किया गया है।

**सूचक शब्द** - रामायण, सुहावन,गिरी गुहा, श्राप, मघवा, मन्मथ आदि।

"रामरंग संगीत रामायण" एवं श्री रामचरितमानस में नारद मोह का शुभारंभ गिरी गुहा इस शब्द से है गिरी गुहा अर्थात पर्वत की गुफाएं दोनों आचार्य चरण गिरी गुहा शब्द से यह संदेश समाज को दे रहे हैं कि शांति और ज्ञान की जो ज्योति है वह एकांत में ही प्राप्त होती है इसलिए पर्वत श्रृंखला का उदाहरण दोनों ही आचार्य ने गिरी गुहा यह कहकर के स्पष्ट किया है।

**राग शुद्ध सारंग** - झपताल में-

स्थाई-: देख सुहावन गिरि गुहा पावन,
नारद भजन लीन श्राप गति वाधी।

अंतरा - मघवा मलीन मन मनसिज पठायो,
करि जतन हारे काम टूटी न समाधी।

मानस में आया है कि - हिमगिरि गुहा एक अति पावन। बह समीप सुरसरि सुहावन ।।
सुमिरत हरिहि श्राप गतिबाधी। सहज विमल मन लागि समाधि ।।
मुनि गति देखि सुरेस डेराना। कामहि बोलि कीन्ह सन्माना ।।
काम कला कछू मुनिहि न व्यापी। निज भव डरिऊ मनोभव पापी ।।

कामदेव इंद्र के द्वारा प्रेरित होकर के नारद जी के समक्ष आता है अपने बहु प्रकार यत्न करके उनकी समाधि को भंग नहीं कर पाता है। तब नारद जी प्रसन्न होकर के शिव जी के पास जाते हैं, भगवान शंकर नारद जी को यह कहते हैं कि जैसे आपने यह कथा मुझे सुनाई है भगवान विष्णु को मत सुनाना। प्राय: हम लोग भी अपने लोक जीवन में अपने गुरुओं की आज्ञा का अवहेलना करते हैं तथा उसके दुष्परिणाम हम सभी को भोगने पड़ते हैं।

**राग वसंत** - त्रिताल, मध्यलय-

स्थाई- मनमथ मान मथे रिषि राई ।
मान भयो मन शिव बरजे नहिं माने हरि सो जाइ सुनाई ।।

अंतरा - मनसिज कहा करे तुम्हरो मुनि, हरि बोले मुस्काई,
मुनिहित कारण रचे रामरंग, विश्वमोहिनी नारी ।

गोस्वामी तुलसीदास जी श्री रामचरितमानस में लिखते हैं कि-

तब नारद गवने शिव पाही। जिता काम अहमित मन माहीं ।।
मार चरित संकरहि सुनाए। अतिप्रिय जान महेस सिखाए ।।
तेहिपुर वसहिं सील निधि राजा। अगनित हय गन सेन समाजा ।।
विश्व मोहिनी तासु कुमारी। श्री विमोह जिस रुप निहारी ।।

**राग - बहार, ताल – झपताल-**

स्थायी: नारद मोहे कुँवरि देखि। देखे हाथ अनोखे रेखि ॥
अंतरा: जाके बाम बसै यह नारी। ताके वश देव ब्रह्मा त्रिपुरारी ॥

श्रीरामचरितमानस में नारद मोह के प्रसंग से जुड़ी हैं-

चौपाइयां इस प्रकार है:- देखि रुप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी ॥
सेवइँ सकल चराचर ताही। 'वरहिं शीलनिधि कन्या जाही ।।।

उपर्युक्त प्रसंग में नारद जी भगवान विष्णु के पास जाते हैं और विष्णु जी को यह अनुभव हो जाता है कि नारद जी को अभिमान हो गया है एक सच्चे हितैषी का लक्षण यही है कि वह आपका हमेशा हित ही सोचेगा वह आपके जितने भी क्रियाकलाप होंगे उसके जीवन के वह सारे आपके हित में ही समर्पित होंगे। भगवान विष्णु ने भी नारद जी का अभिमान नष्ट करने के लिए माया के द्वारा एक सुंदर नगर बनाया और उसमें एक राजकुमारी है जिसको देखकर के नारद जी मोहित हो जाते हैं उन्होंने काम को पहले जीता था अब यहां काम से पराजित होने के लक्षण दृष्टिगोचर होने

लगे हैं।

**राग: तिलंग** - ताल- त्रिताल

स्थाई - विनती करि माँगे रूप हरि ।
नारद मन सुधि नाही रही ॥

अन्तरा - मुनि को रूप दियो मरकट को।आपुहिं कुँवारि बरी ।
रामरंग मुनि बिकल मनहुँ मणि।छूट गई गठरी ॥

मानस में चौपाइयाँ इस प्रकार हैं -

जप तप कछूँ न होई यहि काला। हे विधि मिले कवन विधि बाला ॥
हरी सन माँगो सुंदरताई। होइहिं जात गहरु अति भाई। ।
दुलहिन ले गए सब लच्छ निवासा। नृप समाज सब भयउ निरासा ॥
मुनि मँह अति बिकल मोह मति नाठी। मनि गिर गयी छूट जनु गाँठी ॥

भगवान विष्णु ने नारद जी को बंदर का रूप दिया इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान सारे रूपों के धनी हैं वे किसी भी रूप को देकर के आपका अप्रत्यक्ष रूप से हित साधन करते हैं। यहां पर भगवान आते हैं एवं राजकुमारी को विश्व मोहिनी को विवाह करके लेकर चले जाते हैं।

नारद जी को यहां पर क्रोध भी आ जाता है संदेश यह है कि व्यक्ति कितना भी बड़ा हो सकता है लेकिन परम सत्ता से बड़ा नहीं हो सकता है थोड़े ही देर में नारद जी काम और क्रोध के वशीभूत हो गए।

**श्याम कल्याण** - त्रिताल मध्यमलय

स्थाई : हर गण कहैहु मुनिहि समुझाई।
मुकुर माहिं अपनो मुख देखहुं अपनी सुन्दरताई ।।

अन्तरा: रूप निहारि भए श्री हर मुनि दियो श्राप रिसियायी ।
मम परिहास कियो तुम दोउन होऊ निशाचर जाई ।।

मानस : तब हरगन बोने मुसकाई। निज मुख मुकुर विलोकहुं जाई ।।
वेष विलोक क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहि सराप दीन्ह अति गाढ़ा ।।

एक दोहा इस प्रकार है- होऊ निशाचर जाइ तुम्ह, कपटी पापी दोऊ ।
ऐसहु हमहि लेहु फल बहुरी हँसेहु मुनि कोऊ ॥

भगवान के जाने के बाद नारद जी को क्रोध आया और वहां पर नारद जी का उपहास कर रहे शंकर जी के दो गण थे उनको नारद जी ने श्राप दे दिया कि तुम जाओ और राक्षस की योनि में जन्म लोगे।

इससे यह संदेश भी मिलता है कि हमको अपने से श्रेष्ठ महापुरुषों के प्रति परिहास का बर्ताव नहीं रखना चाहिए उनसे सदैव सेवाभाव रखना चाहिए।

**राग नट**- एकताल-

स्थाई- बारि निहारे कपि आकृति कपि आकृति निज नारद गये बौराई ।

अन्तरा - अटपट कहत जाय हरि ढिग मुनि बोले अति रिसियाई ॥

मानस में उद्धरण - पुनिजल दीख रूप निज पावा। तदपि हृदय संतोष न आवा ।।
फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं ।।

नारद जी क्रोध के वशीभूत होकर के भगवान के पास जाते हैं आचार्य यहां पर कहते हैं कि जब क्रोध आए तो विवेक से काम लेना चाहिए।

यहां पर नारद जी विवेक शून्य हो गए हैं कुछ भी बोलते हुए अशुद्ध व असभ्य भाषा का प्रयोग करते हुए भगवान के धाम जा रहे हैं।

**राग कामोद** – त्रिताल-

स्थाई- तुमहो स्वारथ के साधक,
तुम् देखि न सकहूँ सुखी तुम काहु को
सबके सुख मह बाधक ।।

अन्तरा 1 - जोई भावे सोई करहुँ सदा तुम
शंक रहित जनघातक, अब उघरी तुम्हरी बानक

अन्तरा 2 - असुर सुरा बिष शंकर दीन्हें,
आप रमा मणि सुंदर,
कपटी कुटिल महा बहुरूपी अवगुन के, हो समुन्दर,
तुम नहि विश्वास के लायक ।।

रामचरितमानस में इस प्रकार लिखा गया है : दोहा-

असुर सुरा विष संकरहिं, आप मा मणिचारु ।
स्वारथ साधक कुटिलं तुम्ह, सदा कपर व्यवहार ।।

नारद जी भगवान को कुटिल, कपटी, स्वार्थी आदि शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं और कह रहे हैं कि अापने बंदर का मुख मेरा बनाया है बंदर ही आपकी सहायता करेंगे।

भगवान मुस्करा रहे हैं नारद जी श्राप दे रहे हैं जो विषम परिस्थितियों में भी मुस्कुरा सके वस्तुतः भगवान वही है। जो काम क्रोध विकारों के अधीन हो जाए वह जीव है जीव ब्रह्म का सबसे बड़ा पार्थक्य यही है कि जीव काम क्रोध मद लोभ मोह विकारों के अधीन होता है किंतु परमात्मा इसे परे होता है

**राग सोहिनी** - त्रिताल (मध्य)

स्थाई- तुम जेहि तन मोहि ठगे ।
सोई तन धररु श्राप मम ऐसो, त्रिया विरह दुख लगे ।।

अन्तरा - मरकट मुख मेरो तुम कीन्हे सोई सहाय करे ।
रामरंग हरि श्राप धर्यो सिर
जन को मान हरे, ऐसो कोऊन सुहृद सगे ।।

मानस मे गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं कि-

बँचेऊ मोहि जनि घरि देहा। सोई तनु धरऊ श्रममय ऐहा ।।
कपि आकृति तुम कीन्ह हमारी। करिहाई कीस सहाय हुमारी ।।
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि विरह तुम्ह होउ दुखारी ।।

पंडित जी यहां पर कहते हैं कि ऐसो कोऊ ना सरजसेज ऐसा अपना कौन सा कहा है जो चुपचाप आपकी बात को सुन ले और हंसते हुए आप पर प्रतिक्रिया व्यक्त न करें एक केवल और केवल भगवान कर सकते हैं यह उनसे सागा उनसे अपनात्व रखने वाला उन जैसा संपूर्ण ब्रह्मांड में कोई नहीं है सारी जितने भी शराब नारद जी ने दिए सबको भगवान ने अपने शीश पर धारण कर लिया ।

**राग-खमाज**-त्रिताल-

स्थाई - हरि जब माया लीन्छ निवारी,
धाये धरे नारूद हरि पद, कहि छमिए चूक हमारी ।

अन्तरा - मैं दुर्वचन कहे बहुतेरे, केहि विधि पाप मिटै
जपहुँ जाय शत नाम पुरारी को,
आनन्द हृदय भरे, श्राप यह मेरो है हितकारी।

मानस में- जब दूरी माया दूर निवारी। नहि तह रमा न राजकुमारी ।।
तब सुनि अति समीत दूरी चरना। गहें पाहिं प्रनतारति हरना ।।
जपहूँ जाइ संकर सत नामा। होइहै हृदय तुरत विश्रामा ।।

श्राप देने के बाद भगवान ने अपनी माया को हटाया तो वहां ना वह राजकुमारी रही और नारद जी के जो आंखों पर आज्ञा की काम की क्रोध की पट्टी बनी हुई थी वह भगवान ने हटा ली और नारद जी पूर्ण अवस्था को प्राप्त हुए तब भगवान के चरणों में प्रणाम करते हुए भगवान की कथा अनुसार शंकर जी का जाप करने के लिए जंगल की ओर निकल गए।

**राग-पूर्वी** - त्रिताल -मध्यलय-

स्थाई : मुनि मग चले भुजन में लीन,
त्रसित श्राप आये दोऊ हरगन वचन कहेऊ अति दीन ।

अंतरा : मैं अपराध कियो फल पायो, मिटे पाप किमि मेरे कहिए नाथ उपाय
अनाथ हूँ पाप मैं तेरे शरणागत, द्रवित होये बोले संत प्रवीण ।।

श्री रामचरितमानस में इस प्रकार है :

हरगन हम न विप्र मुनिराया। बड़ अपराध कीन्ह फैल पाया ।।
श्राप अनुग्रह करहु कृपाला। बोले नारद दीनदयाला ।।

जब भगवान के कथनानुसार नारद जी जंगल की ओर जा रहे थे तब दोनों हर गण जिनको नारद जी ने पूर्व में श्राप दिया था कि तुम राक्षस हो जाओ वह मार्ग में मिले उनसे नारद जी ने कहा कि भगवान के हाथों तुम्हारा उद्धार होगा वास्तव में संत का सबसे बड़ा लक्षण यही है कि श्राप भी दे और वरदान भी उसका संतत्व उसी में निहित है।

**निष्कर्ष :** निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि राम रंग संगीत रामायण एवं श्री रामचरितमानस के नारद मोह प्रसंग में बहुत सारी शिक्षाएं हैं की एक भक्त को कैसा होना चाहिए? भगवान को कैसा होना चाहिए ? अभिमान नहीं करना चाहिए। जीवन को किस प्रकार जीना चाहिए। काम के वशीभूत नहीं होना चाहिए, क्रोध के वशीभूत नहीं होना चाहिए। किसी का उपहास नहीं करना चाहिए सदैव गुरुजनों व आचार्य जनों की सेवा करनी चाहिए तथा भगवान व शास्त्रों के कहे हुए मार्ग पर चलना चाहिए।

'जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिए' की भावना सदा अपने हृदयस्थ करना चाहिए। परमात्मा की इच्छा को प्रथमतया रखना चाहिए।

श्री रामचरितमानस को आश्रित करके लिखी गई रामरंग संगीत रामायण में अनेक बंदिशों एवं रागों के माध्यम से रस वैविध्य का दर्शन होता है।

जहां जिस प्रकार के भाव प्रकट होते है पंडित जी ने उस प्रकार के रागों का चयन करके बंदिशों की रचना की है। जो श्रोताओं के हृदय को अत्यंत आह्लाद प्रदान करते हैं तथा भौतिक आनंद के साथ-साथ परमार्थ का पृथ प्रदर्शित होता है।

"रामरंग संगीत रामायण" में गोस्वामी तुलसीदास जी की रामचरितमानस को केंद्रित करके बालकांड से लेकर उत्तर कांड तक संपूर्ण रामचरित के दर्शन रागों तालों व बंदिशों के माध्यम से होते हैं। श्रीरामचरितमानस का जो स्थान आज आध्यात्मिक जगत में है वही स्थान संगीत जगत में पंडित रामाश्रय झां कृत रामरंग संगीत रामायण का है। दोनों ही ग्रंथ मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचंद्र जी के गुणगणों का वर्णन करते हैं।

**संदर्भिका :**

रामरंग संगीत रामायण - पंडित रामाश्रय रामरंग
श्रीरामचरितमानस- गोस्वामी तुलसीदास

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-39-43

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 39-43
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**अमित कुमार जायसवाल**

रिसर्च स्कालर (हिन्दी), आईसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग, झारखंड

**शोध निर्देशक :**

**डॉ. ओम प्रकाश दास**

सहायक प्राध्यापक (हिन्दी विभाग), आईसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग, झारखंड

Corresponding Author :

**अमित कुमार जायसवाल**

रिसर्च स्कालर (हिन्दी), आईसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग, झारखंड

# श्रीकांत वर्मा का समग्र लेखन : साहित्य, संस्कृति, इतिहास-बोध एवं समकालीन चेतना के संदर्भ में

**सारांश :** श्रीकांत वर्मा आधुनिक हिंदी साहित्य के बहुआयामी रचनाकार हैं। उनकी साहित्यिक पहचान मुख्यतः कवि के रूप में स्थापित हुई, किंतु उनका रचनात्मक संसार कविता तक सीमित नहीं है। भटका मेघ, मायादर्पण, दिनारंभ, जलसाघर और मगध उनके प्रमुख काव्य-संग्रह हैं, जबकि झाड़ी, संवाद, दूसरी बार, जिरह, अपोलो का रथ तथा फैसले का दिन उनकी अन्य साहित्यिक विधाओं में सक्रियता को दर्शाते हैं। बीसवीं शताब्दी के अँधेरे में उनके विचारपरक संवादों को समझने में उपयोगी है।

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य श्रीकांत वर्मा के साहित्य को किसी एक कृति के आधार पर न देखकर उनकी समग्र रचनात्मक चेतना के संदर्भ में समझना है। उनके साहित्य में व्यक्ति, समाज, सत्ता, इतिहास, संस्कृति और आधुनिकता के बीच निरंतर संवाद दिखाई देता है। आधुनिक मनुष्य की बेचैनी, सामाजिक विसंगतियाँ, राजनीतिक व्यवस्था, ऐतिहासिक स्मृति और सांस्कृतिक पहचान उनके प्रमुख सरोकारों में शामिल हैं। विशेष रूप से मगध में इतिहास अतीत का मात्र पुनर्स्मरण नहीं रह जाता, बल्कि वर्तमान को समझने का माध्यम बन जाता है। उनकी भाषा संक्षिप्त, अर्थ-सघन, प्रतीकात्मक और व्यंजना-प्रधान है। सम्मेलन की थीम **"Education, Literature, Culture and Sustainability"** के संदर्भ में उनका साहित्य सांस्कृतिक स्मृति, मानवीय मूल्यों और आलोचनात्मक चिंतन की निरंतरता से जुड़ता है। इस दृष्टि से श्रीकांत वर्मा का साहित्य आधुनिक भारतीय समाज और संस्कृति को समझने के लिए महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है।

**कुंजी शब्द :** श्रीकांत वर्मा, समग्र लेखन, मगध, इतिहास-बोध, सांस्कृतिक चेतना, आधुनिकता, सामाजिक चेतना, राजनीतिक चेतना, सांस्कृतिक स्मृति,

**प्रस्तावना :** आधुनिक हिंदी साहित्य भारतीय समाज में आए सामाजिक,

राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का महत्वपूर्ण साक्ष्य है। स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज में शहरीकरण, औद्योगीकरण, शिक्षा का विस्तार, सामाजिक गतिशीलता तथा आधुनिक जीवन-मूल्यों का प्रभाव बढ़ा। इसके साथ व्यक्ति के सामने अकेलेपन, असुरक्षा, मूल्य-संकट, बदलते संबंधों और सामाजिक असमानता जैसी समस्याएँ भी उभरीं। साहित्य ने इन परिवर्तनों को केवल बाहरी घटनाओं के रूप में नहीं देखा, बल्कि उनके मानवीय प्रभावों को भी अभिव्यक्ति दी। श्रीकांत वर्मा इसी परिवर्तित सामाजिक यथार्थ के महत्वपूर्ण साहित्यकार हैं। वर्मा का साहित्य निजी अनुभव और सामाजिक यथार्थ के बीच संबंध स्थापित करता है। उनकी रचनाओं में व्यक्ति की आंतरिक बेचैनी के साथ समाज, सत्ता, इतिहास और संस्कृति से जुड़े प्रश्न उपस्थित होते हैं। उनकी रचनात्मकता की विशेषता यह है कि वे परंपरा और आधुनिकता को विरोधी ध्रुवों के रूप में नहीं देखते, बल्कि उनके बीच मौजूद तनाव और संवाद को साहित्यिक रूप देते हैं। उनकी प्रसिद्धि का प्रमुख आधार कविता है, किंतु कहानी, उपन्यास, आलोचना, यात्रा-वृत्तांत और अनुवाद उनके साहित्यिक व्यक्तित्व को व्यापक बनाते हैं। इन सभी विधाओं में कुछ केंद्रीय सरोकार निरंतर दिखाई देते हैं—मनुष्य की स्थिति, समय की विडंबना, सामाजिक परिवर्तन, सत्ता, इतिहास और सांस्कृतिक स्मृति।

**शोध के उद्देश्य एवं पद्धति :** प्रस्तुत अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य श्रीकांत वर्मा के समग्र साहित्यिक व्यक्तित्व का विश्लेषण करना है। अध्ययन में उनकी काव्य-यात्रा, आधुनिक मनुष्य की संवेदना, महानगरीय जीवन-बोध, इतिहास और मिथक का प्रयोग, सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना, भाषा-शिल्प तथा सांस्कृतिक स्मृति को प्रमुख आधार बनाया गया है। साथ ही उनके कथा-साहित्य, आलोचना, यात्रा और अनुवाद-कर्म को उनके व्यापक साहित्यिक व्यक्तित्व के संदर्भ में समझने का प्रयास किया गया है। इस शोध में **वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, व्याख्यात्मक तथा पाठ-आधारित पद्धति** का प्रयोग किया गया है। श्रीकांत वर्मा की प्रमुख रचनाओं को प्राथमिक सामग्री के रूप में तथा उपलब्ध आलोचनात्मक सामग्री को द्वितीयक स्रोत के रूप में ग्रहण किया गया है। रचनाओं के विषय, भाषा, प्रतीक, शिल्प और वैचारिक संरचना का अध्ययन करते हुए उन्हें सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों से जोड़ा गया है।

**श्रीकांत वर्मा का साहित्यिक व्यक्तित्व :** श्रीकांत वर्मा का साहित्यिक व्यक्तित्व उनकी विधागत विविधता से निर्मित होता है। उनकी कविता में आधुनिक मनुष्य की आंतरिक स्थिति दिखाई देती है, कथा-साहित्य में व्यक्ति और सामाजिक संबंधों की जटिलता सामने आती है, आलोचना में प्रश्नाकुलता और वैचारिकता का विस्तार मिलता है, यात्रा-वृत्तांत में सांस्कृतिक अनुभव का विस्तार होता है और अनुवाद-कर्म उन्हें व्यापक साहित्यिक संसार से जोड़ता है।

उनकी रचनात्मक यात्रा को व्यक्ति से समाज और समाज से इतिहास तथा सत्ता की ओर बढ़ती हुई चेतना के रूप में समझा जा सकता है। आरंभिक संवेदना में स्थानीय और व्यक्तिगत अनुभव दिखाई देते हैं, जबकि आगे चलकर महानगरीय जीवन, सामाजिक विसंगतियाँ और ऐतिहासिक चेतना अधिक स्पष्ट होती जाती है। इस प्रकार उनका साहित्य अपने समय के बदलते हुए अनुभवों का रचनात्मक दस्तावेज बनता है।

**आधुनिक मनुष्य और महानगरीय चेतना :** श्रीकांत वर्मा के काव्य में आधुनिक मनुष्य की बेचैनी, अकेलापन और असुरक्षा महत्वपूर्ण विषय हैं। आधुनिक जीवन ने मनुष्य को नई स्वतंत्रताएँ और संभावनाएँ दीं, लेकिन साथ ही उसे प्रतिस्पर्धा, सामाजिक दबाव और संबंधों की जटिलताओं के बीच भी खड़ा किया। वर्मा के यहाँ अकेलापन केवल व्यक्तिगत भावना नहीं, बल्कि आधुनिक सामाजिक जीवन की एक व्यापक समस्या के रूप में दिखाई देता है। मायादर्पण और जलसाघर को इस दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जा सकता है। मायादर्पण में आत्मचेतना और स्वयं को पहचानने की प्रक्रिया प्रमुख है, जबकि जलसाघर में शहरी जीवन की जटिलता और महानगरीय अनुभव अधिक स्पष्ट होता है। शहर उनके साहित्य में केवल भौगोलिक स्थान नहीं है; वह एक ऐसी जीवन-व्यवस्था का प्रतीक बन जाता है जिसमें व्यक्ति भीड़ के बीच रहते हुए भी अकेला हो सकता है। उपलब्ध सामग्री में भी उनकी काव्य-यात्रा में ग्राम्य

जीवन-बोध से महानगरीय अनुभव की ओर परिवर्तन का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार वर्मा का आधुनिकताबोध बाहरी जीवन-परिवर्तन के साथ व्यक्ति के आंतरिक परिवर्तन को भी अभिव्यक्त करता है। उनकी कविता निजी अनुभव को सामाजिक अर्थ प्रदान करती है।

**'मगध' : इतिहास, स्मृति और वर्तमान :** श्रीकांत वर्मा के साहित्य में मगध का विशेष महत्व है। इस कृति में इतिहास को केवल अतीत की घटनाओं के पुनर्वर्णन के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है, बल्कि उसे वर्तमान को देखने और समझने के माध्यम के रूप में रूपांतरित किया गया है। प्राचीन स्थानों, सत्ता-संरचनाओं और ऐतिहासिक स्मृतियों के माध्यम से आधुनिक समाज और उसकी विसंगतियों पर विचार की संभावना उत्पन्न होती है। मगध में इतिहास और वर्तमान के बीच एक रचनात्मक संवाद स्थापित होता है। पाठक जब अतीत के नगरों और सत्ता-संबंधों से गुजरता है, तब वह अनायास अपने वर्तमान की सामाजिक एवं राजनीतिक संरचनाओं के बारे में सोचने लगता है। इस प्रकार अतीत वर्तमान के लिए दर्पण का कार्य करता है।

वर्मा का इतिहास-बोध इसी कारण विशेष महत्व रखता है। उनके लिए इतिहास मृत अतीत नहीं है। इतिहास की स्मृति वर्तमान में पुनः सक्रिय होकर नए प्रश्न पैदा करती है। इसे **स्मरण, पुनर्विचार और समकालीन अर्थ-निर्माण** की प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है। मिथक और इतिहास का प्रयोग भी इसी उद्देश्य से जुड़ा है। अतीत के पात्र, स्थान और प्रसंग आधुनिक जीवन को समझने के प्रतीक बन सकते हैं। इस प्रक्रिया में कविता प्रत्यक्ष वक्तव्य के बजाय संकेत और व्यंजना की भाषा में सामाजिक तथा राजनीतिक अर्थों को व्यक्त करती है।

**सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना :** श्रीकांत वर्मा के साहित्य में सामाजिक चेतना का केंद्र सामान्य मनुष्य है। उनकी रचनाओं में सामाजिक व्यवस्था को इस दृष्टि से देखा जाता है कि उसका प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर किस प्रकार पड़ता है। असुरक्षा, अकेलापन, संघर्ष, आत्मसम्मान और भविष्य की चिंता उनके साहित्यिक सरोकारों से जुड़े हैं। उनकी राजनीतिक चेतना भी इसी मनुष्य-केंद्रित दृष्टि से विकसित होती है। राजनीति उनके यहाँ केवल दल या चुनाव का विषय नहीं, बल्कि व्यक्ति और सत्ता के संबंध का प्रश्न है। मगध में ऐतिहासिक सत्ता-संरचनाओं के माध्यम से व्यवस्था और नागरिक की स्थिति पर विचार किया जाता है। इस प्रकार राजनीतिक चेतना प्रत्यक्ष नारे के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक अनुभवों के भीतर व्यक्त होती है। हस्तक्षेप जैसी कविता नागरिक सक्रियता और प्रश्न करने की आवश्यकता को समझने का आधार प्रदान करती है। इस दृष्टि से वर्मा का साहित्य पाठक को अपने समय की व्यवस्था, नागरिक दायित्व और सामाजिक संबंधों के बारे में विचार करने के लिए प्रेरित करता है।

**कथा, आलोचना, यात्रा और अनुवाद :** श्रीकांत वर्मा की कहानियाँ झाड़ी और संवाद व्यक्ति, संबंध और सामाजिक परिवेश के बीच मौजूद तनाव को समझने का अवसर देती हैं। उनकी कथा-दृष्टि में सामाजिक यथार्थ केवल बाहरी घटनाओं से निर्मित नहीं होता, बल्कि पात्रों की मानसिकता और उनके संबंधों से भी निर्मित होता है। दूसरी बार में व्यक्ति के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक संसार को समझने की संभावना दिखाई देती है। स्मृति, संबंध और परिस्थितियाँ व्यक्ति की चेतना को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार उनका कथा-साहित्य उनकी कविता में उपस्थित मनुष्य-केंद्रित संवेदना का विस्तार करता है। जिरह उनके आलोचनात्मक और प्रश्नाकुल व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है। साहित्य को केवल स्वीकार करने के बजाय उसके भीतर छिपे प्रश्नों को सामने लाना उनकी बौद्धिक दृष्टि का महत्वपूर्ण पक्ष है।

अपोलो का रथ यात्रा-वृत्तांत के माध्यम से स्थान और संस्कृति के अनुभव को विस्तृत करता है। यात्रा उनके लिए केवल भौगोलिक परिवर्तन नहीं, बल्कि नए समाजों और संस्कृतियों से संवाद का अवसर भी है। इसी प्रकार फैसले का दिन के माध्यम से उनका अनुवाद-कर्म भाषाओं और साहित्यिक संस्कृतियों के बीच सेतु का कार्य करता है। अनुवाद उनके साहित्यिक संसार को व्यापक सांस्कृतिक संदर्भ से जोड़ता है।

**भाषा, शिल्प और सांस्कृतिक स्मृति :** श्रीकांत वर्मा की भाषा उनकी साहित्यिक विशिष्टता का महत्वपूर्ण आधार है। उनकी अभिव्यक्ति में कम शब्दों में अधिक अर्थ व्यक्त करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। प्रतीक, संकेत, व्यंग्य और व्यंजना उनकी भाषा को बहुस्तरीय बनाते हैं। मगध की काव्य-भाषा के संदर्भ में शब्द-लाघव, प्रतीकात्मकता, व्यंग्यात्मकता और बिंब-विधान को महत्वपूर्ण माना गया है। उनकी भाषा पाठक को तैयार निष्कर्ष नहीं देती, बल्कि अर्थ-निर्माण में सक्रिय भागीदारी के लिए प्रेरित करती है। यही कारण है कि उनकी संक्षिप्त कविताएँ भी व्यापक सामाजिक और ऐतिहासिक अर्थ उत्पन्न करती हैं। सांस्कृतिक स्मृति उनके साहित्य का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है। मगध में ऐतिहासिक स्थान और स्मृतियाँ अतीत को वर्तमान से जोड़ती हैं। साहित्य जब किसी ऐतिहासिक स्मृति को नए संदर्भ में प्रस्तुत करता है, तो वह केवल अतीत को सुरक्षित नहीं करता, बल्कि नई पीढ़ी को उससे संवाद करने का अवसर भी देता है।

**शिक्षा, संस्कृति और Sustainability :** सम्मेलन की थीम **"Education, Literature, Culture and Sustainability"** के संदर्भ में श्रीकांत वर्मा का साहित्य विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाता है। Sustainability को केवल पर्यावरणीय संरक्षण तक सीमित न रखकर सांस्कृतिक और मानवीय निरंतरता के संदर्भ में भी समझा जा सकता है। वर्मा के साहित्य में इसे तीन स्तरों पर देखा जा सकता है—

1. **ऐतिहासिक स्थायित्व** — साहित्य के माध्यम से ऐतिहासिक स्मृति का संरक्षण।
2. **मानवीय स्थायित्व** — मनुष्य की गरिमा, संवेदना और नैतिक प्रश्नों की निरंतरता।
3. **बौद्धिक स्थायित्व** — प्रश्न करने, विचार करने और स्थापित धारणाओं की समीक्षा करने की क्षमता।

इस प्रकार संस्कृति उनके साहित्य में स्थिर परंपरा नहीं बल्कि निरंतर पुनर्व्याख्या की प्रक्रिया बनती है। नई पीढ़ी जब अतीत को समझती है और वर्तमान के संदर्भ में उसका पुनर्पाठ करती है, तब सांस्कृतिक निरंतरता जीवित रहती है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी उनका साहित्य उपयोगी है। मगध इतिहास और वर्तमान के संबंध पर चर्चा का आधार बन सकती है, हस्तक्षेप नागरिक चेतना को समझने का अवसर देती है, मायादर्पण आत्मचेतना और जलसाघर आधुनिक शहरी जीवन के अध्ययन के लिए उपयोगी हैं। इस प्रकार उनका साहित्य हिंदी के साथ इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान और संस्कृति अध्ययन में अंतर्विषयक शिक्षण की संभावनाएँ प्रस्तुत करता है।

**समग्र रचनात्मकता और समकालीन प्रासंगिकता :** श्रीकांत वर्मा के समग्र साहित्य को निम्न वैचारिक क्रम में समझा जा सकता है—

**व्यक्ति → समाज → सत्ता → इतिहास → संस्कृति → स्मृति → आधुनिकता → मानवीय प्रश्न**

यह क्रम उनकी रचनाओं के बीच अंतर्संबंध को समझने में सहायक है। व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है, समाज सत्ता-संबंधों से जुड़ता है, सत्ता को समझने के लिए इतिहास की ओर जाना पड़ता है और इतिहास संस्कृति तथा सामूहिक स्मृति को प्रभावित करता है। आधुनिकता इन सभी के सामने नए प्रश्न रखती है और अंततः मनुष्य अपनी पहचान तथा गरिमा की तलाश करता है। इसी कारण श्रीकांत वर्मा की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। वर्तमान समय में शहरीकरण, तकनीकी परिवर्तन, बदलते सामाजिक संबंध, सांस्कृतिक पहचान और ऐतिहासिक स्मृति से जुड़े प्रश्न नए रूप में उपस्थित हैं। उनके साहित्य में व्यक्त व्यक्ति और समाज का तनाव आज के पाठक को अपने समय की समस्याओं पर विचार करने का अवसर देता है।

**निष्कर्ष :** श्रीकांत वर्मा का समग्र साहित्य आधुनिक हिंदी साहित्य में बहुआयामी रचनात्मक चेतना का उदाहरण है। उनकी कविता आधुनिक मनुष्य की बेचैनी और सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्ति देती है, कथा-साहित्य व्यक्ति और संबंधों की जटिलता को सामने लाता है, आलोचना प्रश्न और विचार की संस्कृति विकसित करती है, यात्रा-वृत्तांत सांस्कृतिक दृष्टि का विस्तार करता है तथा अनुवाद अंतर-सांस्कृतिक संवाद स्थापित करता है।

उनके साहित्य में इतिहास का महत्व सबसे अधिक मगध में दिखाई देता है। यहाँ इतिहास केवल अतीत नहीं बल्कि वर्तमान को समझने का माध्यम बन जाता है। इसी के साथ उनकी भाषा की संक्षिप्तता, प्रतीकात्मकता और अर्थ-सघनता उनके साहित्य को विशिष्ट बनाती है। सांस्कृतिक स्मृति के माध्यम से वे अतीत और वर्तमान के बीच संबंध स्थापित करते हैं।

**"Education, Literature, Culture and Sustainability"** की थीम के संदर्भ में श्रीकांत वर्मा का साहित्य यह संकेत देता है कि साहित्य केवल मनोरंजन या सौंदर्यबोध का माध्यम नहीं, बल्कि सांस्कृतिक स्मृति, मानवीय संवेदना और आलोचनात्मक चिंतन को जीवित रखने की प्रक्रिया भी है। संस्कृति तभी जीवित रहती है जब नई पीढ़ी अपने अतीत से संवाद करे और उसे वर्तमान के प्रश्नों के संदर्भ में नए अर्थ प्रदान करे।

अतः श्रीकांत वर्मा का समग्र लेखन व्यक्ति, समाज, सत्ता, इतिहास और संस्कृति के बीच संवाद स्थापित करने वाला साहित्य है। उनका साहित्य अतीत की स्मृति को वर्तमान की चेतना से जोड़ते हुए मनुष्य के भविष्य और उसकी मानवीय गरिमा से जुड़े प्रश्नों को सामने लाता है। यही उनकी रचनात्मकता की स्थायी प्रासंगिकता है।

**संदर्भ ग्रंथ :**

**प्राथमिक स्त्रोत :**

1. वर्मा, श्रीकांत — भटका मेघ।
2. वर्मा, श्रीकांत — मायादर्पण।
3. वर्मा, श्रीकांत — दिनारंभ।
4. वर्मा, श्रीकांत — जलसाघर।
5. वर्मा, श्रीकांत — मगध।
6. वर्मा, श्रीकांत — झाड़ी।
7. वर्मा, श्रीकांत — संवाद।
8. वर्मा, श्रीकांत — दूसरी बार।
9. वर्मा, श्रीकांत — जिरह।
10. वर्मा, श्रीकांत — अपोलो का रथ।
11. वर्मा, श्रीकांत — फैसले का दिन।
12. वर्मा, श्रीकांत — बीसवीं शताब्दी के अँधेरे में।

**द्वितीयक स्त्रोत :**

13. साहित्य अकादेमी — साहित्य अकादेमी पुरस्कार संबंधी सामग्री।
14. NCERT — श्रीकांत वर्मा की हस्तक्षेप से संबंधित सामग्री।
15. INFLIBNET — मगध में राजनीतिक चेतना से संबंधित अध्ययन।
16. INFLIBNET — मगध की काव्य-भाषा से संबंधित अध्ययन।
17. हिंदी समय — श्रीकांत वर्मा के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से संबंधित सामग्री।

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-44-49

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 44-49
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**बागेश्वरी बेहेरा**

शोधार्थी, गायन विभाग, मंच कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

**शोध निर्देशक :**

**प्रो. रामशंकर**

आचार्य-गायन विभाग, मंच कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Corresponding Author :

**बागेश्वरी बेहेरा**

शोधार्थी, गायन विभाग, मंच कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

# ओडिसी संगीत : भारतीय शास्त्रीय संगीत की प्राचीन एवं समृद्ध परंपरा

**सारांश :** ओडिशा की प्राचीन, समृद्ध और विशिष्ट संगीत परंपरा है, जिसकी जड़ें भारतीय संगीत, मंदिर संस्कृति, साहित्य, धर्म और नृत्य में गहराई से जुड़ी हैं। ओडिशा में भगवान जगन्नाथ की उपासना और मंदिरों ने संगीत तथा नृत्य के विकास और संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में वर्णित औड्रमागधी प्रवृत्ति को ओडिशा की प्राचीन कलात्मक परंपरा से जोड़ा जाता है। हाथीगुम्फा अभिलेख, उदयगिरि-खंडगिरि तथा मंदिरों की मूर्तियों से भी ओडिशा में संगीत और नृत्य की प्राचीनता के संकेत मिलते हैं। ओडिसी संगीत का जयदेव के गीतगोविंद तथा अन्य साहित्यिक और संगीतशास्त्रीय ग्रंथों से गहरा संबंध है। इसकी अपनी विशिष्ट राग-ताल परंपरा, गायन शैली और भावाभिव्यक्ति है। इसमें भक्ति और श्रृंगार भाव को विशेष महत्व दिया जाता है। एकताली, झंपा और त्रिपटा जैसे तालों के साथ चंपू, चौतिसा, छंद और चोपदी जैसे साहित्यिक-सांगीतिक गायन विधा इसकी विशेषता हैं। ओडिसी संगीत और ओडिसी नृत्य एक-दूसरे के पूरक हैं। संगीत भाव को श्रव्य रूप देता है, जबकि नृत्य उसे दृश्य रूप में प्रस्तुत करता है। गुरु-शिष्य परंपरा ने इस संगीत को पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आधुनिक समय में बदलती जीवनशैली और नई पीढ़ी की रुचियों के कारण ओडिसी संगीत के संरक्षण की आवश्यकता है। इसके लिए दस्तावेजीकरण, शोध, पांडुलिपियों का संरक्षण और गुरु-शिष्य परंपरा को मजबूत करना आवश्यक है। ओडिसी संगीत केवल एक संगीत शैली नहीं, बल्कि ओडिशा की भक्ति, साहित्य, कला, इतिहास और सांस्कृतिक चेतना का जीवंत स्वरूप है। यह भारतीय संगीत की विविधता और समृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

**कुंजीशब्द** : जगन्नाथ संस्कृति, ओडिशा, ओडिसी संगीत, कला, साहित्य।

**प्रस्तावना :** संगीत मानव जीवन की सबसे प्राचीन और प्रभावशाली

कलाओं में से एक है। मनुष्य ने जब पहली बार प्रकृति की ध्वनियों, पक्षियों के स्वर, जल की कल-कल और अपने हृदय की धड़कनों में लय का अनुभव किया होगा, तभी से संगीत की यात्रा आरंभ हुई होगी। संगीत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी भाषा किसी सीमा में बंधी नहीं होती। स्वर, लय और भाव को अनुभव करने वाला व्यक्ति संसार के किसी भी कोने के संगीत से जुड़ सकता है। यही कारण है कि संगीत को मानव सभ्यता की सार्वभौमिक भाषा कहा जाता है।

भारतीय संगीत परंपरा इस दृष्टि से अत्यंत समृद्ध और विशिष्ट है। यहाँ संगीत केवल मनोरंजन का साधन नहीं रहा, बल्कि धर्म, दर्शन, आध्यात्मिकता, साहित्य और सामाजिक जीवन से भी गहराई से जुड़ा रहा है। भारतीय संगीत में स्वर, राग, ताल, लय और भाव का विशेष महत्व है। समय के साथ भारतीय संगीत की अनेक क्षेत्रीय एवं शास्त्रीय परंपराएँ विकसित हुईं। वर्तमान समय में हिंदुस्तानी और कर्नाटक संगीत को भारतीय शास्त्रीय संगीत की प्रमुख धाराओं के रूप में जाना जाता है, किंतु इनके साथ-साथ भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विकसित अनेक स्वतंत्र संगीत परंपराएँ भी भारतीय संगीत की समृद्धि को प्रमाणित करती हैं। ओडिसी संगीत इन्हीं महत्वपूर्ण परंपराओं में से एक है। ओडिसी संगीत का संबंध केवल ओडिशा की सांस्कृतिक पहचान से ही नहीं है, बल्कि इसकी जड़ें भारतीय संगीत की प्राचीन परंपरा, मंदिर संस्कृति, साहित्य, नृत्य और धार्मिक जीवन में गहराई तक फैली हुई हैं। इसलिए ओडिसी संगीत का अध्ययन करते समय उसके ऐतिहासिक विकास के साथ-साथ उसके शास्त्रीय आधार और सांस्कृतिक संदर्भ को समझना भी आवश्यक है।

**ओडिशा की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :** भगवान जगन्नाथ की भूमि ओडिशा प्राचीन काल से ही कला और संस्कृति की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध रहा है। यहाँ की स्वदेशी संस्कृति और परंपराओं में ऐसी विशिष्ट विशेषताएँ दिखाई देती हैं, जो इसे भारत के अन्य क्षेत्रों से अलग पहचान प्रदान करती हैं। धार्मिक आस्था, लोकजीवन, साहित्य, स्थापत्य, मूर्तिकला, संगीत और नृत्य—इन सभी का ओडिशा की सांस्कृतिक चेतना में महत्वपूर्ण स्थान है।

ओडिशा में संगीत और नृत्य का विकास यहाँ की धार्मिक और सामाजिक परंपराओं से गहराई से जुड़ा रहा है। विशेष रूप से भगवान जगन्नाथ की उपासना ने यहाँ की कलाओं को एक विशिष्ट दिशा प्रदान की। पुरी स्थित श्रीजगन्नाथ मंदिर केवल धार्मिक आस्था का केंद्र नहीं रहा, बल्कि संगीत, नृत्य, साहित्य और विभिन्न कलात्मक गतिविधियों का भी महत्वपूर्ण केंद्र रहा है। इसी सांस्कृतिक वातावरण में ओडिसी संगीत ने धीरे-धीरे अपना विशिष्ट स्वरूप विकसित किया। यह परंपरा किसी एक कालखंड या किसी एक व्यक्ति की देन नहीं है, बल्कि अनेक शताब्दियों की साधना और सांस्कृतिक निरंतरता का परिणाम है।

**प्राचीन भारतीय संगीत और नाट्यशास्त्र :** भारतीय संगीत, नृत्य और नाट्य परंपरा के अध्ययन में भरतमुनि का नाट्यशास्त्र अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसे भारतीय नाट्य एवं प्रदर्शन कलाओं का एक प्रमुख आधारग्रंथ माना जाता है। इसमें नाटक के साथ-साथ संगीत, वाद्य, नृत्य, अभिनय, रस, भाव तथा प्रस्तुति से संबंधित अनेक सिद्धांतों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

चतस्रो वृत्तयो ह्येता यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा चैवोद्रमागधी।।
नाट्यशास्त्र- अध्याय 6, श्लोक 25.

नाट्यशास्त्र में विभिन्न प्रवृत्तियों का उल्लेख मिलता है, जिनमें अवंती, दक्षिणात्य, पांचाली और औड्रमागधी प्रमुख हैं। इनमें औड्रमागधी प्रवृत्ति का संबंध प्राचीन ओड्र अथवा ओडिशा क्षेत्र से माना जाता है। ओडिशा की संगीत एवं नाट्य परंपरा के इतिहास में इस उल्लेख का विशेष महत्व है, क्योंकि यह इस क्षेत्र की प्राचीन कलात्मक पहचान की ओर संकेत करता है।

औड्रमागधी प्रवृत्ति का उल्लेख यह समझने में सहायता करता है कि प्राचीन भारत में विभिन्न क्षेत्रों की अपनी-अपनी सांस्कृतिक और कलात्मक विशेषताएँ थीं। संगीत और नृत्य के रूप भी क्षेत्रीय परिस्थितियों के अनुसार विकसित होते थे। ओडिशा की परंपरा ने भी इसी व्यापक भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में अपनी स्वतंत्र पहचान बनाई।

**नाद और भारतीय संगीत की अवधारणा :** भारतीय संगीत का मूल आधार नाद की अवधारणा से जुड़ा हुआ है। भारतीय संगीतशास्त्र में नाद को संगीत की मूल चेतना माना गया है। ध्वनि जब व्यवस्थित होकर स्वर और लय का रूप ग्रहण करती है, तब संगीत का निर्माण होता है। भारतीय संगीत की यह अवधारणा केवल तकनीकी नहीं, बल्कि दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। भारतीय परंपरा में संगीत, वाद्य और नृत्य को परस्पर संबंधित माना गया है। गीत भाव और अर्थ को व्यक्त करता है, वाद्य उसे ध्वनि एवं लय का आधार प्रदान करता है और नृत्य उसी भाव को दृश्य रूप में अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार गीत, वाद्य और नृत्य तीनों मिलकर एक संपूर्ण कलात्मक अनुभव का निर्माण करते हैं। ओडिसी परंपरा में यह समन्वय विशेष रूप से दिखाई देता है। ओडिसी संगीत की ध्रुपदांग, रागांग,भावांग,नाट्यांग प्रधानता इस संगीत के विस्तार के आधार है। पडी ओडिसी संगीत की एक अन्य विशेषता है जो प्रबंध में अन्तरा के बाद आनेवाले अतिरिक्त भाग जिसकी गति अपेक्षाकृत अधिक है । ओडिसी नृत्य में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है और नृत्य की मुद्राएँ, गतियाँ तथा भाव संगीत और ताल के साथ जुड़कर ही पूर्णता प्राप्त करते हैं। इसलिए ओडिसी संगीत और ओडिसी नृत्य को एक-दूसरे से अलग करके समझना कठिन है।

**ओडिशा में संगीत की प्राचीनता :** ओडिशा में संगीत और नृत्य की परंपरा अत्यंत प्राचीन मानी जाती है। इसके प्रमाण साहित्यिक, अभिलेखीय और पुरातात्त्विक स्रोतों में दिखाई देते हैं। ओडिशा के प्राचीन इतिहास को देखते हुए यह माना जाता है कि यहाँ संगीत और नृत्य का संबंध ईसा पूर्व की शताब्दियों तक जाता है।

इस संदर्भ में हाथीगुम्फा अभिलेख और उदयगिरि-खंडगिरि क्षेत्र के पुरातात्त्विक अवशेष विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। खारवेल के समय से जुड़े इन प्रमाणों में तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की अनेक झलकियाँ मिलती हैं। ओडिशा की प्राचीन कला और शिल्प में संगीत तथा नृत्य से संबंधित चित्रण भी मिलता है। भुवनेश्वर स्थित राजाराणी मन्दिर की दीवारों और मूर्तियों पर वाद्ययंत्र बजाते हुए कलाकारों, कोणार्क मन्दिर की नृत्यरत नर-नारियों की मुद्राओं के नक्काशीदार मूर्ति तथा संगीत से जुड़े विभिन्न दृश्यों का अंकन यह दर्शाता है कि संगीत और नृत्य उस समय के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। ये प्रमाण इस बात की ओर संकेत करते हैं कि ओडिशा में संगीत केवल धार्मिक अनुष्ठानों तक सीमित नहीं था, बल्कि सामाजिक और राजकीय जीवन का भी हिस्सा था।

**मंदिर संस्कृति और ओडिसी संगीत :** ओडिसी संगीत के विकास में मंदिरों की भूमिका को विशेष रूप से रेखांकित किया जाना चाहिए। ओडिशा में मंदिर केवल पूजा के स्थान नहीं थे, बल्कि वे कला और संस्कृति के संरक्षण के केंद्र भी थे। मंदिरों में संगीत और नृत्य का प्रयोग धार्मिक अनुष्ठानों और सेवाओं के साथ जुड़ा हुआ था। विशेष रूप से श्रीजगन्नाथ मंदिर की परंपरा बडसिंहार बेस, चन्दन जात्रा, रथजात्रा आदि उत्सवों में प्रयुक्त नृत्य एवं संगीत ओडिशा के संगीत को गहराई से प्रभावित किया। भगवान जगन्नाथ की आराधना में गीत और संगीत का प्रयोग भक्तिभाव की अभिव्यक्ति के रूप में होता रहा। इसी कारण ओडिसी संगीत में भक्ति, आध्यात्मिकता और भावाभिव्यक्ति को विशेष महत्व मिला।

मंदिरों से जुड़ी परंपराओं ने संगीत को पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गुरु-शिष्य के मध्य श्रुति परंपरा के माध्यम से संगीत की शिक्षा और प्रस्तुति की शैली आगे बढ़ती रही। इस निरंतरता ने ओडिसी संगीत को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया।

**साहित्य और ओडिसी संगीत :** ओडिसी संगीत का विकास साहित्य के साथ गहरे संबंध में हुआ। ओडिशा की

साहित्यिक परंपरा अत्यंत समृद्ध रही है और अनेक कवियों ने ऐसी रचनाएँ कीं, जिनका संबंध संगीत और नृत्य दोनों से रहा।

इनमें महाकवि जयदेव का गीतगोविंद विशेष महत्व रखता है। गीतगोविंद ने ओडिशा की संगीत और नृत्य परंपरा को गहराई से प्रभावित किया। इसमें राधा-कृष्ण के प्रेम, भक्ति और आध्यात्मिक अनुभूति को अत्यंत सुंदर काव्यात्मक रूप में व्यक्त किया गया है। इसके पदों की संगीतात्मकता ने उन्हें गायन और नृत्य दोनों के लिए उपयुक्त बनाया।

ओडिशा में बाद के समय में भी संगीत से संबंधित अनेक साहित्यिक और शास्त्रीय ग्रंथों की रचना हुई। कविसम्राट उपेन्द्र भञ्ज के बैदेहीश बिलास ,कविसूर्य बलदेव रथ के किशोर चंद्रानन चम्पु , गीतप्रकाश, संगीत नारायण और संगीत मुक्तावली जैसे ग्रंथ ओडिसी संगीत के सैद्धांतिक और ऐतिहासिक अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इन ग्रंथों के माध्यम से राग, ताल, स्वर तथा संगीत की विभिन्न संरचनाओं के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।

इसके अतिरिक्त ताड़पत्र पांडुलिपियों की परंपरा भी ओडिशा की सांस्कृतिक विरासत का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इन पांडुलिपियों में साहित्य, धर्म, कला और संगीत से संबंधित सामग्री सुरक्षित रही है। ये स्रोत ओडिसी संगीत की ऐतिहासिक निरंतरता को समझने में सहायक हैं।

**ओडिसी संगीत के राग और ताल :** ओडिसी संगीत की अपनी विशिष्ट राग और ताल परंपरा है। यद्यपि भारतीय संगीत की विभिन्न प्रणालियों में कुछ रागों और तालों के नाम समान मिल सकते हैं, लेकिन उनकी प्रस्तुति, स्वर-विन्यास और प्रयोग की शैली अलग हो सकती है। इसी विशिष्टता के कारण ओडिसी संगीत की स्वतंत्र पहचान बनती है।

ओडिसी संगीत में रागात्मकता के साथ-साथ लय और ताल का विशेष महत्व है। एकताल, झंपा, त्रिपटा आदि तालों का प्रयोग इसकी परंपरा में मिलता है। इसके अतिरिक्त चंपू, छान्द, चौतिसा, चोपदी और अन्य रचनात्मक रूपों ने ओडिसी संगीत को विशिष्ट साहित्यिक एवं सांगीतिक आधार प्रदान किया है।

ओडिसी संगीत की रचनाओं में शब्द, स्वर और भाव का सुंदर सामंजस्य दिखाई देता है। विशेष रूप से भक्ति और श्रृंगार प्रधान रचनाओं में शब्दों के अर्थ को स्वर और लय के माध्यम से अत्यंत प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया जाता है।

**ओडिसी संगीत की शास्त्रीयता :** ओडिसी संगीत की शास्त्रीयता का प्रश्न लंबे समय से संगीत जगत में चर्चा का विषय रहा है। आधुनिक समय में भारतीय शास्त्रीय संगीत की चर्चा मुख्यतः हिंदुस्तानी और कर्नाटक संगीत के संदर्भ में अधिक की जाती रही है। ओडिआ भाषा एक शास्त्रीय भाषा और ओडिसी नृत्य एक शास्त्रीय नृत्य की मान्यताप्राप्त है, ऐसे में ओडिसी संगीत की स्वतंत्र शास्त्रीयता की पहचान को समझने के लिए उसके ऐतिहासिक और सैद्धांतिक आधार का अध्ययन आवश्यक है।

किसी संगीत परंपरा की शास्त्रीयता केवल उसकी लोकप्रियता पर निर्भर नहीं करती। उसके पीछे एक व्यवस्थित संगीतशास्त्रीय आधार, राग-ताल की परंपरा, प्रस्तुति की विशिष्ट शैली, साहित्यिक आधार और गुरु-शिष्य परंपरा का होना भी महत्वपूर्ण है।

ओडिसी संगीत में इन सभी तत्वों की उपस्थिति दिखाई देती है। इसके प्राचीन स्रोत, राग-ताल व्यवस्था, विशिष्ट गायन शैली, साहित्यिक परंपरा, मंदिरों से जुड़ा इतिहास और गुरु-शिष्य परंपरा इसकी स्वतंत्र पहचान को मजबूत आधार प्रदान करते हैं।

**मध्यकालीन परिवर्तन और ओडिसी संगीत :** भारतीय इतिहास में मध्यकाल सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का महत्वपूर्ण समय था। इन परिवर्तनों का प्रभाव संगीत पर भी पड़ा। उत्तर भारत में विभिन्न सांस्कृतिक संपर्कों के कारण संगीत की परंपराओं में परिवर्तन हुआ और आगे चलकर हिंदुस्तानी संगीत की विशिष्ट शैली

विकसित हुई।

ओडिशा में भी राजनीतिक परिवर्तन हुए, किंतु यहाँ की मंदिर-केंद्रित सांस्कृतिक परंपराओं और स्थानीय धार्मिक जीवन ने संगीत की मौलिक विशेषताओं को लंबे समय तक सुरक्षित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस कारण ओडिसी संगीत की अपनी स्वतंत्र धारा निरंतर विकसित होती रही।

11वीं से 18वीं शताब्दी के बीच जब भारत में बाहरी आक्रमणों का प्रभाव बढ रहा था ,तब ओडिशा राजनीतिक उथल-पुथल के बावजूद साहित्य, संगीत और धार्मिक संस्कृति की न केवल सुरक्षित रखा , बल्कि अपनी सांस्कृतिक पहचान का अभूतपूर्व विकास भी किया और ओडिशा में साहित्य, संगीत और धार्मिक संस्कृति का विशेष विकास हुआ। इस लंबे कालखंड में अनेक रचनाएँ और ग्रंथ सामने आए, जिन्होंने ओडिसी संगीत की परंपरा को समृद्ध किया।

**ओडिसी संगीत और नृत्य का संबंध :** ओडिसी संगीत और ओडिसी नृत्य का संबंध अत्यंत गहरा है। ओडिसी नृत्य की प्रस्तुति में संगीत केवल पृष्ठभूमि नहीं होता, बल्कि वह नृत्य की आत्मा के रूप में कार्य करता है। नृत्य की प्रत्येक मुद्रा, गति और भाव संगीत तथा ताल के साथ जुड़ा रहता है।

संगीत जहाँ भाव को श्रव्य रूप देता है, वहीं नृत्य उसी भाव को दृश्य रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार दोनों कलाएँ मिलकर दर्शक के सामने एक संपूर्ण कलात्मक अनुभव प्रस्तुत करती हैं।

ओडिसी नृत्य में भक्ति, श्रृंगार और अन्य भावों की अभिव्यक्ति के लिए संगीत की विशेष भूमिका होती है। यही कारण है कि ओडिसी संगीत को केवल एक स्वतंत्र गायन शैली के रूप में देखना इसके व्यापक सांस्कृतिक स्वरूप को सीमित कर देना होगा।

**संरक्षण की आवश्यकता :** आधुनिक समय में पारंपरिक कलाओं के सामने अनेक चुनौतियाँ हैं। बदलती जीवनशैली, आधुनिक मनोरंजन के साधन और नई पीढ़ी की बदलती रुचियों के कारण पारंपरिक संगीत प्रणालियों के संरक्षण की आवश्यकता बढ़ गई है। ओडिसी संगीत भी इस चुनौती से अछूता नहीं है।

हालाँकि कलाकारों, संगीतज्ञों, गुरुओं, शोधकर्ताओं और सांस्कृतिक संस्थाओं के प्रयासों से यह परंपरा आज भी जीवंत है। विश्वविद्यालयों और संगीत संस्थानों में ओडिसी संगीत के इतिहास और सिद्धांत पर शोध हो रहा है। गुरु-शिष्य परंपरा के माध्यम से इसकी गायन शैली और रचनाओं को अगली पीढ़ी तक पहुँचाया जा रहा है।

भविष्य में आवश्यकता इस बात की है कि प्राचीन पांडुलिपियों, ग्रंथों, मंदिर परंपराओं, मौखिक ज्ञान और पारंपरिक रचनाओं का व्यवस्थित दस्तावेजीकरण किया जाए। इससे आने वाली पीढ़ियों के लिए ओडिसी संगीत की वास्तविक विरासत को सुरक्षित रखा जा सकेगा।

**निष्कर्ष :** ओडिसी संगीत भारतीय संगीत परंपरा की एक प्राचीन, समृद्ध और विशिष्ट धारा है। इसकी जड़ें ओडिशा के इतिहास, मंदिर संस्कृति, धार्मिक आस्था, साहित्य, नृत्य और लोकजीवन में गहराई तक फैली हुई हैं। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में वर्णित औड्रमागधी प्रवृत्ति से लेकर ओडिशा के पुरातात्त्विक अवशेषों, मंदिरों की मूर्तिकला, साहित्यिक ग्रंथों, ताड़पत्र पांडुलिपियों और गुरु-शिष्य परंपरा तक—अनेक स्रोत इसकी दीर्घ सांस्कृतिक यात्रा की ओर संकेत करते हैं।

ओडिसी संगीत की विशिष्ट राग-ताल व्यवस्था, साहित्यिक समृद्धि, भावप्रधानता और ओडिसी नृत्य के साथ उसका गहरा संबंध इसे भारतीय संगीत की अन्य धाराओं से अलग पहचान प्रदान करता है। यह केवल संगीत की एक शैली नहीं, बल्कि ओडिशा की सांस्कृतिक चेतना का जीवंत स्वरूप है।

अतः ओडिसी संगीत को भारतीय संगीत की मुख्यधारा से अलग किसी सीमित क्षेत्रीय परंपरा के रूप में देखने के बजाय उसकी ऐतिहासिक, सांगीतिक और सांस्कृतिक विशिष्टता के साथ समझना आवश्यक है। इसके संरक्षण,

संवर्धन और वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में निरंतर प्रयास किए जाने चाहिए। ओडिसी संगीत की परंपरा जितनी प्राचीन है, उतनी ही जीवंत भी है और यही इसकी सबसे बड़ी शक्ति है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि ओडिसी संगीत ओडिशा की आत्मा, उसकी भक्ति, साहित्य, कला और सांस्कृतिक स्मृति का स्वर है। इसकी ध्वनि में इतिहास की गहराई, मंदिरों की आध्यात्मिकता, साहित्य की संवेदना और भारतीय संगीत की विराट परंपरा एक साथ अनुभव की जा सकती है।

**सन्दर्भ सूची :**


1. पाढ़ी, कीताननारायण, ओडिसी संगीत राग र उद्भव ओ विकास, पब्लिकेसन ,जयदेव फाउंडेसन ट्रस्ट भुवनेश्वर, प्रथम संस्करण, 2004,
2. दास, निलाद्री कल्याण, ओडिसी संगीत र संज्ञा ओ स्वरूप, पब्लिकेशन द होम ऑफ लेटर्स, भवुनेश्वर, प्रथम संस्करण,2016
3. Nimakant Routray, ANALYTICAL STUDY FOR THE DEVELOPMENT OF ODISSI MUSIC AFTER INDEPENDENCE, 2015
4. दास , रामहरी, संगीत संज्ञा पब्लिकेशन रामहरी दास ओडिसी गुरुकुल ट्रस्ट, प्रथम संस्करण,1989
5. Shringara, R.K. Prema lata Sharma ,Sangitaratnakara of Sarangadev , volume ii.Delhi: Munshiram Manoharlal,1989
6. Harichandan Jagadev, Sangeet Sarvaswa ,Surangi ,1914
7. Patra Tarini ch. ,Odissi sangeeta Prakash ,Tarini ch. Patra , kabisurya nagar 1970
8. Karunanidhi Pattanaik ,Sangita Sikhya o Radha krishna Milana , paralakhemundi ,1927
9. Das , R.2004 . Odissi Sangitara Parampara O Prayog, Kaishiki publication ,BBSR, Odisha
10. Hota, Damodara. 1977,Orissi as a form of indian classical music ,cuttuck ,vidyapuri


•

ज्ञानविविधा
कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 50-54
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**कृष्ण कुमार तिवारी**
शोधार्थी, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

**शोध निर्देशक :**

**प्रो0 रामशंकर**
आचार्य, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, कशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Corresponding Author :

**कृष्ण कुमार तिवारी**
शोधार्थी, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

# मानव जीवन और कला : एक अंत:सम्बंध

**शोध सार :** जिस प्रकार एक मानव को शारीरिक सौष्ठव के लिए भोजन की आवश्यकता, मानसिक स्वास्थ्य के लिए ध्यान आदि की आवश्यकता होती है उसी प्रकार उसको आत्मिक शांति तथा सामाजिक धारा में बने रहने के लिए कलाओं की आवश्यकता होती है।

भारतीयशास्त्रों में पंचविध ललित कलाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। एक कलाएं ललित के साथ-साथ उदात्त भी हैं जो अधोलिखित हैं -

- स्थापत्य कला
- वास्तु कला
- चित्रकला
- काव्य कला
- और संगीत

संगीत, कला भी है और विद्या भी है। यह पंचविध उदात्त कलाओं में अमूर्त कला है। यह प्राणी मात्र में समवाय संबंध से व्याप्त रहती है। चराचर प्राणी यहां तक की पशु पक्षी भी इससे भिन्न नहीं रह सकते कला व्यक्ति को पूर्ण बनाती है जिस प्रकार यदि सोलह कला के चंद्रमा में एक कला की भी न्यूनता आती है तो उसमें अधूरापन आ जाता है तथा उस चंद्रमा को प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया का चंद्रमा आदि नाम से संबोधित किया जाता है किन्तु जब पूर्ण कलाओं से युक्त होता है तभी उसके जीवन में पूर्णिमा आती है ठीक उसी प्रकार मानव का जीवन भी कलाओं के बिना पूर्णता को प्राप्त नहीं करता है।

कलाओं से मानव का आध्यात्मिक विकास भी भी होता है वह आत्म चेतना को जागृत करके अध्यात्म पथ की ओर से अग्रसर होता है।

संस्कृति मनुष्य के संपूर्ण कलाओं की सम्मिलित उपलब्धि है राष्ट्र या देश इन कलात्मक उपलब्धियां का संकलन और संरक्षण करता है। कला और संस्कृति का संरक्षण संगीत के बिना संभव नहीं है संगीत कला और संस्कृति का संरक्षक व संपोषक है।

**सूचक शब्द : आध्यात्मिक, स्थापत्य, विद्या, कला, संस्कृति अग्रसर आदि**।

भारतीय मनीषियों ने ज्ञान और कला को संस्कृति का आधार माना है और संगीत को आत्मोन्नति हेतु बताया है। संस्कृति आत्मोन्नति का प्रतिफल है जो ज्ञान विज्ञान की देन है किसी भी देश की संस्कृति के परीक्षण के प्रमुख अंग सहित उसका गौरवशाली धार्मिक इतिहास और कलात्मक सृजन है तीनों ही क्षेत्र का सम्मिलित रूप वहां की संस्कृति का आधार बनता है। ज्ञान संस्कृति और संगीत उसकी विरासत अर्थात परंपरा यह तीनों ही उस देश के आधार स्तंभ होते हैं। देश कितना संस्कारी या सुसंस्कृत है वहां की कला और परंपराओं पर निर्भर करता है।

अरस्तु ने कला को प्रकृति का अनुकरण कहा है कलाकार जिस सौंदर्य को निरूपित करता है उसमें दो प्रमुख विशेषताएं होती हैं मार्मिकता और धार्मिकता इस प्रकार कलात्मक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का निर्धारण तो संगीत करता ही है भावात्मक पक्ष का भी प्रत्यक्षीकरण संगीत के माध्यम से होता है। अतः कलाकार द्वारा कल्पित कलाकृति भौतिक माध्यमों द्वारा निर्मित एक जीवन साधन है।

संगीत के द्वारा व्यक्ति धार्मिक होता है तथा संगीत व्यक्ति के हृदय को परिष्कृत, पवित्र , कोमल और दयालु बनता है। यही उसकी उपादेयता है।

संगीत परंपरा को आत्मसात करके प्रस्तुत होता है लोक और समाज दोनों समानार्थक शब्द है और इन दोनों में आपस में अभेद है समाज से ही लोक है और लोक से ही समाज।

पारंपरिक लोक संगीत बिना समाज के नहीं हो सकता क्योंकि समाज ही संगीतिक वृत्तियों क निर्माण करता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह अपनी रुचि और इच्छा के अनुसार अपनी प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने के लिए साधन और साध्य को उत्पन्न कर लेता है।

जिस प्रकार समाज में परिवर्तन और नवीनीकरण स्वाभाविक रूप से होते हैं उसी प्रकार लोक संगीत में भी समाज की तरह परिवर्तन और नवीनीकरण होता है समाज में जैसे-जैसे परिवर्तन होता है इसका प्रभाव व्यक्ति की सोच मनोवृतियों व्यवहार तथा सामाजिक परंपराओं विश्वासों रूढ़ियों रीति रिवाज मूल्य पर पड़ता है।

कलाओं के माध्यम से मानव अपने भावों की अभिव्यक्ति सहज और सरल रूप में कर पाता है अन्य साधनों की अपेक्षा। अन्य साधन सापेक्ष हैं किंतु कला निरपेक्ष है और बिना किसी शर्त के वह अपने भावों को श्रोता व दर्शक दीर्घा तक पहुंचाने में समर्थ है।

भारत एक प्राचीन सभ्यता का पालक रहा है, जिसकी सांस्कृतिक विरासत हजारों वर्षों से समृद्ध होती रही है। यह विरासत केवल भौतिक रूप में संरक्षित स्मारकों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह जीवन पद्धति, परंपराओं, शास्त्रों, और कलात्मक अभिव्यक्तियों में जीवित है। भारतीय संस्कृति का मूल आधार उसकी कला चेतना और ज्ञान परंपरा में निहित है, जो मानव जीवन को सौंदर्य, धर्म, नीति और विवेक के धरातल पर स्थिर करती है।

शास्त्रीय संगीत (हिंदुस्तानी व कर्नाटिक) एवं लोक संगीत की परंपरा हजारों वर्षों से चली आ रही है।

हिंदुस्तानी संगीत भारत के उत्तरांचल में उत्तर प्रदेश पंजाब राजस्थान जम्मू कश्मीर मध्य प्रदेश आदि प्रदेशों में प्रचलित है और दक्षिण भारतीय संगीत दक्षिण भारत के तमिलनाडु केरल आदि प्रान्तों में प्रचलित है

भरतनाट्यम, कथक, कुचिपुड़ी, ओडिसी, मणिपुरी, मोहिनीअट्टम जैसे नृत्य रूप भारत की क्षेत्रीय विविधता का प्रतीक हैं।

"संगीत शास्त्र" और "नाट्यशास्त्र" जैसे ग्रंथों में संगीत, लय, ताल और अभिनय के नियमों की विधिवत स्थापना हुई है।

संगीत के सिद्धांत एवं प्रयोग पक्षों में ज्ञान एवं लोक संस्कृति प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होती है।

चित्रकला और मूर्तिकला के अंतर्गत
अजंता-एलोरा की गुफाएँ, राजस्थानी, और ग्रामीण चित्रकला परंपराएँ भारत की रचनात्मकता की प्रतीक हैं।
जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत प्राणी मात्र कलाओं के अधीन रहता है। संगीत कला तो उसे जन्म के साथ ही प्राप्त हो जाती है संगीत सुरलयताल का ऐसा अद्भुत संगम है जो मानव मात्र को एक नई ऊर्जा से भर देता है।
संगीत कला से बच्चा प्रथमतया परिचित होता है।
नरेश सक्सेना लिखते हैं कि -

शिशु लोरी के शब्द नहीं संगीत समझता है।
बाद में सीखेगा भाषा अभी वह अर्थ समझता है,
तुम्हारे सारे क्रिया कलापों को व्यर्थ समझता है।
बालक लोरी के शब्द नहीं संगीत समझता है । ।

सारंगदेव ने भी संगीत की महत्ता को बताते हुए लिखा है कि स्तनपान करता हुआ बालक भी कलाओं से वंचित नहीं रह सकता।
मनुष्य की चार अवस्थाएं होती हैं-

- शैशवास्था
- किशोरावस्था
- युवावस्था
- और वृद्धावस्था

उपर्युक्त चारों अवस्थाओं में क्रमशः वह संगीत कला, काव्य कला, चित्रकला और वास्तुकला आदि से आप्लायित रहता है।

आगे चलकर लोगों के नाम उच्चारण संबोधन आदि के द्वारा उसको शब्द का ज्ञान होता है तथा शब्द के द्वारा वह काव्य कला में प्रविष्ट करता है। उसके बाद अनेक कविताओं गद्यों, पद्यों को सुनता है व उसका मनन करता है।
उसके बाद रचना करता है। युवावस्था में जाने के बाद वह चित्रकला की ओर आकर्षित होता है।
विभिन्न आकृतियों व चित्रों को हृदयंगम करता है।
ग्रामीणाचल में लोग दिन भर के कार्यों की थकान को कलाओं के माध्यम से ही मिटाते थे। लोकगीतों के माध्यम से या लोक कलाओं के माध्यम से वे पारस्परिक सौहार्द एवं सामाजिक ताने-वाने से जुड़े रहते थे। हमारे यहां तो संस्कार गीत, रितु गीत, विवाह गीत आदि के गायन की लोक परंपरा रही है। एक प्रसिद्ध कहावत है सूक्ति है

साहित्य संगीत कला विहीन:
साक्षात् पशु-पुच्छ विषाणहीन:

अर्थात साहित्य संगीत आदि कलाओं के बिना मनुष्य बिना सींग और पूंछ के पशु के समान है। तात्पर्य यह है कि कलाएं ही व्यक्ति को पूर्ण करतीं हैं और पशु आदि जीव जंतुओं से पृथक भी करतीं हैं।
मनुष्य ना चाहते हुए भी कलाओं से प्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रुप से जुड़ा हुआ होता है रास्ते में चलता है तो कुछ ना कुछ उसके कान में संगीत पड़ता है। आसपास के रहन-सहन व जीवन शैली में कलाकृतियां दृश्यमान रहती हैं।

कलाएं हमें अपने उत्तरदायित्व के प्रति बोध करातीं है। अग्रजों के प्रति आदर और अनुजों के प्रति स्नेह भी सिखाती हैं। कलाकार होना अत्यंत सौभाग्य की बात है। कलाओं का ज्ञान उसका परिमार्जन बिना ईश्वर की कृपा के संभव नहीं है। मनुष्य हर दिन हर समय कलाओं से आवृत्त है वह एक पल भी कला रहित नहीं रह सकता उसके जीवन में जिस प्रकार अन्न जल का स्थान है, उसी प्रकार कलाओं का भी स्थान है। संगीत कला तो अत्यंत ही विशुद्ध कला है

जो मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त करती है। मनुष्य के चार पुरुषार्थ हैं - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

चारों पुरुषार्थ कलाओं के माध्यम से मनुष्य सहज रूप में प्राप्त कर लेता है। हमें कलाएं पशु से इतर जीवन जीने के लिए भी प्रेरित करती हैं। केवल खाना सोना प्रजनन करना य सब तो पशु भी कर लेते हैं किंतु कलाएं हमको इससे पृथक जीवन जीने के लिए प्रेरित करती हैं।

संस्कृति मनुष्य के संपूर्ण कलाओं की सम्मिलित उपलब्धि है राष्ट्र या देश इन कलात्मक उपलब्धियां का संकलन और संरक्षण करता है। कला और संस्कृति का संरक्षण संगीत के बिना संभव नहीं है संगीत कला और संस्कृति का संरक्षक व संपोषक है।

भारतीय मनीषियों ने ज्ञान और कला को संस्कृति का आधार माना है और संगीत को आत्मोन्नति हेतु बताया है। संस्कृति आत्मोन्नति का प्रतिफल है जो ज्ञान विज्ञान की देन है किसी भी देश की संस्कृति के परीक्षण के प्रमुख अंग सहित उसका गौरवशाली धार्मिक इतिहास और कलात्मक सृजन है तीनों ही क्षेत्र का सम्मिलित रूप वहां की संस्कृति का आधार बनता है। ज्ञान संस्कृति और संगीत उसकी विरासत अर्थात परंपरा यह तीनों ही उस देश के आधार स्तंभ होते हैं। देश कितना संस्कारी या सुसंस्कृत है वहां की कला और परंपराओं पर निर्भर करता है।

संगीत कला में गुरु शिष्य परंपराएं भी प्राचीन काल से चली आ रही हैं गुरु के द्वारा हमको अनुशासन और आचरण में रहने का पाठ पढ़ाया जाता है। अनुशासन और सदाचरण दोनों ही मनुष्य के जीवन को उत्कृष्टता प्रदान करते हैं।

गुरु हमें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं जो हमें ईश्वर की ओर उन्मुख होने का मार्ग है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में बिना कलाओं के कुछ भी संभव नहीं है मनुष्य को समाज में बने रहने के लिए कलाओं से प्रेम करना चाहिए क्योंकि कला हमको समर्पित होने के लिए तैयार करती हैं मनुष्य का संपूर्ण जीवन कलाओं से आवृत्त है और हमेशा रहेगा।

भारतीय मनीषियों ने ज्ञान और कला को संस्कृति का आधार माना है और संगीत को आत्मोन्नति हेतु बताया है। संस्कृति आत्मोन्नति का प्रतिफल है जो ज्ञान विज्ञान की देन है किसी भी देश की संस्कृति के परीक्षण के प्रमुख अंग सहित उसका गौरवशाली धार्मिक इतिहास और कलात्मक सृजन है तीनों ही क्षेत्र का सम्मिलित रूप वहां की संस्कृति का आधार बनता है। ज्ञान संस्कृति और संगीत उसकी विरासत अर्थात परंपरा यह तीनों ही उस देश के आधार स्तंभ होते हैं। देश कितना संस्कारी या सुसंस्कृत है वहां की कला और परंपराओं पर निर्भर करता है।

काव्य कला चित्रकला, आदि से मनुष्य को जीविकोपार्जन का भी लाभ होता है। कलाएं जीविकोपार्जन का भी साधन है आधुनिक युग में प्रतिदिन कवि सम्मेलन इत्यादि होते हैं जिनके माध्यम से अनेक युवा कलाकार युवा कवि देश विदेश में काव्यकला के माध्यम से जुड़ते हैं और उनको जीवि कोपार्जन में सहायता मिलती है। गायन वादन नृत्य के माध्यम से भी बहुत सारे कार्यक्रम होते रहते हैं और मनुष्य की जीविका चलती है

**निष्कर्ष :** भारत की सांस्कृतिक विरासत की मूल आत्मा उसके कला और ज्ञान के समन्वय में निहित है। यह केवल स्थापत्य और शिल्प की विविधता नहीं, बल्कि चैतन्य जीवन दृष्टि की प्रतीक है। भारतीय कला शास्त्रों में सौंदर्य और अध्यात्म का मिलन है, जबकि उसकी ज्ञान परंपरा में वैज्ञानिक, दार्शनिक और नैतिक चिंतन की पराकाष्ठा दृष्टिगोचर होती है।

इस शोध में यह स्पष्ट रूप से सामने आता है कि भारत की सांस्कृतिक जड़ें अत्यंत गहरी, जीवंत और सार्वकालिक हैं। भारत की कला केवल दर्शनीय नहीं, साधनीय है, और उसका ज्ञान केवल जानने के लिए नहीं, जीने के लिए है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है की कलाएं मानव को पूर्ण बनाती हैं। कलाओं के द्वारा मनुष्य को एक ऐसी दृष्टि प्राप्त होती है जिसमें मानव मात्र के लिए सौंदर्य, संतुलन और समरसता का मार्ग प्रस्फुटित होता है।

सृष्टि के आदि से लेकर के सृष्टि के अंत तक उद्भव स्थिति और संहार इन तीनों अवस्थाओं में मानव कलाओं से आवृत्त रहता है। उसका जीवन पूर्ण रूप से कलाओं के द्वारा सजता है तथा कलाओं के माध्यम से वह आनंद को प्राप्त करता है।

**संदर्भ ग्रंथ :**

1. गोस्वामी तुलसीदास कृत श्रीरामचरितमानस
2. श्रीमद् वाल्मीकि रामायण
3. भैरवी शोध पत्रिका
4. भारतीय संगीत का इतिहास- राम अवतार वीर
5. संगीत साहित्य दर्शन -उर्मिला शर्मा
6. नारदीयशिक्षा, नारायणी टीका, व्याख्याकार- कौडिन्न्यायन, आचार्य शिवराज
7. भैरवी संगीत शोध पत्रिका, अंक -28
8. संगीत कला के विविध आयाम, डॉ दीपिका वालिया

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-55-58

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 55-58
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**प्रोफेसर डॉ. चंद्रकांत बन्सीधर भांगे**
सैनिक शास्त्र विभाग प्रमुख एवं शोध निर्देशक,
श्री. शिवाजी कॉलेज, परभणी (महाराष्ट्र)

Corresponding Author :

**प्रोफेसर डॉ. चंद्रकांत बन्सीधर भांगे**
सैनिक शास्त्र विभाग प्रमुख एवं शोध निर्देशक,
श्री. शिवाजी कॉलेज, परभणी (महाराष्ट्र)

## भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा के पहलू – एक अभ्यास

**सारांश :** आज भारतीय स्वतंत्रता एवं सुरक्षा को लगभग 79 वर्ष पूरे हो चुके है। भारत को स्वतंत्रता एवं राष्ट्रीय सुरक्षा को जो चुनौतियॉ प्राप्त हुई है इन चुनौतियों का सामना करते हुये भारत राष्ट्र ने आज 21वी सदी में राष्ट्रीय अंतराष्ट्रीय स्तर पर एक ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त की है तथा समकालीन स्थिति में जो चुनौतियाँ उत्पन्न है। या होने वाली है। इन चुनौतियों का सामना करने के लिए परिस्थितिनुसार रणनीति, कूटनीति साथ ही युध्दनीति विकसित करने पर जोर दिया है। इसी दृष्टिकोण को विकसित भारत का उदिष्ट 2047 रखा गया । इस उदिष्ट तक पहुचने के लिए भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा अवधारणा के कई पहलू महत्वपूर्ण है। इनकी ओर अनदेखी नहीं हो सकती। प्रादेशिक अखण्डता, सम्प्रभुता अंतर्गत सुरक्षा, बाह्य सुरक्षा आदि इनके द्वारा स्पष्ट होता है कि भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा सदाही चुनौतीपूर्ण विषय रहा है, और रहेगा। इसके लिए भारतीय नेतृत्व व्यवस्था साथ ही जनसंख्या को सदा ही जागृत एवं कर्तव्यदक्ष रहने की आवश्कता हैं।

**केंद्र बिंदू :** राष्ट्रीय सुरक्षा, अंतर्गत सुरक्षा, बाह्य सुरक्षा – मालद्वीप, नेपाल एवं भूटान

**प्रस्तावना :** आज 21वी सदी में अंतराष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर भारत की छबि विकास एवं अंतराष्ट्रीय नेतृत्व की पहचान बन चुकी है। राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रयास एवं नेतृत्व, कूटनीति, कौशल जनसहयोग भारतीय महत्वपूर्ण सिध्द हुआ है। अर्थात भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा के कई पहलू भारत ने सही एवं स्थितिनुसार निर्णय लिये है। राष्ट्रीय सुरक्षा को सुरक्षित एवं आदर्श बनाया है। इनके कई पहलू है, इनका अध्ययन आज आवश्यक है। इन पहलू में महत्वपूर्ण चुनौतियाँ है। वे भारतीय सुरक्षा के लिए अहम है।

**राष्ट्रीय सुरक्षा :** सुरक्षा यह एक व्यापक विचार है। सुरक्षा में राष्ट्रीय अखंडता, सम्प्रभुता एवं राष्ट्रीय होना साथ ही पडोसी संबंध, राष्ट्रहित में वृध्दि तथा राष्ट्रीय सुरक्षा के कई पहलू का विकास एवं विस्तार अभिप्रेत है कि जिससे राष्ट्र को राष्ट्रीय–अंतराष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त हो।

**राष्ट्रीय सुरक्षा के उद्देश्य :**

- संघर्षमय स्थिति में राष्ट्र को संघठित एवं संघर्ष करने के साथ जीवित रहने की क्षमताओं का निर्माण एवं विकास करना।
- राष्ट्र को कठिन स्थिति में ले जाने वाले घटनाक्रम को रोकना।
- शत्रु की धमकी, आक्रमण एवं संधियों आदि स्थितियों का निपटारा करने की क्षमताओं का निर्माण करना।
- राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को बनाए रखना साथ ही राष्ट्रीय विकास, स्वाबलंबन क्षमताओं का निर्माण करना। राष्ट्रीय विकास के हर क्षेत्र में स्वयंपूर्ण बनना। अन्य राष्ट्रों की निर्भरता कम करना।
- पडोसी राष्ट्र एवं अंतराष्ट्रीय जगत के साथ संबंध मधुर बनाने के प्रयास करना।
- राष्ट्र की आर्थिक विकास के मार्ग, स्त्रोत की व्यापकता बनना।

- सीमाओं की सुरक्षा, अदरूनी चुनौतियों के लिए आतंकवाद आदि के लिए रक्षा उघोग को व्यापकता देना।
- राष्ट्रीय युवा एवं नागरिकों को राष्ट्रीय कर्तव्य के प्रति जाग्रत करना।

**भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा :** आज 21वी सदी में विश्व की सबसे बडी जनसंख्या वाला राष्ट्र भारत है। साथ ही आने वाले भविष्य में भारत की ओर विश्व शांति, नेतृत्व महाशक्ति की दृष्टिकोण से विश्व देख रहा है, साथ ही विश्व में स्पष्ट रूप से अनिवासी प्रवासी भारतीयों की अंतराष्ट्रीय क्षेत्र में प्रभावी छबि भारतीयों का महत्व स्पष्ट करती है। विश्व में जो कुछ विश्व कल्याण की गतिविधियाँ होती है उनमें भी प्रवासी भारतीयों का योगदान भी अनमोल है अर्थात भारतीय हिन्दुस्तानीयों का स्थान सदा ही महत्वपूर्ण रहा है। इसी दृष्टिकोण द्वारा भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा अवधारणा साथ ही पहलू का अभ्यास महत्वपूर्ण है। भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा तथा पहलू

1. राष्ट्रांतर्गत स्थिति
2. पडोसी राष्ट्र – मालद्वीप, नेपाल एवं भूटान

**(1) राष्ट्रांतर्गत स्थिति :** भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा के जो विभिन्न पहलू है उन्हमें से महत्वपूर्ण राष्ट्रांतर्गत स्थिति है इसके कई मुद्दे है :

- **भारतीय भौगोलिक विविधता संस्कृति :** भारतीय संस्कृति का 500 वर्ष पुराना इतिहास है, साथ ही भौगोलिक, संस्कृति, उत्सव, सामाजिक जीवनमान, खानपान साथ आदर्शो का भी इतिहास रहा है। भारतीय विविधता राष्ट्रीय एकजुट बनाने में महत्वपूर्ण रही है। किंतु यह विविधता आरक्षण मुद्दे, राजकीय मुद्दे तथा विकास की कमी आदि कारण एकजुट को कमजोर बनाने का कार्य कर रही है।
- **युवाशक्ती :** आज विश्व में सबसे ज्यादा यूवा भारत राष्ट्र में है। युवाओं पर राष्ट्र की उन्नती, सुरक्षा निर्भर होती है किंतु भारतीय यूवक समकालीन व्यवस्था के प्रति काफी उदासीन है। शासन द्वारा कार्यान्वित योजना युवाओं तक पहुंच नहीं रही है। इसकी पृष्ठभूमि काफी समस्यापूर्ण है। युवाओं के लिए शासन द्वारा रोजगार की निर्मित एवं मागदर्शन की आवश्यकता है।
- **जनआंदोलन :** भारतीय प्रशासकीय स्थिति एवं प्रशासन के सामने जो उत्पन्न चुनौती है विशेषकर प्रशासन व्यवस्था में कार्य के प्रति उदासीनता बढना। भृष्टाचार, इससे राष्ट्रीय प्रतिष्ठा एवं विकास पर असर हो रहा है। इस स्थिति को देखते हुये महाराष्ट्र में अन्ना हजारे द्वारा लोकपाल एवं लोक आयुक्त ॲक्ट के लिए आंदोलन 2013 में हुआ। इस आंदोलन का परिणाम भारत में यह जन आंदोलन व्यापक हुआ तत्कालीन केंद्र सरकार ने लोकपाल एवं लोक ॲक्ट कार्यरत करने का आश्वासन दिया। परंतु अभी भी स्थिति में काफी सुधार होना है। NEET पेपर लीक मामले में दिल्ली के जंतर मंतर पर युवाओं द्वारा आंदोलन हुआ। इस आंदोलन का परिणाम पेपरलीक मामले में केन्द्रीय शिक्षामंत्री को इस्तीफा देना पडा। फिर शासन द्वारा जो निर्णय हो रहे है। इससे भारतीय युवा संतुष्ट नहीं है। केंन्द्र के साथ ही भारतीय राज्य महाराष्ट्र, झारखण्ड में पेपर लीक का मामला जो पकड रहा है। झारखंड में जो जनआंदोलन इतना व्यापक हुआ कि झारखंड सरकार को कई परीक्षाएँ रद्द करनी पडी। यह स्थिति युवाओं की मानसिक असुरक्षित स्पष्ट करती है।
- **बढ़ता भृष्टाचार :** भारतीय लोकतंत्र के सामने बढ़ता भृष्टाचार बडी चुनौती है। आज लगभग विशेषकर प्रशासनिक, शासकीय कार्यालय में कार्य में अपूर्णता देरी आदि कारणों से भृष्टाचार बढ़ रहा है। भृष्टाचार के कई मामले आंदोलन में है, किंतु अभी तक भृष्टाचारी अधिकारियों को शासन देरी से होना। भृष्टाचारी अधिकारी सबूत पूरे प्राप्त न होने के कारण छूट जाते है। ऐसी पृष्ठभूमि द्वारा भृष्टाचार मानवीजीवन के विभिन्न क्षेत्र बढ़ रहा है इससे जनता का शासन पर का विश्वास कम होता दिखाई दे रहा है।
- **महिला सशक्तिकरण :** आज भारत राष्ट्र में महिला सशक्तिकरण विविध दृष्टिकोण से पूरा नही हुआ है आज की महिलायें घरेलू हिंसा से पीडित है। अनपढ़, ग्रामीण क्षेत्र में काफी घरेलू हिंसा के मामले है, किंतु जो महिलायें राष्ट्र कार्य में महत्वपूर्ण योगदान देती है। वे भी घरेलू हिंसा द्वारा पीडित है। उदा. महाराष्ट्र के धाराशिव जिले के नलदुर्ग तहसील क्षेत्र राष्ट्रीय कुश्ती पटू महिला ने नलदुर्ग किले से छलांग लगाकर आत्महत्या कर दी। यह महिला महाराष्ट्र सुरक्षा दल मुंबई में सेवा में कार्यरत थी अर्थात भारत में महिला उत्पीड़न समस्या महत्वपूर्ण है।
- **बेरोजगारी :** भारत में बेरोजगारी की बढ़ती समस्या उत्पन्न हुई है बढ़ती युवा जनसंख्या एवं रोजगार के अवसर में काफी अंतर आ चुका है कई क्षेत्र में AI का प्रयोग द्वारा जो IIT तथा अन्य क्षेत्र में है। उनकी सेवायें छिनी जा रही है। भारत का कृषि व्यवसाय निसर्ग अर्थात पानी मौसम पर आधारित है। पानी की समस्या अकाल आदि कारणो से ग्रामीण क्षेत्र से लोगो का पलायन शहरी क्षेत्र की ओर हो रहा है। इससे शहरों में रोजगार की समस्या काफी कठिन बन गयी है।
- **राजकीय क्षेत्र :** भारतीय राजकीय क्षेत्र राजनीति महत्वपूर्ण है। भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। आज लगभग 79 वर्ष पूरे हो चुके। है भारतीय राजनीति में जो लोग, नेतृत्व कार्यरत है। उन्हका हर क्षेत्र में बर्चस्व निर्माण हो चुका है। यह भारतीय लोकतंत्र के लिए बडा चुनौतीपूर्ण मुद्दा है। साथ ही जब चुनाव की बात होती है तो पैसे का मामला बढता हुआ दिखाई देता है। अर्थात स्पष्ट है कि अब भारतीय राजनीति विशिष्ठ वर्ग, समुदाय या लोगो की वर्चस्व में है। नये लोगों का राजनीति में आना कठिनतापूर्ण दिखाई देता है।

- **अन्नसुरक्षा :** भारतीय बढ़ती जनसंख्या के लिए अन्न सुरक्षा महत्वपूर्ण मुद्दा है। लेकिन आज की स्थिति में देखते है कि, अन्न सुरक्षा की जो गुणवत्ता है उसके ओर अनदेखी हो रही है। इसी का परिणाम कुपोषण,बढ़ती बीमारी जैसी समस्या आज भी देखने को मिलती है। जिससे बच्चों के शारीरिक विकास में बाधाएँ आती है। सामाजिक स्तर पर देखते तो मिलावट की समस्या दूध, पनीर, खानपान में पायी गई है। महाराष्ट्र में FDA द्वारा हुई कार्यवाही में कई जगह मिलावटी दूध प्राप्त हुआ है। इससे स्पष्ट है कि भारत को 2047 तक विकसित राष्ट्र बनना है, तो भारतीयों की अन्न सुरक्षा परिपूर्ण होनी चाहिए।
- **सांप्रदायिक :** भारत राष्ट्र जाति एवं धर्म में विविधता वाला राष्ट्र है भारत का निर्माण पार्श्वभूमि हिंदू मुस्लिम अर्थात जीनाद्वारा पाकिस्तान की मांग पर हुआ। किंतु भारत में कई मुस्लिम समुदाय ने पाकिस्तान न जाकर भारत में रहना पसंद किया। आशा थी कि पाकिस्तान निर्माण के बाद भारत में सांप्रदायिकता बनी रहेगी किन्तु इतिहासकालीन संदर्भ एवं स्थानीय स्थिति भारत में कई बार सांप्रदायिक दंगे हुये हैं। महाराष्ट्र में छत्रपति संभाजीनगर मुंबई–उीवंदी मालेगांव कई उदाहरण है भारत में अंतर्गत सुरक्षा के लिए सांप्रदायिकता का मुद्दा अत्यंत महत्वपूर्ण है।
- **भाषावाद :** भारत राष्ट्र में कई भाषाएँ है, कहते है कि विश्व में सबसे अधिक भाषा वाला राष्ट्र भारत है आज स्वतंत्रता प्राप्ती कें उपरांत 79 वर्ष बाद भी भारत राष्ट्र में भाषा का मुद्दा महत्वपूर्ण है। महाराष्ट्र (मराठी), कर्नाटक (कन्नड), तमिलनाडू (तमिल) भाषा, स्थानीय भाषा को लेकर हिंदी भाषिक के साथ तनावपूर्ण स्थिति कई बार बन चुकी है। भाषावाद पर लोगो में समन्वय आवश्यक हैं।
- **केंद्र राज्य संबंध :** भारत राष्ट्र में केंद्र राज्य संबंध महत्वपूर्ण है। केंद्र सरकार द्वारा हुए निर्णय का सम्मान करना। राज्य सरकार का कार्य है किंतु दिखाई देता है कि तमिलनाडू कर्नाटक, केरला राज्य केंद्र के साथ संबंध में सकारात्मक दिखाते नहीं है। विशेषकर ''वंदेभारत'' गायन संदर्भ में दिखाई देता है। दक्षिण भारत के राज्य हिंदी भाषा को महत्व देना नहीं चाहते। वे केवल स्थानीय भाषा और अंग्रेजी को महत्व देते है इससे केंद्र राज्य संबंध जटिल होते है। यह अंतर्गत सुरक्षा के लिए चिंताजनक है।
- **वोट बैंक की राजनीति :** भारत एक लोकतंत्र राष्ट्र है। भारत में राज्य केंद्र सरकार का कठन करने के लिए चुनाव आयोग द्वारा चुनाव लिये जाते है। चुनाव का उद्देश्य राष्ट्र को एक उत्तम सरकार प्राप्त हो अच्छे जनप्रतिनिधी राष्ट्र को प्राप्त हो, विकास हो, यह भावना स्पष्ट है। पंरन्तु आज भारत में चुनाव समय की स्थिति को देखते है तो जातीय समीकरणों के आधार पर वोट बैंक की राजनीति होती है, परिणाम पार्टीयॉ चुनाव के लिए जो उम्मीदवार देती है। वे जाति, धर्म के आधार पर, परिणाम स्पष्ट है कि वोट बैक की राजनीति उचित प्रतिनिधि कैडेट सरकार में शामिल नही हो सकते। फिर वे जाति, धर्म के आधार पर राजनीति करते है।
- **शिक्षा :** कहते है ''शिक्षा राष्ट्र निर्माण, मनुष्य निर्माण का महत्वपूर्ण अंग है किंतु वैश्वीकरण स्थिति में आज भारत में शिक्षा का निजीकरण बड़ी गति द्वारा हो रहा है। अब शिक्षा का आधार पैसा हुआ है, जिसके पास पैसे है वे ही अच्छी शिक्षा ले सकते है। विदेशी विश्वविघालय भारत में आ रहे है। प्राथमिक शिक्षा के लगभग 9500 स्कूल भारत में बंद किये जा रहे है, यह स्थिति आने वाले भविष्य के लिए चिंताजनक है क्योकि गरीबी में बडी मात्रा में वृध्दी हो रही है। सामान्य के लिये रोजगार के अवसर कम हो रहे है।
- **नई शिक्षा नीति 2020 :** केंद्र सरकार द्वारा नई शिक्षा नीति 2020 की क्रियान्वयन हुआ है उत्तर भारत में उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र में नई शिक्षा नीति 2020 कार्यान्वित हुई है। किंतु दक्षिण भारत में तमिलनाडू, कर्नाटक, केरलम राज्यो में नई शिक्षानीति 2020 का विरोध किया जा रहा है। तीन भाषा सुत्र का विरोध हुआ है। यह स्थिति भारतीय अंतर्गत सुरक्षा के लिए चिंताजनक है।

  **(2) पडोसी राष्ट्र :** दक्षिण एशिययी क्षेत्र में भारत ने स्वंत्रता प्राप्ती के उपरांत शांति एवं विकास, सहयोग की पहल करते हुये पडोसी राष्ट्रों के साथ संबंध सहकार्यात्मक रखने के लिए प्रयास किये है किंतु भारत के संबंध प्रयासों में कई चुनौतियाँ है।

- **भारत–मालद्वीप :** भारत ने मालद्वीप राष्ट्र है हिंदी महासागरीय क्षेत्र आता है उसके साथ संबंध मधुर बनाने के प्रयास किये है। मालद्वीप 26 जुलाई 1965 को स्वंतत्र होने के बाद भारत में सामाजिक दृष्टिकोण से संबंध में वृध्दि के लिए प्रयास किये है। इस प्रयास का अंग–संबंध वृध्दि के लिए 2002 में भारत के प्रधानमंत्री बाजपेयी ने मालद्वीप यात्रा की। भारत के प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह 2011 को मालद्वीप यात्रा की थी। पंतप्रधान नरेन्द्र मोदी जी द्वारा मालद्वीप के साथ संबंध सुधार के लिए प्रयास हुये। किंतु भारत विरोधी मालद्वीप के राष्ट्रपति मोइज्जु द्वारा नीतियाँ अपनाई गई। भारत विरोधी उन्होनें वक्तव्य किये परिणाम भारत–मालद्वीप संबंध में तनाव उत्पन्न हुआ। भारतीय द्वारा मालद्वीप पर्यटन पर बहिष्कार किया गया। फिर मालद्वीप द्वारा भारत के प्रति भुमिका सकारात्मक आई। भारत ने मालद्वीप को आर्थिक सहायता की, किंतु मालद्वीप का बढना चीन के साथ लगाव भारत–मालद्वीप संबंध में कूरता निर्माण होती है।
- **भारत नेपाल संबंध :** भारत नेपाल राष्ट्र ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण से एक दूसरे के पूरक है। भारतीय सुरक्षा के लिए नेपाल का महत्व अहम है। नेपाल में Gen-2 युवाओं का आंदोलन हुआ बाद में नेपाली चुनाव में बालेनशहा का शासन प्रारंभ हुआ। नेपाली पंतप्रधान बालेनशहा ने भारत साथ संबंध मधुर बनाने के बजाय संबंध

में खटास पैदा की। भारत सीमा का प्रश्न उपस्थित किया। भारत के साथ व्यापार पर कुछ कड़े नियम बना दिये, परिणाम दोनो देशो के संबंध में कटूता आने लगी। किन्तु नेपाल में 05 सितम्बर 2026 को बाढ़ आई ऐसी कठिन समय में भारत के पंतप्रधान नरेन्द्र मोदी ने तुरंत आपदा सहायता पहुंचाई किन्तु इस आपदा के लिए भारत को जिम्मेदार मानते हुए नेपाल ने भारत से पुर्ननिर्माण के लिए आर्थिक सहयोग की माँग की। किंतु बाद में नेपाल ने इस बात को नकारा अर्थात भारत एक दूसरे के लिए महत्वपूर्ण राष्ट्र है। भारत नेपाल के साथ संबंध वृध्दि करना चाहता है।

- **भारत भूटान संबंध :** भूटान भारत के सिक्किम एवं असम प्रदेशों के बीच स्थित है तथा भूटान चीन और भारत के बीच स्थापित है। अर्थात भूटान की सुरक्षा द्वारा भारतीय सीमाऐं सुरक्षित रहती है। भारत स्वतंत्रता के बाद वर्ष 1949 को भारत भूटान मैत्री संन्धि हुई। इस संन्धि के अनुसार दोनो देश रक्षा और विदेश नीति के मामले में एक दूसरे का सहयोग करते है। भूटान के अनुरोध पर भारत उसकी क्षेत्रीय अखंडता की रक्षा करने के लिए प्रतिबध्द है। भारत भूटान संबंध की ओर देखा जाये तो भारत–भूटान संबंध सतत एक दूसरे के लिए सहयोगपूर्ण है। वर्ष 1971 भारत पाकिस्तान युध्द के दरम्यान भूटान की भूमिका भारत के प्रति सकारात्मक थी। 1971 युध्द में पाकिस्तान पर भारत ने विजय हासिल की उसके बाद बंगलादेश का जन्म हुआ। भूटान ने भारत के बाद बंगलादेश को दी। भारत–भूटान एक उत्कृष्ठ संबंध का उदाहरण 26 जनवरी 1984 गणतंत्र दिवस के अवसर पर भूटान नेरष जिमी को मुख्य अतिथि का सम्मान दिया साथ ही भारत के पंचप्रधान नरेन्द्र मोदी जी ने 11–12 नवम्बर 2025 को भूटान की यात्रा की दोनो देशो के संबंध वृध्दी के लिए हायड पॉवर प्रोजेक्ट पर समझौता हुआ एवं अन्य समझौते हुये।

**मूल्याकंन :** भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा दक्षिण आशियायी क्षेत्र में महत्वपूर्ण है। क्योकि भारत विश्व का सर्वाधिक जनसंख्या वाला राष्ट्र है। साथ ही दक्षिण आशियायी क्षेत्र में प्रथम भाई की भूमिका में है। भारतीय अंतर्गत सुरक्षा की समस्याएँ एक भारत के लिए चुनौती का मुद्दा है। साथ ही दक्षिण आशियायी राष्ट्र विशेषकर अंर्तराष्ट्रीय रणनीति के लिए नेपाल, मालद्वीप एवं भूटान की भुमिका स्थिरता एवं सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण है। अंर्तराष्ट्रीय गतिविधियाँ द्वारा स्पष्ट होता है कि भूटान की भूमिका भारत एवं दक्षिण आशियायी सुरक्षा एवं शांति के लिए सकारात्मक है। किंतु मालद्वीप, नेपाल की भूमिका चीन के प्रति भारत एवं दक्षिण आशियायी शांति एवं स्थिरता के लिए चिंताजनक है। ऐसी स्थिति भारत को 2047 विकसित राष्ट्र बनने के लिए कूटनीति सहयोग नीति के साथ ही चाणक्यनीति का अवलंब समय की माँग है।

**सन्दर्भ सूची :**

1. डॉ. बी. डी. तोड़कर, संरक्षण व सामरिकशास्त्र, प्रशांत पब्लिकेशन, जलगांव, 2010
2. डॉ. बी. डी. तोड़कर, संरक्षण कविता धर्माधिकारी, भारतीय युध्दकर्ण प्रशांत पब्लिकेशन, जलगांव, 2015
3. डॉ. बी. डी. तोड़कर, भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षितता, प्रशांत पब्लिकेशन, जलगांव, 2016
4. डॉ. देवेन्द्र विसपूते, राष्ट्रीय सुरक्षेचे संकल्पनात्मक पैलू, प्राईम पब्लिकेशन, जलगांव 2025
5. प्रा. ए.पी. चौधरी , डॉ. बोरसे योगेष, युध्द अणि शांति, प्रशांत पब्लिकेशन, जलगांव 2024
6. डॉ. देवेन्द्र विसपूते, भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा, प्रशांत पब्लिकेशन, जलगांव 2019
7. डॉ. दीपक शिकारपुर, सायबर युध्दनीति, विश्वकर्मा पब्लिकेशन, पूणे 2015
8. अशोक कुमार, विपूल, भारत की आंतरिक सुरक्षा मॅक्ग्रोर हिल एजुकेशन, नई दिल्ली 2015

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-59-62

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 59-62
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**
**डॉ. बिहारी लाल द्विवेदी**
प्राचार्य, मेकलसुता कॉलेज डिण्डौरी (म.प्र.)

Corresponding Author :
**डॉ. बिहारी लाल द्विवेदी**
प्राचार्य, मेकलसुता कॉलेज डिण्डौरी (म.प्र.)

# भारतीय ज्ञानपरंपरा में लोक साहित्य : ज्ञान, संस्कृति और स्मृति का विमर्श

**सारांश :** भारतीय ज्ञानपरंपरा मूलतः बहुस्तरीय, बहुभाषिक और बहुसांस्कृतिक परंपरा है। इसके निर्माण में केवल लिखित शास्त्रीय साहित्य का ही योगदान नहीं रहा, बल्कि लोकजीवन में पीढ़ी–दर–पीढ़ी संचित अनुभव, विश्वास, मूल्य, आचार–विचार, रीति–रिवाज और जीवन–दृष्टि भी महत्त्वपूर्ण रहे हैं। लोक साहित्य इसी जीवंत ज्ञान–संपदा का मौखिक एवं सामुदायिक रूप है। लोकगीत, लोककथा, लोकगाथा, कहावत, मुहावरा, पहेली, लोकनाट्य और अन्य लोकाभिव्यक्तियाँ भारतीय समाज के विविध समुदायों के अनुभवजन्य ज्ञान को संरक्षित करती हैं। इनमें प्रकृति और मनुष्य के संबंध, कृषि–ज्ञान, सामाजिक संबंध, नैतिक मूल्य, स्त्री–अनुभव, धार्मिक–सांस्कृतिक विश्वास, स्थानीय इतिहास तथा सामुदायिक स्मृति के अनेक रूप दिखाई देते हैं।

प्रस्तुत शोध–पत्र का उद्देश्य भारतीय ज्ञानपरंपरा के संदर्भ में लोक साहित्य की भूमिका का विश्लेषण करना है। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि लोक साहित्य केवल मनोरंजन या अतीत की सांस्कृतिक स्मृति नहीं है, बल्कि यह समुदायों द्वारा निर्मित और संप्रेषित ज्ञान–व्यवस्था है। इसकी मौखिकता, सामूहिकता और निरंतर परिवर्तनशीलता इसे भारतीय ज्ञानपरंपरा का महत्त्वपूर्ण आधार बनाती है। आधुनिक समय में लोक साहित्य का संरक्षण केवल सांस्कृतिक विरासत की रक्षा नहीं, बल्कि स्थानीय और पारंपरिक ज्ञान के संरक्षण की आवश्यकता भी है।

**बीज–शब्द :** भारतीय ज्ञानपरंपरा, लोक साहित्य, लोकज्ञान, लोकगीत, लोककथा, मौखिक परंपरा, सामुदायिक स्मृति, संस्कृति।

**1. भूमिका :** भारत की सभ्यता का विकास अनेक ज्ञानधाराओं के परस्पर संवाद से हुआ है। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण, बौद्ध–जैन साहित्य, दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष, व्याकरण और अन्य शास्त्रीय परंपराओं के साथ–साथ लोकजीवन में विकसित ज्ञान ने भी भारतीय संस्कृति को समृद्ध किया है। भारतीय ज्ञानपरंपरा को केवल ग्रंथों में उपलब्ध ज्ञान तक सीमित करना उचित नहीं होगा। भारतीय समाज में ज्ञान का एक बड़ा भाग परिवार, समुदाय, उत्सव, श्रम, कृषि, अनुष्ठान और मौखिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से पीढ़ियों तक पहुँचता रहा है।

लोक साहित्य इसी मौखिक और सामुदायिक ज्ञान–परंपरा का सृजनात्मक रूप है। 'लोक' यहाँ केवल ग्रामीण अथवा अशिक्षित समाज का पर्याय नहीं है, बल्कि उन समुदायों और जनसमूहों की ओर संकेत करता है जिनका जीवन अनुभव, सामूहिक स्मृति और परंपरागत व्यवहार उनकी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों में प्रतिबिंबित होता है। लोक साहित्य में किसी एक लेखक की अपेक्षा समुदाय की सामूहिक सर्जनात्मक चेतना अधिक महत्त्वपूर्ण होती है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भारतीय संस्कृति की व्यापकता और उसकी विविध धाराओं के अंतर्संबंध पर बल दिया है। इसी दृष्टि से लोक साहित्य को देखने पर स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति की जड़े लोकजीवन में गहराई तक स्थित हैं। लोक साहित्य उस ज्ञान को स्वर देता है जो

औपचारिक संस्थाओं से बाहर रहकर भी समाज के जीवन को संचालित करता है।

**2. शोध के उद्देश्य :** इस शोध के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

1. भारतीय ज्ञानपरंपरा में लोक साहित्य की स्थिति और महत्त्व को स्पष्ट करना।
2. लोक साहित्य में निहित लोकज्ञान के विविध रूपों का अध्ययन करना।
3. लोकगीत, लोककथा, लोकगाथा, कहावत और लोकनाट्य के ज्ञानात्मक पक्ष का विश्लेषण करना।
4. लोक साहित्य और सामुदायिक स्मृति के संबंध को रेखांकित करना।
5. आधुनिक संदर्भ में लोक साहित्य के संरक्षण और पुनर्पाठ की आवश्यकता पर विचार करना।

**3. शोध–पद्धति :** प्रस्तुत अध्ययन मुख्यतः वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक और व्याख्यात्मक पद्धति पर आधारित है। इसके लिए लोक साहित्य और भारतीय संस्कृति से संबंधित प्रकाशित ग्रंथों, शोध–अध्ययनों तथा परंपरागत साहित्यिक स्रोतों का अध्ययन किया गया है। लोक साहित्य की प्रकृति को समझने के लिए मौखिक परंपरा, सामुदायिक स्मृति और अनुभवजन्य ज्ञान की अवधारणाओं को आधार बनाया गया है।

**4. लोक साहित्य : अवधारणा और स्वरूप :** लोक साहित्य का मूल आधार लोकजीवन है। यह जीवन के सामान्य अनुभवों से उत्पन्न होता है और सामान्यतः मौखिक संप्रेषण के माध्यम से पीढ़ी–दर–पीढ़ी आगे बढ़ता है। लोक साहित्य की प्रमुख विधाओं में लोकगीत, लोककथा, लोकगाथा, कहावत, मुहावरा, पहेली, लोकनाट्य, मंगलगीत, ऋतुगीत, श्रमगीत तथा विभिन्न संस्कारों से जुड़े गीत सम्मिलित किए जा सकते हैं।

लोक साहित्य की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं –

**(क) मौखिकता** – लोक साहित्य का बड़ा भाग लिखित रूप में उत्पन्न नहीं होता। उसका संरक्षण स्मृति और वाचिक परंपरा के माध्यम से होता है।

**(ख) सामूहिकता** – लोक रचना प्रायः किसी एक रचनाकार की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति न होकर समुदाय की साझा रचनात्मक चेतना का परिणाम होती है।

**(ग) परिवर्तनशीलता** – मौखिक परंपरा में प्रत्येक प्रस्तुति के साथ कथ्य या भाषा में परिवर्तन संभव है। इसलिए लोक साहित्य स्थिर न होकर गतिशील रहता है।

**(घ) जीवन** – सापेक्षता– लोक साहित्य का संबंध जन्म, विवाह, मृत्यु, कृषि, ऋतु, पर्व, श्रम, परिवार और सामाजिक संबंधों से होता है।

**(ङ) स्थानीयता** – लोक साहित्य में किसी क्षेत्र की भाषा, बोली, भौगोलिक परिस्थितियाँ और सांस्कृतिक विशिष्टताएँ सुरक्षित रहती हैं।

इस प्रकार लोक साहित्य को किसी संग्रहालय में रखी स्थिर विरासत के बजाय जीवंत सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में समझना अधिक उचित है।

**5. लोक साहित्य और भारतीय ज्ञानपरंपरा :** भारतीय ज्ञानपरंपरा की एक विशेषता यह है कि ज्ञान अनेक माध्यमों से समाज में संचारित हुआ। शास्त्र और लोक, दोनों ने इस प्रक्रिया में योगदान दिया। लोक साहित्य ने ज्ञान को सरल, स्मरणीय और सामुदायिक बनाया। लोकगीतों में जीवनानुभवों का संचित ज्ञान मिलता है। कृषि–प्रधान समाजों में वर्षा, ऋतु–चक्र, बीज, फसल, श्रम और प्रकृति से संबंधित अनुभव गीतों और कहावतों में व्यक्त हुए। इसी प्रकार विवाह और अन्य संस्कारों के गीतों में पारिवारिक संरचना, सामाजिक संबंध और सामुदायिक मूल्य सुरक्षित रहे।

लोककथाएँ नैतिक और सामाजिक ज्ञान को कथा के माध्यम से प्रस्तुत करती हैं। पंचतंत्र जैसी कथात्मक परंपराएँ यह दिखाती हैं कि कथा भारतीय समाज में ज्ञान–संचरण का प्रभावी माध्यम रही है। यद्यपि शास्त्रीय रूप से संकलित ग्रंथ और लोककथा एक ही श्रेणी के नहीं हैं, फिर भी दोनों में कथा के माध्यम से अनुभव और नीति के संप्रेषण की परंपरा दिखाई देती है।

**6. लोकगीतों में जीवन और ज्ञान :** लोकगीत लोक साहित्य की अत्यंत समृद्ध विधा हैं। इनके माध्यम से समाज अपने सुख–दुःख, आशा–आकांक्षा, श्रम, प्रेम, पारिवारिक संबंध और धार्मिक विश्वास व्यक्त करता है।

**6.1 कृषि और प्रकृति संबंधी ज्ञान :** भारतीय लोकजीवन लंबे समय तक कृषि और प्रकृति पर निर्भर रहा है। इसलिए लोकगीतों में वर्षा, बादल, नदी, खेत, फसल, ऋतु और पशु–पक्षियों के अनेक संदर्भ मिलते हैं। ये अभिव्यक्तियाँ केवल सौंदर्यबोध नहीं देतीं, बल्कि मनुष्य और पर्यावरण के पारंपरिक संबंध की ओर भी संकेत करती हैं।

लोकगीतों के माध्यम से ऋतु–परिवर्तन और कृषि–चक्र की सामुदायिक स्मृति सुरक्षित रहती है। इस अर्थ में लोकगीत स्थानीय पर्यावरणीय ज्ञान के सांस्कृतिक अभिलेख की भूमिका निभाते हैं।

**6.2 स्त्री–अनुभव और लोकगीत :** लोकगीतों का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष स्त्री–अनुभव है। विवाह, विदाई, मायका, ससुराल, मातृत्व, भाई–बहन के संबंध और पारिवारिक जीवन से जुड़े गीतों में स्त्रियों की भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली है।

इस दृष्टि से लोकगीत इतिहास के उन पक्षों को सामने लाने में सहायक हैं जो औपचारिक इतिहास–लेखन में प्रायः कम दिखाई देते हैं। स्त्रियों द्वारा गाए गए गीत सामाजिक संरचना के भीतर उनके अनुभव, आकांक्षाओं और भावनात्मक संसार की सामूहिक स्मृति को संरक्षित करते हैं।

**6.3 श्रम और सामुदायिकता :** श्रमगीतों में सामूहिक श्रम को लय और संगीत से जोड़ने की परंपरा मिलती है। सामूहिक गायन श्रम को केवल शारीरिक क्रिया न रखकर सामाजिक अनुभव में बदल देता है। इससे सहयोग, सामुदायिकता और सहभागिता

के मूल्य मजबूत होते हैं।

**7. लोककथाओं में नैतिक एवं सामाजिक ज्ञान :** लोककथाएँ अनुभवजन्य ज्ञान के संप्रेषण का प्रभावी माध्यम रही हैं। इनमें बुद्धि, साहस, धैर्य, सहयोग, न्याय, विवेक और नैतिक आचरण जैसे विषय मिलते हैं।

लोककथा का ज्ञान सीधे उपदेश के रूप में न आकर पात्रों और घटनाओं के माध्यम से सामने आता है। यही कारण है कि लोककथाएँ बच्चों से लेकर वयस्कों तक विभिन्न पीढ़ियों में सहज रूप से संप्रेषित होती रही हैं।

भारतीय कथा–परंपरा में पशु–पक्षियों और मानवीय पात्रों के माध्यम से सामाजिक व्यवहार और नीति की शिक्षा देने की दीर्घ परंपरा रही है। पंचतंत्र इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। इसके साथ–साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं और क्षेत्रों में प्रचलित असंख्य स्थानीय कथाएँ भी सामुदायिक अनुभवों को संरक्षित करती हैं।

**8. कहावतें और मुहावरे : संक्षिप्त लोकज्ञान :** कहावतें लोक अनुभव को अत्यंत संक्षिप्त और स्मरणीय रूप में प्रस्तुत करती हैं। कृषि, मौसम, परिवार, व्यवहार, व्यापार, श्रम और सामाजिक संबंधों से संबंधित अनेक कहावतें लंबे सामुदायिक अनुभव का संक्षिप्त निष्कर्ष होती हैं। कहावतों का महत्त्व इस बात में है कि वे जटिल जीवन–अनुभव को थोड़े शब्दों में व्यक्त कर देती हैं। इस कारण वे मौखिक ज्ञान के अत्यंत प्रभावी माध्यम बन जाती हैं।

हालाँकि आधुनिक दृष्टि से प्रत्येक कहावत को वैज्ञानिक सत्य मानना उचित नहीं है। उन्हें उनके ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ में समझना आवश्यक है। कुछ कहावतें पुराने सामाजिक पूर्वाग्रहों को भी व्यक्त कर सकती हैं। अतः लोक साहित्य का अध्ययन आलोचनात्मक दृष्टि से किया जाना चाहिए।

**9. लोकगाथा और सामुदायिक इतिहास :** लोकगाथाओं में किसी क्षेत्र, समुदाय या नायक से जुड़ी ऐतिहासिक–सांस्कृतिक स्मृतियाँ संरक्षित रहती हैं। आल्हा, ढोला–मारू, पाबूजी आदि की गाथाएँ विभिन्न क्षेत्रों की सामुदायिक स्मृति और वीरता–परंपरा को व्यक्त करती हैं।

लोकगाथा को सीधे इतिहास का प्रमाण मानना उचित नहीं है, क्योंकि उसमें कल्पना, अतिशयोक्ति और समय के साथ हुए परिवर्तन भी शामिल हो सकते हैं। फिर भी यह समझने के लिए कि कोई समुदाय अपने अतीत को किस प्रकार याद करता और अर्थ देता है, लोकगाथाएँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं।

इस प्रकार लोकगाथा 'घटी हुई घटना' के साथ–साथ 'स्मरण किए गए अतीत' का भी अध्ययन प्रस्तुत करती है।

**10. लोकनाट्य और सामूहिक ज्ञान :** लोकनाट्य लोक साहित्य को प्रदर्शनात्मक आयाम प्रदान करता है। नौटंकी, स्वांग, तमाशा, यक्षगान, जात्रा, भवाई, माच आदि विभिन्न लोकनाट्य परंपराओं ने मनोरंजन के साथ–साथ सामाजिक और नैतिक संदेशों के संप्रेषण में भूमिका निभाई है।

लोकनाट्य की विशेषता यह है कि इसमें साहित्य, संगीत, अभिनय, नृत्य और सामुदायिक सहभागिता का समन्वय होता है। इसके माध्यम से ज्ञान केवल सुनाया नहीं जाता, बल्कि सामूहिक रूप से अनुभव किया जाता है।

**11. लोक साहित्य और स्थानीय ज्ञान–व्यवस्था :** भारतीय ज्ञानपरंपरा की विविधता को समझने के लिए स्थानीय ज्ञान–व्यवस्थाओं का अध्ययन आवश्यक है। लोक साहित्य में –

स्थानीय वनस्पतियों और प्राकृतिक परिवेश की स्मृतियाँ,
कृषि और ऋतु–चक्र से जुड़े अनुभव,
पारंपरिक व्यवसायों की जानकारी,
सामाजिक रीति–रिवाज,
पारिवारिक संबंधों की संरचना,
लोक–आस्था और अनुष्ठान,
स्थानीय इतिहास और स्मृतियाँ
विभिन्न रूपों में संरक्षित मिलती हैं।

यह ज्ञान प्रायः किसी औपचारिक पाठ्यक्रम के माध्यम से नहीं, बल्कि सहभागिता और अनुकरण के द्वारा अगली पीढ़ी तक पहुँचता है। यही इसकी लोकपरंपरागत विशेषता है।

**12. लोक साहित्य में भारतीय बहुलता :** भारत में भाषाई और सांस्कृतिक विविधता अत्यंत व्यापक है। प्रत्येक क्षेत्र की अपनी लोकभाषाएँ, लोकगीत, लोककथाएँ और लोकनाट्य परंपराएँ हैं। भोजपुरी, अवधी, ब्रज, बुंदेली, बघेली, मालवी, निमाड़ी, राजस्थानी, मैथिली, छत्तीसगढ़ी, मराठी, बंगाली, असमिया, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि अनेक भाषाई क्षेत्रों का लोक साहित्य भारतीय सांस्कृतिक विविधता को अभिव्यक्त करता है।

इस विविधता में एकता खोजने के साथ–साथ क्षेत्रीय विशिष्टताओं का सम्मान करना भी आवश्यक है। भारतीय ज्ञानपरंपरा का वास्तविक स्वरूप इसी बहुलता और अंतर्संबंध में दिखाई देता है।

**13. लोक साहित्य और मौखिक परंपरा :** मौखिक परंपरा लोक साहित्य की आधारभूमि है। लिखित साहित्य में पाठ अपेक्षाकृत स्थिर रह सकता है, जबकि मौखिक साहित्य प्रस्तोता, श्रोता, स्थान और परिस्थिति के अनुसार बदल सकता है।

इस परिवर्तनशीलता को कमजोरी न मानकर लोक साहित्य की जीवंतता के रूप में देखा जाना चाहिए। एक ही कथा के विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग रूप मिलना भारतीय लोक परंपरा की सृजनात्मक शक्ति को दर्शाता है। मौखिक परंपरा यह भी बताती है कि ज्ञान केवल पुस्तक में संग्रहित वस्तु नहीं है। वह सामाजिक व्यवहार और सामुदायिक स्मृति में भी जीवित रहता है।

**14. आधुनिकता और लोक साहित्य की चुनौतियाँ :** आधुनिक संचार माध्यमों, शहरीकरण, वैश्वीकरण और जीवन–शैली में परिवर्तन के कारण लोक साहित्य की अनेक परंपराएँ संकट का सामना कर रही हैं। कुछ लोकभाषाओं और लोककलाओं का पीढ़ीगत हस्तांतरण कम हुआ है। फिर भी आधुनिक तकनीक लोक साहित्य के संरक्षण का साधन भी बन सकती है। ऑडियो–वीडियो अभिलेखन, डिजिटल संग्रह, विश्वविद्यालयीय शोध, स्थानीय समुदायों की भागीदारी और विद्यालयों में क्षेत्रीय लोक–संस्कृति के अध्ययन के माध्यम से इन परंपराओं को संरक्षित किया जा सकता है।

यहाँ यह सावधानी आवश्यक है कि लोक साहित्य का संरक्षण केवल संग्रह करने तक सीमित न रहे। जिस समुदाय ने उस परंपरा को जीवित रखा है, उसके अनुभव और अधिकारों का सम्मान भी किया जाना चाहिए।

**15. लोक साहित्य के अध्ययन की समकालीन प्रासंगिकता :** आज भारतीय ज्ञानपरंपरा पर नए सिरे से विमर्श हो रहा है। इस संदर्भ में लोक साहित्य का अध्ययन कई कारणों से महत्त्वपूर्ण है –

यह भारतीय समाज की विविध सांस्कृतिक स्मृतियों को समझने में सहायता करता है।
यह स्थानीय और अनुभवजन्य ज्ञान के अध्ययन का आधार प्रदान करता है।
यह इतिहास के उपेक्षित या कम अभिलिखित पक्षों को समझने में सहायक है।
यह क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों के संरक्षण में योगदान देता है।
यह समुदाय, प्रकृति और संस्कृति के पारंपरिक संबंधों का अध्ययन संभव बनाता है।
यह ज्ञान को केवल अभिजात या संस्थागत परंपराओं तक सीमित करने के बजाय व्यापक सामाजिक संदर्भ में देखने की दृष्टि देता है।

**16. निष्कर्ष :** भारतीय ज्ञानपरंपरा को पूर्णता से समझने के लिए लोक साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है। लोक साहित्य में भारतीय समाज की सामूहिक स्मृति, अनुभव, मूल्य, विश्वास और जीवन–दृष्टि अनेक रूपों में सुरक्षित हैं। लोकगीतों में श्रम, प्रकृति और भावनात्मक जीवनय लोककथाओं में नैतिक एवं सामाजिक अनुभवय कहावतों में संक्षिप्त जीवन–ज्ञानय लोकगाथाओं में सामुदायिक इतिहास–बोध और लोकनाट्य में सामूहिक सांस्कृतिक चेतना अभिव्यक्त होती है। लोक साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी जीवंतता है। वह केवल अतीत का अवशेष नहीं, बल्कि वर्तमान में भी परिवर्तित और पुनर्सृजित होने वाली परंपरा है। इसलिए भारतीय ज्ञानपरंपरा के अध्ययन में लोक और शास्त्र को परस्पर विरोधी मानने के बजाय उनके अंतर्संबंधों का अध्ययन किया जाना चाहिए। साथ ही, लोक साहित्य में निहित प्रत्येक विश्वास को स्वतः प्रमाणित ज्ञान मान लेना भी उचित नहीं है। उसके अध्ययन के लिए ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, भाषावैज्ञानिक और आलोचनात्मक दृष्टियों का समन्वय आवश्यक है। इस संतुलित दृष्टिकोण से लोक साहित्य भारतीय ज्ञानपरंपरा के उस व्यापक आयाम को सामने लाता है जिसमें ज्ञान पुस्तकालयों के साथ–साथ लोकस्मृति, गीत, कथा, प्रदर्शन और सामुदायिक व्यवहार में भी सुरक्षित रहता है।

अतः लोक साहित्य भारतीय ज्ञानपरंपरा की केवल सांस्कृतिक संपदा नहीं, बल्कि सामुदायिक अनुभव और लोकज्ञान की जीवंत अभिव्यक्ति है। इसके संरक्षण, दस्तावेजीकरण और गंभीर अकादमिक अध्ययन की आवश्यकता आज पहले से अधिक है।

**संदर्भ ग्रंथ–सूची :**

1. द्विवेदी, हजारीप्रसाद – हिंदी साहित्य रू उद्‌भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. द्विवेदी, हजारीप्रसाद – कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. शुक्ल, रामचंद्र – हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
4. त्रिपाठी, कृष्णदेव उपाध्याय – लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन, इलाहाबाद।
5. शर्मा, कृष्णदेव – लोक साहित्य – सिद्धांत और प्रयोग, संबंधित संस्करण।
6. सत्येंद्र – लोक साहित्य विज्ञान, साहित्य भवन, इलाहाबाद।
7. नामवर सिंह – इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
8. वर्मा, रामगोपाल – लोकगीतों का अध्ययन, संबंधित प्रकाशन।
9. भारतीय साहित्य और लोक–संस्कृति से संबंधित सामग्री – साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित विभिन्न ग्रंथ एवं शोध–संकलन।

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-63-67

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 63-67
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. विष्णु देव सिंह मलिक**

हिंदी प्रवक्ता, खरीआर (स्वायत्त) कॉलेज, खरीआर, नुआपाड़ा, ओड़िशा

Corresponding Author :

**डॉ. विष्णु देव सिंह मलिक**

हिंदी प्रवक्ता, खरीआर (स्वायत्त) कॉलेज, खरीआर, नुआपाड़ा, ओड़िशा

# हिंदी साहित्य में नवाचार : परंपरा से आधुनिकता तक

**सारांश :** हिंदी साहित्य में नवाचार ने साहित्यिक अभिव्यक्ति और सामाजिक चेतना दोनों को नई दिशा दी है। नवाचार केवल नई तकनीक या भाषा प्रयोग तक सीमित नहीं है, बल्कि यह साहित्यिक शैली, थीम, रूपक, सामाजिक विषयों और विचारधारा में बदलाव लाने का माध्यम भी है। इस शोध लेख में हिंदी साहित्य में नवाचार के ऐतिहासिक और आधुनिक पहलुओं का विश्लेषण किया गया है, और यह बताया गया है कि कैसे नवाचार ने समाज, शिक्षा और सांस्कृतिक चेतना को प्रभावित किया है।

**परिचय :** हिंदी साहित्य का इतिहास सदियों पुराना है। आदिकाल , भक्ति काल, रीतिकाल, और आधुनिक काल तक साहित्य ने समय और समाज के अनुसार निरंतर परिवर्तन और नवाचार का अनुभव किया है। नवाचार का अर्थ केवल नए शब्द या शैली नहीं है, बल्कि यह सामाजिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक दृष्टिकोण में नई दिशा लाने की प्रक्रिया है ।[1] हिंदी साहित्य में नवाचार ने लेखक और पाठक दोनों के दृष्टिकोण को प्रभावित किया। यह साहित्य को न केवल मनोरंजन का साधन बनाता है, बल्कि समाज के प्रश्नों, समस्याओं और संवेदनाओं को उजागर करने का माध्यम भी है।

**हिंदी साहित्य में नवाचार का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य :** भक्ति काल (15वीं–17वीं शताब्दी) में हिंदी साहित्य में नवाचार के बीज दिखाई देते हैं। तुलसीदास, सूरदास और कबीर जैसे संत-कवियों ने सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण में नवाचार किया। उन्होंने सामान्य लोगों की भाषा और भावनाओं का प्रयोग करके साहित्य को जन-जन तक पहुँचाया। रीतिकाल (17वीं–19वीं शताब्दी) में भाषा, अलंकार और शैली में नवाचार दिखाई देता है। बिहारी लाल, केशव और रसखान ने कविता में श्रृंगारिक अलंकार और भावनाओं की गहराई बढ़ाने का प्रयास किया। छायावाद में व्यक्तिवाद और प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता ने नवाचार को नए आयाम दिए। मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानंदन पंत और जयशंकर

प्रसाद ने हिंदी कविता में भावनात्मक गहराई और आधुनिक दृष्टिकोण को जोड़कर साहित्य में नवाचार किया ।[2]

**आधुनिक हिंदी साहित्य में नवाचार :** आधुनिक काल (20वीं–21वीं शताब्दी) में हिंदी साहित्य ने समाज, राजनीति और संस्कृति के विविध पहलुओं पर महत्वपूर्ण नवाचार किया है। इस युग में साहित्यिक विधाओं जैसे कि कहानी, नाटक और आलोचना में नई तकनीकों और अनूठी शैलियों का प्रयोग देखने को मिलता है। विशेष रूप से, मुंशी प्रेमचंद ने अपने लेखन के माध्यम से सामाजिक यथार्थवाद में एक अभूतपूर्व नवाचार की शुरुआत की, जिसने साहित्य को सीधे तौर पर आम जनमानस और उनकी समस्याओं से जोड़ा। भाषा प्रयोग के स्तर पर भी इस काल में व्यापक बदलाव और प्रयोग हुए हैं। समकालीन लेखकों ने जटिल और क्लिष्ट शब्दावली के स्थान पर सरल, सहज और संवादात्मक भाषा का उपयोग करना शुरु किया, जिससे साहित्य की पहुँच अधिक व्यापक और सुलभ हो गई। इसके अतिरिक्त, इस दौर के साहित्य में विषयों और थीम्स का दायरा भी काफी विस्तृत हुआ है। आधुनिक रचनाकारों ने महिला मुद्दे, दलित चेतना, पर्यावरण संकट और तेजी से बदलते शहरी जीवन जैसे संवेदनशील और समसामयिक विषयों को अपनी रचनाओं के केंद्र में रखा है। मुंशी प्रेमचंद, सुमित्रानंदन पंत, मोहन राकेश जैसे साहित्यकारों ने हिंदी साहित्य में सामाजिक यथार्थवाद, छायावादी शैली और आधुनिक विषयों का मिश्रण करके महत्वपूर्ण नवाचार किए हैं। प्रेमचंद की कहानियों में सामान्य जीवन की झलक, सरल और संवादात्मक भाषा का उपयोग, तथा महिला मुद्दे, दलित चेतना, पर्यावरण और शहरी जीवन जैसे विषयों को प्रमुखता दी गई है। इसके साथ ही, मोहन राकेश ने नाटक एवं रंगमंच के माध्यम से समाज और राजनीति के ज्वलंत विषयों को उठाकर नई तकनीक और शैली का प्रयोग किया है।

हिंदी साहित्य में नवाचार और शिक्षा का अंतर्संबंध मानसिक, बौद्धिक और सृजनात्मक विकास को एक नई दिशा प्रदान कर रहा है। समकालीन परिदृश्य में, शिक्षा केवल पारंपरिक ज्ञान को रटने तक सीमित नहीं रह गई है, बल्कि यह विद्यार्थियों की छिपी हुई प्रतिभाओं को उजागर करने का माध्यम बन चुकी है। इस बदलाव में साहित्य एक शक्तिशाली उपकरण के रूप में उभरा है, जो शिक्षण पद्धतियों को अधिक जीवंत और प्रासंगिक बनाता है। जब अकादमिक विमर्श में नए विचारों, नवीन दृष्टियों और आधुनिक विषयों का समावेश होता है, तो वह शिक्षा में 'नवाचार' कहलाता है। साहित्य और नवाचार का यह समन्वय न केवल छात्रों की अभिव्यक्ति क्षमता को निखारता है, बल्कि उन्हें समाज के प्रति संवेदनशील और जागरूक नागरिक भी बनाता है।

इस नवाचार का सबसे महत्वपूर्ण और व्यावहारिक चरण पाठ्यक्रम में नवीनतम साहित्यिक रचनाओं को शामिल करना है। वर्तमान समय में पुरानी और पारंपरिक विधाओं के साथ-साथ समकालीन मुद्दों जैसे पर्यावरण संरक्षण, तकनीकी बदलाव, लैंगिक समानता और मानसिक स्वास्थ्य पर आधारित आधुनिक रचनाओं को पाठ्यपुस्तकों में स्थान दिया जा रहा है। इससे छात्रों को अपने आस-पास की वास्तविक दुनिया को समझने में मदद मिलती है। नई पीढ़ी के रचनाकारों की कहानियों, उपन्यासों और कविताओं को पढ़ने से छात्र स्वयं को विषय से गहराई से जोड़ पाते हैं। यह बदलाव भाषा शिक्षण को अधिक रोचक बनाता है, जिससे छात्रों में कक्षा के प्रति अरुचि समाप्त होती है और वे स्वेच्छा से हिंदी भाषा और साहित्य की ओर आकर्षित होते हैं।

इसके अतिरिक्त, कहानी, कविता और नाटक के माध्यम से विचारों का प्रसार करना शिक्षण की एक अत्यंत प्रभावी और संवादात्मक पद्धति बन गया है। पारंपरिक व्याख्यान विधियों के विपरीत, जब किसी जटिल सामाजिक या नैतिक विचार को एक कहानी या नाटक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो वह छात्रों के मानसपटल पर गहरा प्रभाव छोड़ता है। कक्षा में नाट्य रूपांतरण या रोल-प्ले जैसी गतिविधियाँ आयोजित करने से छात्र केवल मूक दर्शक नहीं रहते, बल्कि वे स्वयं प्रक्रिया का हिस्सा बन जाते हैं। कविता पाठ और अंत्याक्षरी के माध्यम से उनके उच्चारण में सुधार होता है और उनमें मंच पर बोलने का आत्मविश्वास विकसित होता है। यह रचनात्मक विधाएँ अमूर्त और कठिन

विचारों को भी सरल, सुगम और मनोरंजक बना देती हैं।

साहित्य में इस नवाचार का अंतिम और सबसे दूरगामी प्रभाव छात्रों में आलोचनात्मक और रचनात्मक सोच का विकास करना है। साहित्यिक रचनाएँ कभी भी एकतरफा उत्तर नहीं देतीं, बल्कि वे पाठकों के मन में प्रश्न पैदा करती हैं। जब छात्र विभिन्न पात्रों के दृष्टिकोण, उनके द्वंद्व और कहानियों के अंत का विश्लेषण करते हैं, तो उनकी विश्लेषणात्मक क्षमता का विकास होता है। वे जीवन की परिस्थितियों को अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखना सीखते हैं, जो उनमें सहानुभूति और संवेदनशीलता की भावना को जगाता है। यही आलोचनात्मक सोच आगे चलकर उनके भीतर सृजनात्मकता को जन्म देती है, जिससे प्रेरित होकर वे स्वयं कविताएँ, निबंध या कहानियाँ लिखने का प्रयास करते हैं। निष्कर्षतः, हिंदी साहित्य में नवाचार और शिक्षा का यह एकीकरण छात्रों के सर्वांगीण विकास के लिए अनिवार्य है। यह शिक्षण प्रक्रिया को रटने की पद्धति से मुक्त करके व्यावहारिक और अनुभवजन्य बनाता है। भविष्य की आधुनिक शिक्षा प्रणाली में साहित्य के इन नवीन आयामों को और अधिक विस्तार देने की आवश्यकता है ताकि युवा पीढ़ी ज्ञानवान होने के साथ-साथ विवेकशील भी बन सके।

**तकनीकी नवाचार और हिंदी साहित्य :** डिजिटल युग में तकनीकी नवाचार ने हिंदी साहित्य के परिदृश्य को पूरी तरह से बदल दिया है, जिससे न केवल लेखन की शैलियों में बदलाव आया है बल्कि पाठकों तक इसकी पहुँच भी बेहद सुलभ हो गई है। पारंपरिक रूप से कागज़ और कलम तक सीमित रहने वाला साहित्य आज स्क्रीन और एल्गोरिदम के माध्यम से एक वैश्विक पहचान बना रहा है। इस तकनीकी क्रांति ने साहित्य के सृजन, प्रकाशन और उपभोग के तरीकों में युगांतरकारी परिवर्तन किए हैं, जिसने साहित्यकारों और पाठकों के बीच की दूरी को समाप्त कर दिया है।

ई-पुस्तकें (e-books) और ऑनलाइन पत्रिकाओं के उदय ने पढ़ने और लिखने की संपूर्ण प्रक्रिया को अत्यधिक सरल और सुलभ बना दिया है। किंडल, जगरनॉट और प्रतिलिपि जैसे डिजिटल मंचों ने भारी-भरकम किताबों को पाठकों की जेब में समाहित कर दिया है। अब किसी भी कालजयी रचना या समकालीन लेखन को दुनिया के किसी भी कोने से एक क्लिक पर पढ़ा जा सकता है। इस नवाचार ने न केवल कागज़ की निर्भरता को कम करके पर्यावरण संरक्षण में योगदान दिया है, बल्कि उन नवोदित लेखकों को भी एक मंच दिया है जो पारंपरिक प्रकाशकों के चक्कर काटने में असमर्थ थे। स्व-प्रकाशन (self-publishing) के इस दौर ने हिंदी साहित्य को अधिक लोकतांत्रिक और समावेशी बना दिया है।

सोशल मीडिया, ब्लॉग और पॉडकास्ट के आगमन ने साहित्य के लोकतंत्रीकरण की इस प्रक्रिया को और तेज़ गति प्रदान की है। फेसबुक, इंस्टाग्राम, एक्स (ट्विटर) और व्यक्तिगत ब्लॉग आज के दौर के नए साहित्यिक चौपाल बन चुके हैं। लेखक और कवि अपनी रचनाएँ, जैसे लघु कथाएँ या कविताएँ, तुरंत साझा कर सकते हैं और उन्हें कुछ ही मिनटों में पाठकों की प्रतिक्रिया (लाइक, कमेंट और शेयर के रूप में) मिल जाती है। इसके अतिरिक्त, पॉडकास्ट और 'स्पॉटिफ़ाई' जैसे ऑडियो मंचों ने कविता पाठ और कहानी सुनाने (स्टोरीटेलिंग) की प्राचीन मौखिक परंपरा को एक आधुनिक, श्रव्य रूप में पुनर्जीवित किया है। इससे वे लोग भी हिंदी साहित्य से जुड़ पा रहे हैं जिनके पास पढ़ने का समय नहीं है, लेकिन वे यात्रा या काम के दौरान इसे सुनना पसंद करते हैं।

आधुनिक युग का सबसे अनूठा और क्रांतिकारी नवाचार सॉफ्टवेयर और कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) आधारित लेखन टूल का आगमन है। आज चैटजीपीटी (ChatGPT) जैसे एआई मॉडल और उन्नत व्याकरण सुधारक सॉफ्टवेयर लेखकों को विचार मंथन करने, कथानक (plot) तैयार करने और शब्दावली को समृद्ध करने में सहायता कर रहे हैं। कविता और कहानी लेखन में एआई का उपयोग नए प्रयोगों और अनूठी शैलीगत विविधताओं को जन्म दे रहा है। हालांकि, यह तकनीक मानवीय संवेदनाओं और मौलिक रचनात्मकता का विकल्प नहीं बन सकती, परंतु यह एक सहयोगी

उपकरण के रूप में लेखकों की सोच के क्षितिज को व्यापक बना रही है।

तकनीक और हिंदी साहित्य के इस अंतर्संबंध ने मानव की सोच और आलोचनात्मक क्षमता का भी गहरा विकास किया है। डिजिटल माध्यमों ने पाठकों को केवल मूक दर्शक नहीं रहने दिया, बल्कि उन्हें सक्रिय समीक्षक बना दिया है। विभिन्न ऑनलाइन साहित्यों पर होने वाली वैचारिक बहसों ने समाज की सामूहिक चेतना और बौद्धिक स्तर को ऊंचा किया है। निष्कर्षतः, तकनीकी नवाचार ने हिंदी साहित्य को रूढ़िवादिता से मुक्त कर वैश्विक पटल पर एक प्रगतिशील, सुलभ और अत्यंत जीवंत भाषा के रूप में स्थापित कर दिया है।

**सामाजिक और सांस्कृतिक नवाचार :** हिंदी साहित्य का इतिहास सदैव से समाज का दर्पण रहा है, परंतु आधुनिक काल में इसमें आए नवाचार (इन्नोवेशन) ने इसे केवल कलात्मक सौंदर्य तक सीमित न रखकर सामाजिक बदलाव का एक सशक्त माध्यम बना दिया है। आज के दौर में साहित्यिक नवाचार का मुख्य उद्देश्य समाज में चेतना जगाना, रूढ़ियों को तोड़ना और सांस्कृतिक संवेदनशीलता को बढ़ाना है। साहित्यकार अब केवल कल्पना लोक में विचरण नहीं करते, बल्कि धरातल की वास्तविकताओं को अपनी रचनाओं का केंद्र बना रहे हैं। इस वैचारिक और विषयगत नवाचार ने हिंदी साहित्य के फलक को व्यापक किया है, जिससे यह आम जनमानस की आवाज़ बनकर उभरा है। यह बदलाव न केवल लेखन की शैलियों में दिख रहा है, बल्कि उन विषयों में भी स्पष्ट है जिन्हें लंबे समय तक मुख्यधारा के साहित्य में हाशिए पर रखा गया था।

इस सामाजिक और सांस्कृतिक नवाचार का सबसे प्रखर रूप समकालीन कविताओं और कहानियों में देखने को मिलता है, जहाँ महिला सशक्तिकरण को एक नए दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया जा रहा है। अब स्त्रियाँ साहित्य में केवल उपमाओं या विरह की पात्र नहीं हैं, बल्कि वे अपनी नियति का फैसला खुद करने वाली सशक्त किरदारों के रूप में उभर रही हैं। इसके साथ ही, दलित साहित्य के उदय ने सामाजिक न्याय और समानता की बहस को केंद्र में ला खड़ा किया है। सदियों से शोषित और उपेक्षित समाज की पीड़ा, संघर्ष और उनके अधिकारों की बात अब पूरी प्रखरता के साथ लेखन में शामिल की जा रही है। इसके अतिरिक्त, आधुनिक समय की सबसे बड़ी चुनौतियों, जैसे पर्यावरण संकट, जलवायु परिवर्तन और ग्राम विकास पर भी गहन रचनाएँ लिखी जा रही हैं, जो पाठकों को प्रकृति और अपनी जड़ों से जुड़ने की प्रेरणा देती हैं।

हालाँकि, इस प्रकार के क्रांतिकारी नवाचार को बढ़ावा देने की राह में कई गंभीर बाधाएँ और चुनौतियाँ भी खड़ी हैं। हिंदी साहित्यिक जगत में आज भी एक बड़ा वर्ग परंपरावादी दृष्टिकोण रखता है, जो नए प्रयोगों, नई शैलियों और प्रगतिशील विषयों को आसानी से स्वीकार नहीं करता। ऐसे रूढ़िवादी आलोचक अक्सर नवाचार को साहित्य के पारंपरिक मानकों का अवमूल्यन मानकर इसकी तीखी आलोचना करते हैं। इसके अलावा, नए और नवोदित लेखकों के पास सीमित संसाधन हैं। मुख्यधारा के प्रकाशन संस्थान अक्सर नए विचारों पर जोखिम लेने से कतराते हैं, जिससे बेहतरीन और मौलिक लेखन भी छपने से वंचित रह जाता है। साथ ही, ग्रामीण और अर्ध-शहरी क्षेत्रों के लेखकों में डिजिटल साक्षरता और आधुनिक तकनीकों के ज्ञान का अभाव भी एक बड़ी रुकावट है, जिसके कारण वे वैश्विक स्तर पर अपनी पहचान नहीं बना पाते।

इन समकालीन चुनौतियों का समाधान करने के लिए सामूहिक और संस्थागत प्रयासों की अत्यंत आवश्यकता है। सबसे पहले, शिक्षा व्यवस्था और साहित्यिक कार्यशालाओं (वर्कशॉप) के माध्यम से युवा पीढ़ी को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए, जहाँ स्थापित लेखक नए रचनाकारों का मार्गदर्शन कर सकें। इसके साथ ही, डिजिटल प्लेटफॉर्म जैसे ब्लॉग, ई-पत्रिकाएँ, पॉडकास्ट और सोशल मीडिया को एक सशक्त माध्यम के रूप में अपनाना होगा। ये डिजिटल माध्यम न केवल प्रकाशन की समस्या को हल करते हैं, बल्कि बिना किसी बड़े खर्च के लेखकों को सीधे करोड़ों पाठकों से जोड़ते हैं। जब तकनीकी साक्षरता और वैचारिक स्वतंत्रता का मिलन होगा, तभी हिंदी साहित्य में

नवाचार की जड़ें और मजबूत होंगी और यह समाज को नई दिशा दिखाने का अपना मूल कर्तव्य पूरी निष्ठा से निभा सकेगा।

**निष्कर्ष :** हिंदी साहित्य में नवाचार ने न केवल भाषा और शैली में बदलाव किया है, बल्कि समाज, शिक्षा और संस्कृति में भी नई दिशा दी है। आधुनिक साहित्य में नवाचार का उद्देश्य केवल रचनात्मकता नहीं, बल्कि समाज और संस्कृति के लिए जागरूकता और परिवर्तन भी है। इसलिए हिंदी साहित्य में नवाचार को प्रोत्साहित करना लेखक, शिक्षक और समाज की जिम्मेदारी है। नवाचार के बिना साहित्य का विकास और समाज की प्रगति अधूरी है।

**संदर्भ सूची :**

1. राय, रमेश. हिंदी साहित्य का इतिहास और नवीनता। नई दिल्ली: विकास प्रकाशन, 2015।
2. शर्मा, अनिल. हिंदी कविता और नवीनता. जयपुर: श्री पब्लिशर्स, 2020।
3. गुप्ता, एस. सामाजिक और सांस्कृतिक नवाचार। कोलकाता: अकादमिक प्रेस, 2019।
4. सिंह, आर. आधुनिक हिंदी साहित्य और नई प्रवृत्तियाँ। लखनऊ: भारतीय साहित्य, 2018

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-68-72

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 68-72
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. नवनीत कौर**

सहायक प्रोफेसर/विभागाध्यक्ष, हिंदी -विभाग, संत मोहन सिंह खालसा लबाना गर्ल्स कॉलेज, बराड़ा, अम्बाला, हरियाणा

Corresponding Author :

**डॉ. नवनीत कौर**

सहायक प्रोफेसर/विभागाध्यक्ष, हिंदी -विभाग, संत मोहन सिंह खालसा लबाना गर्ल्स कॉलेज, बराड़ा, अम्बाला, हरियाणा

## सतत विकास की अवधारणा : संत साहित्य के सन्दर्भ में

आज के समय में विकास और पर्यावरण के बीच संतुलन बनाना व बना के रखना सबसे बड़ी चुनौती है। इसी के समाधान के लिए सतत विकास की अवधारणा का जन्म हुआ। "सतत विकास की अवधारणा भारत की प्राचीन 'शुभ' परंपरा में निहित है, जिसका इतिहास हजारों वर्ष पुराना है। 'सस्टेनेबिलिटी' शब्द को वैश्विक पहचान वर्ष 1992 में ब्राज़ील के रियो डी जनेरियो में आयोजित द्वितीय पृथ्वी सम्मेलन (सेकंड अर्थ समिट) के दौरान मिली। भारत में यह विचार 'सनातन' और 'सतत विकास' जैसी अवधारणाओं से जुड़ा रहा है। पारंपरिक भारतीय चिंतन में 'शुभ' को 'लाभ' के साथ जोड़ा गया, ताकि मनुष्य लाभ की अंधी दौड़ में इतना लालची न हो जाए कि वह प्रकृति को ही नुकसान पहुंचा दे।"[1]इसका मूल सिद्धांत है कि 'वर्तमान की आवश्यकताएँ ऐसी पूरी हों कि भविष्य की पीढ़ियों से समझौता न हो।' यह ऐसा समग्र विकास है जिसमें मानव, समाज, अर्थव्यवस्था और पर्यावरण के बीच संतुलन स्थापित करते हुए वर्तमान और भावी पीढ़ियों के हितों की रक्षा की जाती है

भारतीय दृष्टि में यह कोई नई अवधारणा नहीं है। ईशावास्य उपनिषद का मंत्र 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' अर्थात त्याग के साथ भोग करो, सतत उपभोग का मूल है। हमारे संत साहित्य में इसके स्पष्ट बीज मिलते हैं। संत कबीर का 'चाह गई चिंता मिटी' संदेश सतत विकास लक्ष्य 12 'जिम्मेदार उपभोग' से जुड़ता है, जो सिखाता है कि कम इच्छा में ही सुख है। संत तुलसीदास ने 'क्षिति जल पावक गगन समीरा' कहकर पाँच तत्वों के संतुलन को जीवन का आधार बताया, जो 'पर्यावरणीय सततता' है। संत रैदास का 'बेगमपुरा' शहर जहाँ 'दुखु अंदोहु नहीं तिहि ठाऊं' और 'मिलै सबन को अन्न', एक आदर्श सतत शहर का मॉडल है। प्रस्तुत शोध का उद्देश्य इसी चेतना को उजागर करना है। सतत विकास की अवधारणा को हम भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण से देखते हैं तो पाते हैं कि "सतत विकास, संयुक्त राष्ट्र का सर्वव्यापी प्रतिमान है। इसकी अवधारणा को 1987 ब्रंटलैंड आयोग की रिपोर्ट में सतत क्रिया

को 'विकास' के रूप में वर्णित किया गया था जो भविष्य की पीढ़ियों की अपनी जरूरतों को पूरा करने की क्षमता से समझौता किए बिना वर्तमान की जरूरतों को पूरा करना है।"[2]

पश्चिम में यह अवधारणा औद्योगिक क्रांति के दुष्परिणामों की प्रतिक्रिया के रूप में आई। अंधाधुंध औद्योगीकरण, संसाधनों के अतिदोहन और पर्यावरण प्रदूषण ने जब मानव अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया, तब संयुक्त राष्ट्र को सतत विकास लक्ष्यों की बात करनी पड़ी। इसका मूल आधार यह है कि विकास को तीन स्तंभों - आर्थिक विकास, सामाजिक समावेश और पर्यावरण संरक्षण - पर संतुलित करना होगा। यह एक प्रकार से प्रकृति को मनुष्य से अलग मानकर, उसे बचाने का प्रयास है।" विकसित समाज में संग्रह की प्रवृत्ति अधिकांश जनता की जीवन शैली बन गई है। जनसंख्या वृद्धि और इसके कारण संसाधनों की कमी विकासशील देशों की जनता पर सबसे बुरा प्रभाव डालती है। ये दोनों ही कारण पर्यावरण की हानि के लिए जिम्मेदार हैं। हमें अपने आप से यह प्रश्न करना होगा कि कहीं हम ऐसे नाजुक मोड़ पर तो नहीं पहुँच गये हैं कि जहां आर्थिक विकास जनजीवन को लाभ पहुँचाता है । तो उससे अधिक प्रतिकूल प्रभाव भी डालता है। अतः व्यक्ति को चाहिए कि संसाधनों के निर्वहनीय उपयोग की आदत डाले ।"[3]

वही सतत विकास की भारतीय अवधारणा की बात करें तो भारतीय चिंतन में सतत विकास कोई नई अवधारणा नहीं, बल्कि हमारे जीवन-दर्शन का मूल है। इसकी सबसे सुंदर अभिव्यक्ति ईशावास्य उपनिषद के प्रथम मंत्र में मिलती है - तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः अर्थात् त्याग के साथ भोग करो। प्रकृति का उपभोग करो, पर त्याग की भावना से, लालच की भावना से नहीं। भारतीय दृष्टिकोण में प्रकृति जड़ नहीं, बल्कि माँ है , धरती को भारतीय संस्कृति में माता का दर्जा दिया गया है । हमारे यहाँ नदियों को माँ, पेड़ों में देवता और पशुओं में ईश्वर का वास माना गया है। हमारे त्यौहार - जैसे वट-पूर्णिमा पर बरगद की पूजा, हरियाली तीज, छठ पूजा में सूर्य और जल की आराधना - ये सभी पर्यावरण के साथ सह-अस्तित्व के ही प्रतीक हैं। हमारे यहाँ विकास का अर्थ है -सर्वे भवन्तु सुखिनः- सब सुखी रहें, केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि समस्त प्राणी और प्रकृति भी। इसलिए भारतीय अवधारणा भोग पर नहीं,बल्कि संयम, संतुलन और सह-अस्तित्व पर टिकी है।" मानव ने कुछ प्राकृतिक संसाधनो को इतना दूषित कर दिया है कि उन्हें प्राकृतिक व्यवस्था में नहीं लाया जा सकता है इसलिए मानव ने प्राकृतिक संसाधनों का प्रवन्धन इस प्रकार किया है कि आने वाली पीढ़ीयों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।"[4]

प्रकृति के प्रति प्रेम, संरक्षण, सह-अस्तित्व एवं संतुलित जीवन की भावना प्राचीन काल से ही भारतीय साहित्य की विभिन्न विधाओं में दिखाई देती है। भारतीय साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रकृति के महत्त्व, उसके संरक्षण व मानव जीवन के साथ उसके घनिष्ठ संबंध को वर्णित किया है। इस दृष्टि से साहित्य में सतत विकास की अवधारणा को प्रकृति और मानव के बीच संतुलन तथा सह-अस्तित्व की भावना के रूप में देखा जा सकता है। साहित्य के दृष्टिकोण से देखे तो ज्ञात होता है कि संत साहित्य ही भारतीय सतत विकास की अवधारणा का सबसे व्यावहारिक और जीवंत दस्तावेज है। संत कवियों ने उपनिषदों के गूढ़ ज्ञान को सीधी-सादी भाषा में आम जनता तक पहुँचाया। जब पाश्चात्य जगत में सतत विकास की बात 1987 में शुरू हुई, उससे लगभग पांच सौ-छः सौ साल पहले ही हमारे संतों ने इसके तीनों आधारों पर काम कर दिया था। कबीरदास जी ने चाह गई चिंता मिटी कहकर उपभोक्तावाद और अति-संग्रह का विरोध किया । तुलसीदास जी ने क्षिति जल पावक गगन समीरा कहकर पाँच तत्वों के संतुलन की बात की, जो पर्यावरणीय सततता है। वहीं संत रैदास जी ने बेगमपुरा की कल्पना करके एक ऐसे समतामूलक, भूख-मुक्त और भेदभाव-रहित शहर का सपना देखा। इसलिए कहा जा सकता है कि संत साहित्य केवल भक्ति साहित्य नहीं है, बल्कि वह भारत का अपना मौलिक सतत विकास का विजन डॉक्यूमेंट है, जिसे NEP 2020 में मूल्य-आधारित शिक्षा के रूप में लागू करने की आवश्यकता है। "आने वाली पीढ़ियों की पर्यावरणीय

समस्याओं से रक्षा के लिये सरकार ने सभी स्कूलों, कॉलेजों, तथा विश्व विद्यालयों में पर्यावरण विषय का समावेश किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग चाहता है कि सभी विश्व विद्यालय पर्यावरण विषय की शिक्षा को उपाधि (डिग्री) पाठ्यक्रमों के लिये अनवार्य परीक्षापत्र बनयें। एक बार जब पर्यावरण शिक्षा स्कूल, कॉलेज तथा विश्वविद्यालय स्तर पर पढ़ाई जाने लगेगी तो यह नयी पीढ़ियों के दिलोदिमाग में पर्यावरणी चेतना जागृत कर देगी और वे प्रकृति के साथ बिना पारिस्थितिकीय संतुलन को बाधा पहुँचाये व्यवहार कर सकेंगे।"[5] कबीरदास जी पर्यावरण की तुच्छ कही जाने वाली वास्तु की भी बड़ा मानते हैं। तिनका जिसको मूल्य हीन मन जाता है , वे उसका स्थान भी प्रकृति में महत्वपूर्ण मानते हुए कहते है कि-

तिनका कबहुँ ना निंदिये, जो पाँवन तर होय।
कबहुँ उड़ि आँखिन परै, पीर घनेरी होय॥

पैरों के नीचे आने वाली छोटी सी घास को भी तुच्छ नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वही उड़कर आँख में पड़ जाए तो बहुत पीड़ा देती है। अर्थात् प्रकृति की सबसे छोटी वस्तु का भी अपना महत्त्व है और उसका सम्मान करना ही सतत विकास है।यदि मनुष्य जीवन को सतत और संयम के साथ बिताये तो वह प्रकृति के संसाधनों का काम प्रयोग करके भी खुशहाल जीवन जी सकता है।

चाह गई, चिंता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछु न चाहिए, वे साहन के साह॥

अर्थात जब मनुष्य की इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, तो उसकी सारी चिंताएँ भी समाप्त हो जाती हैं और मन निश्चिंत हो जाता है। जिसे कुछ भी नहीं चाहिए, वही संसार का सबसे बड़ा राजा है। यह दोहा आज के उपभोक्तावाद के विरुद्ध और कम संसाधनों में जीवन जीने की कला का सर्वोत्तम उदाहरण है। कबीरदास जी के समान ही तुलसीदास जी भी अपने साहित्य में परोपकार और सामाजिक स्थिरता पर बल देते है-

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

अर्थात दूसरों की भलाई करने के समान कोई बड़ा धर्म नहीं है और दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के समान कोई बड़ा पाप नहीं है। यह चौपाई सामाजिक समता और न्याय पर आधारित सतत समाज की नींव रखती है। एक अन्य स्थान पर कवि पांच तत्व और पर्यावरण संतुलन पर लिखते हैं -

क्षिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम शरीरा॥

अर्थात यह शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु - इन पाँच तत्वों से मिलकर बना है। इन पाँचों तत्वों को संतुलित रखना ही पर्यावरण संरक्षण और सतत विकास है।

संत रैदास जी समतामूलक, भूख-मुक्त और भेदभाव-रहित शहर की बात करते हुए लिखते हैं कि -

बेगमपुरा सहर को नाऊं, दुखु अंदोहु नहीं तिहि ठाऊं।
ना तसवीस खिराजु न मालु, खउफु न खता न तरसु जुवालु॥
अब मोहि खूब वतन गह पाई, ऊहाँ खैरि सदा मेरे भाई।
काइमु-दाइमु सदा पातिसाही, दोम न सोम एक सो आही॥
आबादानु सदा मसहूर, ऊहाँ गनी बसहिं मामूर।
तिउ तिउ सैल करहिं जिउ भावै, महरम महल न को अटकावै॥
कह रैदास खलास चमारा, जो हम सहरी सु मीतु हमारा॥

अर्थात बेगमपुरा एक ऐसा शहर है जहाँ कोई दुःख और चिंता नहीं है। वहाँ किसी प्रकार का कर नहीं देना पड़ता, किसी को धन के अभाव में दुखी नहीं होना पड़ता। किसी प्रकार का भय, अपराध और अन्याय नहीं है। रैदास जी कहते हैं कि मैंने ऐसा सुंदर देश प्राप्त किया है जहाँ सदा कुशल-मंगल रहता है। वहाँ की राजसत्ता स्थायी है, वहाँ कोई छोटा-बड़ा नहीं, सब एक समान हैं। वह आबाद और प्रसिद्ध शहर है जहाँ सभी लोग धन-धान्य से परिपूर्ण हैं। वहाँ लोग अपनी इच्छा से जहाँ चाहे घूम सकते हैं, जो कार्य चाहे कर सकते हैं, महलों की कोई रोक-टोक नहीं है। रैदास चमार कहते हैं कि जो भी इस बेगमपुरा का निवासी है, वही मेरा मित्र है।

रैदास जी अपने काव्य में भूख मुक्त समाज की संकल्पना करते हैं। वर्तमान समाज में भी भुखमरी , कुपोषणता गंभीर समस्या के रूप में खड़ी है। समाज में सम्मानपूर्वक रहना किसे अच्छा नहीं लगता। भीख मांगकर पेट भरना श्राप के समान है। इस प्रसंग में कवि लिखते हैं कि –

ऐसा चाहूँ राज मैं, जहाँ मिलै सबन को अन्न।
छोट बड़ो सब सम बसै, रैदास रहै प्रसन्न॥

अर्थात मैं ऐसा राज्य चाहता हूँ जहाँ सभी को भोजन मिले और छोटे-बड़े सभी समान रूप से प्रेम से रहें। ऐसा राज्य देखकर रैदास प्रसन्न रहते हैं।

कवि 'तिउ तिउ सैल करहिं जिउ भावै, महरम महल न को अटकावै' के माध्यम से पर्यावरणीय एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बात करता है। वह एक ऐसा समाज चाहता है जहाँ हर व्यक्ति अपनी इच्छा से विचरण कर सकता है, अपने व्यवसाय का चयन कर सकता है। सत्ता किसी के विकास में बाधा नहीं बनती। यह पर्यावरणीय न्याय और शांति-न्याय-और सशक्त संस्थान का प्रतीक है।

रैदास का 'बेगमपुरा' प्लेटो के 'यूटोपिया' जैसा काल्पनिक नगर नहीं, बल्कि एक व्यावहारिक सतत समाज की संकल्पना है जहाँ - 'ऐसा चाहूँ राज मैं जहाँ मिलै सबन को अन्न, छोट बड़ो सब सम बसै' की भावना है।

**निष्कर्ष :** समग्र अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सतत विकास की अवधारणा को केवल आधुनिक पश्चिमी चिंतन की उपज मानना भारतीय ज्ञान-परंपरा के व्यापक स्वरूप की उपेक्षा करना होगा। यद्यपि आधुनिक संदर्भ में सतत विकास को आर्थिक प्रगति, सामाजिक समावेशन तथा पर्यावरण संरक्षण के मध्य संतुलन स्थापित करने वाली अवधारणा के रूप में व्यवस्थित रूप से प्रतिपादित किया गया, तथापि इसके मूलभूत मूल्य भारतीय चिंतन एवं साहित्य में प्राचीन काल से ही विद्यमान रहे हैं। भारतीय दृष्टि में विकास का अर्थ केवल भौतिक एवं आर्थिक उन्नति न होकर मानव, समाज, प्रकृति तथा समस्त जीव-जगत के मध्य संतुलित एवं सामंजस्यपूर्ण संबंध स्थापित करना है।""विकसित राष्ट्रों को एक ऐसी व्यवस्था के बारे में सोचना पड़ेगा जिससे गरीब देशों को मूलभूत सुविधाएँ जैसे स्वच्छ पीने का पानी, भोजन और ऊर्जा उपलब्ध करा सके और प्राकृतिक संसाधनों का समानुपाती उपयोग किया जाए जिससे अमीर और गरीब देशों के बीच की खाई कम हो सके।"[6] संत साहित्य इस भारतीय दृष्टि को लोकभाषा एवं जनसामान्य के जीवन से जोड़कर अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है। संत कबीरदास के काव्य में संयम, संतोष, आवश्यकता के अनुरूप उपभोग तथा संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग की भावना दिखाई देती है। उनका चिंतन मनुष्य को अनावश्यक संग्रह और उपभोग से दूर रहकर संतुलित जीवन जीने की प्रेरणा देता है। इस दृष्टि से उनका काव्य वर्तमान संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग तथा भावी पीढ़ियों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना को पुष्ट करता है।तुलसीदास के साहित्य में लोकमंगल, परोपकार, सामाजिक उत्तरदायित्व, नैतिक मूल्यों तथा प्रकृति के प्रति संवेदनशील दृष्टिकोण का समन्वय दिखाई देता है। उनके चिंतन में व्यक्ति का कल्याण समाज के कल्याण से पृथक नहीं है। इसी प्रकार संत रैदास ने ऐसे आदर्श समाज की परिकल्पना प्रस्तुत की जिसमें जातिगत भेदभाव, अन्याय, भय और असमानता के लिए कोई स्थान न हो। उनकी सामाजिक दृष्टि समानता, स्वतंत्रता, न्याय, मानवीय

गरिमा तथा सामाजिक समरसता पर आधारित है, जो सतत विकास के सामाजिक आयाम को सुदृढ़ आधार प्रदान करती है।अतः संत कबीरदास, तुलसीदास और संत रैदास के काव्य का अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि सतत विकास का भारतीय स्वरूप मूलतः संयमित उपभोग, लोककल्याण, सामाजिक समता, न्याय, परोपकार, पर्यावरणीय संतुलन और भावी पीढ़ियों के प्रति उत्तरदायित्व जैसे मूल्यों पर आधारित है। संत साहित्य विकास को प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की प्रक्रिया के रूप में न देखकर प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व और सामंजस्य की दृष्टि से देखता है। इस प्रकार संत साहित्य में निहित विचार न केवल भारतीय सांस्कृतिक एवं दार्शनिक परंपरा की समृद्धि को रेखांकित करते हैं, बल्कि समकालीन सतत विकास की वैश्विक चुनौतियों के संदर्भ में भी अत्यंत प्रासंगिक सिद्ध होते हैं। वर्तमान समय में बढ़ते पर्यावरणीय संकट, संसाधनों के असंतुलित दोहन, सामाजिक असमानता और उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों के बीच संत साहित्य का संयम, समता और लोकमंगल पर आधारित चिंतन मानव समाज को अधिक संतुलित, न्यायपूर्ण एवं टिकाऊ भविष्य की दिशा प्रदान कर सकता है। "पर्यावरण संबंधी कानून हमारे समग्र पर्यावरण, मानव स्वास्थ्य और पृथ्वी के संसाधनों की रक्षा के लिए बनाए गए हैं। केवल कानून बन जाने से ही समस्या का समाधान नहीं हो जाता।"[7] इसलिए यह कहा जा सकता है कि संत साहित्य में निहित जीवन-दृष्टि सतत विकास की भारतीय अवधारणा को वैचारिक, नैतिक और सामाजिक आधार प्रदान करती है तथा वर्तमान और भावी पीढ़ियों के लिए एक संतुलित एवं समावेशी विकास-दृष्टि प्रस्तुत करती है।

**सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :**


1. त्रिनाथ त्रिपाठी (संपा ), योजना पत्रिका, नयी दिल्ली, जुलाई 2026, पृष्ठ- 45
2. डॉ जय पाल, डॉ सुरेश कुमार, पर्यावरण अध्याय, भारत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2022, पृष्ठ - 06
3. डॉ. मुक्ति नाथ झा, पर्यावरण अध्ययन, सनराइज पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2008, पृष्ठ -56
4. डॉ. जसबीर सिंह, पर्यावरण अध्ययन, सत्यम पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2004, पृष्ठ -204.
5. डा0 रमेश चन्द्र मिश्र, डा0 अर्चना मिश्र,पर्यावरण अध्ययन : समस्याएं एवं निदान,Selective & Scientific Books
   Publishers & Distributors,2005, पृष्ठ -290.
6. संजीव गुप्ता, अनिल गुप्ता, बी. एस. भोला, पर्यावरण अध्ययन, लक्ष्मी पब्लिशिंग हाउस , रोहतक, पृष्ठ -50
7. डॉ. मुक्ति नाथ झा, पर्यावरण अध्ययन, सनराइज पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2008, पृष्ठ -190.


•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-73-76

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 73-76
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ0 शुचि उपाध्याय**
सहायक आचार्य, गायन विभाग, आर्य महिला पी. जी. कॉलेज, चेतगंज, वाराणसी

Corresponding Author :

**डॉ0 शुचि उपाध्याय**
सहायक आचार्य, गायन विभाग, आर्य महिला पी. जी. कॉलेज, चेतगंज, वाराणसी

# नाद से आत्मानुभूति तक : "संगीतरत्नाकर" के आलोक में संगीत एवं दर्शन का अन्तर्संबंध

**शोध–सारांश :** भारतीय संगीत–परम्परा का विकास केवल ध्वनि, स्वर तथा राग की कलात्मक संरचनाओं के रूप में ही नहीं हुआ है, अपितु इन कलात्मक संरचनाओं के साथ एक व्यापक तथा सूक्ष्म दार्शनिक चिंतन का भी समावेश हुआ है। हमारे ऋषि–मुनियों द्वारा हज़ारों वर्षों पूर्व रचित चतुर्वेदों से लेकर संगीतरत्नाकर तक के ग्रंथों में 'नाद' को संपूर्ण सृष्टि के आधारभूत सत्ता के रूप में स्वीकृत किया गया है। यह **'नाद'** संपूर्ण सृष्टि के आधार के साथ–साथ **'संगीत'** का भी आधार है, जिसके अन्तर्गत श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, जाति तथा राग आदि के माध्यम से संगीत की वैज्ञानिक एवं सौन्दर्यशास्त्रीय संरचना का निरूपण किया गया है। पं0 शारंगदेव कृत 'संगीतरत्नाकर' इस परंपरा का अत्यंत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें संगीत के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों का विस्तृत विवेचन तो हुआ ही है साथ ही इनके दार्शनिक पक्षों पर भी प्रकाश डाला गया है।

**प्रमुख शब्द :** नाद, संगीतरत्नाकर, शारंगदेव, दर्शन, चेतना, आत्मानुभूति एवं भारतीय संगीतशास्त्र।

भारतीय ज्ञान परंपरा में कला एवं दर्शन को ज्ञान के क्षेत्र में पृथक् रूप से ही देखा गया है, परन्तु भारतीय चिंतन में यह दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं क्योंकि 'दर्शन' ज्ञान एवं चिंतन का अमूर्त स्वरूप है वहीं 'संगीत' उस दार्शनिक ज्ञान एवं चितंन का मूर्त स्वरूप है। सामान्य अर्थ में 'अमूर्त' शब्द से तात्पर्य है जिसका हम भौतिक रूप से स्पर्श नहीं कर सकते परंतु उसे हम मात्र विचार, चिंतन एवं मन की गहराईयों से महसूस कर सकते हैं। यह 'सिद्धांत' अथवा 'विचार' के रूप में विद्यमान होते हैं इसके विपरीत सामान्य अर्थ में 'मूर्त' शब्द से तात्पर्य है जो स्थूल है अर्थात् जिसे इन्द्रियों के माध्यम से देखा, सुना अथवा प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया जा सकता है। कला एवं दर्शन के संदर्भ में दर्शनशास्त्र जीवन, ईश्वर, आत्मा और ब्रह्माण्ड एवं सत्य के विषय में जो अमूर्त विचार प्रस्तुत करता है, वह अमूर्त स्वरूप है। यह ज्ञान का केवल विचारणात्मक रूप है और जब दर्शन के अमूर्त विचारणात्मक सिद्धांत तथा भावों को किसी कला के माध्यम से उदाहरणार्थ – संगीत की बंदिशों, नृत्य की मुद्रा अथवा भाव–भंगिमाओं अथवा मंदिर की वास्तुकला या प्रतिमाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति होती है तब वह विचार मूर्त स्वरूप को प्राप्त करता है। कला एवं दर्शन के इस मूर्त तथा अमूर्त परिपूरक संबंध को समझने से पूर्व इन दोनों विषयों के व्यक्तिगत वैशिष्ट्य तथा उनकी मूलभूत संकल्पनाओं को स्वतंत्र रूप से समझना समीचीन होगा।

सम्पूर्ण विश्व में मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है जो चिन्तनशील एवं विचारशील गुण से युक्त है अर्थात् उसमें सोचने–समझने की शक्ति है। इन्हीं गुणों के आधार पर वह पशुओं से भिन्न है। महान् दार्शनिक **अरस्तू** ने मनुष्य को विवेकशील प्राणी कहकर उसके स्वरूप को प्रकाशित किया है। विवेक अर्थात् बुद्धि की प्रधानता रहने के फलस्वरूप मानव विश्व की विभिन्न वस्तुओं को देखकर उनके स्वरूप को जानने का प्रयास करता रहा है।[1] 'दर्शन' शब्द

'दृश' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है **'जिसके द्वारा देखा जाय'।**[2] आंग्ल भाषा में दर्शन को **'फिलॉसफी' (Philosophy)** कहते हैं जो दो यूनानी शब्दों से मिलकर बना है **Philos** और **Sophia.** जिसमें **Philos** का अर्थ है **प्रेम या अनुराग** तथा **Sophia** का अर्थ है **ज्ञान**। इस प्रकार **Philosophy** का अर्थ हुआ – **'ज्ञान के प्रति अनुराग'**[3] परन्तु भारतीय दर्शन का अर्थ इससे भिन्न है क्योंकि भारत में दर्शन उस विद्या को कहा जाता है जिसके द्वारा तत्व का साक्षात्कार हो सके। भारत का दार्शनिक एकमात्र तत्व की बौद्धिक व्याख्या से ही नहीं सन्तुष्ट होता बल्कि वह तत्व की अनुभूति भी प्राप्त करना चाहता है। दर्शन का मूल उद्देश्य तात्विक ज्ञान के माध्यम से मोक्ष प्राप्ति में सहायता प्रदान करना है। मोक्ष प्राप्त करने से तात्पर्य है कि सभी दुःखों से निवृत्ति। भारतीय जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है इसलिए भारतीय दर्शन, धर्म तथा साहित्य कलाएँ सभी इस ओर ही उन्मुख हैं।

इसी प्रकार यदि संगीत (गायन, वादन तथा नृत्य) की ओर दृष्टिपात करें तो यह केवल मनोरंजन का अथवा कलात्मक अभिव्यक्ति का साधन नहीं है अपितु भारतीय चिंतन परंपरा में संगीत को नाद, चेतना, अनुभूति एवं आध्यात्मिक उन्नयन से संबंधित व्यापक ज्ञान–विधा के रूप में स्वीकृत किया है। जिस प्रकार दर्शन मनुष्य को दृश्य जगत् के पीछे निहित सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व को खोजने और समझने की ओर प्रवृत्त करता है उसी प्रकार से संगीत नाद अर्थात् ध्वनि के माध्यम से बाह्य अनुभूति से अंतःअनुभूति की ओर प्रेरित करता है। **'संगीत'** शब्द की व्युत्पत्ति **'सम्'** उपसर्गपूर्वक **'गै'** धातु से **'क्त'** प्रत्यय लगाकर **'संगीत'** शब्द निष्पन्न हुआ है। संगीत शब्द गायन, वादन तथा नृत्य इन तीनों कलाओं का समावेशित स्वरूप है। यथा : गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते।[4] अर्थात् गायन, वादन तथा इन तीनों को 'संगीत' कहा जाता है। संगीत की इन तीनों विधाओं में गायन अर्थात् गीत की प्राधानता है इसलिए सर्वप्रथम गीत को रखा गया है। इस बात को सिद्ध करने के लिए ग्रंथकार पं0 शारंगदेव ने अपने ग्रंथ संगीतरत्नाकर में निम्न श्लोक के माध्यम से स्पष्ट किया है – नृत्तं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च।[5] अर्थात् नृत्त 'वाद्य' पर आश्रित है तथा वाद्य 'गीत' पर आश्रित है।

भारतीय परम्परा एवं प्राचीन ग्रन्थों में कुल 64 ललित कलाओं का उल्लेख है जिनमें पाँच प्रमुख कलाएँ हैं – **चित्रकला**, **मूर्तिकला अथवा शिल्प कला**, **वास्तुकला**, **काव्य कला**, **संगीत कला।** इन पंच ललित कलाओं के पीछे कोई न कोई विचार अवश्य है जो इसे अन्य कलाओं से पृथक् कर विशेष बनाती है, इन्हीं प्रमुख ललित कलाओं में **'संगीत'** एक ऐसी विशिष्ट कला है जिसका संबंध मात्र मानव के भावात्मक एवं सौन्दर्यात्मक पक्ष से नहीं अपितु उसके संपूर्ण जीवन के विविध आयामों एवं विभिन्न ज्ञान–विषयों से भी जुड़ा हुआ है। संगीत मानव जीवन के व्यक्तिगत, सांस्कृतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिकता को प्रभावित करने के साथ ही साहित्य, मनोविज्ञान, विज्ञान, चिकित्सा, प्रकृति, योग तथा जीवन के गूढ़ रहस्यों को समझने के लिए दर्शन जैसे अनेक विषयों से अंतर्संबंध स्थापित करती है। इसी व्यापक संदर्भ में संगीत एवं दर्शन का अंतःसंबंध विशेष महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि संगीत एवं दर्शन ये दोनों ही मानव के बाह्य अनुभव से अंतःचेतना की ओर बढ़ने की प्रक्रिया है।

भारतीय तथा वैश्विक इन दोनों ही परम्पराओं में संगीत को केवल ध्वनि का संयोजन नहीं मानकर ब्रह्माण्डीय सत्य की अभिव्यक्ति माना गया है। संगीत एक उपास्य विद्या है, जिसमें नाद की उपासना की जाती है। भारतीय दर्शन में 'नाद' को संपूर्ण सृष्टि का मूल आधार माना गया है। विश्वसाहित्य का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ **'वेद'** है, जिसके अन्तर्गत इतिहास, साहित्य, दर्शन, संगीत आदि सभी विषयों का समावेश है, जिन पर विशद् रूप से वर्णन प्राप्त होता है। **'वेद'** शब्द की व्युत्पत्ति **'विद'** धातु से ज्ञान के अर्थ में **'घञ्'** प्रत्यय लगाकर हुई। इस अर्थ के आधार पर वेद को इा प्रकार परिभाषित किया गया है – जिसके द्वारा मनुष्य सभी विद्याओं को जानता है, प्राप्त करता है, विचार कर विद्वत्ता को प्राप्त करता है, वह **'वेद'** है। वेदों की मूलभूत विचारधारा में **'ब्रह्म'** को सत्य माना गया है और इसे एक व्यापक चेतना के रूप में स्वीकृत किया गया है। यह **'ब्रह्म'** शब्द का प्रयोग साहित्य में हुआ तो 'शब्दब्रह्म' हुआ और संगीत के परिप्रेक्ष्य में **'नादब्रह्म'** कहा गया। नाद और संगीत के इस दार्शनिक स्वरूप को प्रामाणिक रूप से व्याख्या करने वाले 13वीं शताब्दी के महान् संगीतशास्त्री पं0 शारंगदेव थे, जिन्होंने अपने ग्रन्थ **'संगीतरत्नाकर'** के **प्रथम खण्ड** के **प्रथम अध्याय के दूसरे प्रकरण 'पिंडोत्पत्तिप्रकरणम्'** में किया है। इस प्रकरण की विषय सामग्री का वर्णन करने से पूर्व संगीतशास्त्र ग्रन्थों में **'संगीतरत्नाकर'** के महत्व पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालना अत्यावश्यक है।

संगीत एक महाविद्या है, जिसके विशाल एवं व्यापक क्षेत्र, विषय की स्पष्टता, इसके सूक्ष्म तथा व्यवस्थित स्वरूप एवं प्रामाणिकता को समझने की दृष्टि से संगीत के सभी शास्त्र ग्रन्थों में **'संगीतरत्नाकर'** का विशिष्ट स्थान है। इस ग्रन्थ की विषयवस्तु में संगीत के तीनों अंगों गायन, वादन तथा नृत्त का समावेश हुआ है। संगीतरत्नाकर सात अध्यायों में विभक्त है अतः इसे **'सप्ताध्यायी'** भी कहते हैं। इन सप्त अध्यायों में संगीत से संबंधित सभी विषयों से विस्तृत रूप से चर्चा की गयी है। इन अध्यायों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं – **स्वरगताध्याय, रागविवेकाध्याय, प्रकीर्णाध्याय, प्रबन्धाध्याय, तालाध्याय, वाद्याध्याय** तथा **विवेकाध्याय।** पं0 शारंगदेव ने **'स्वराध्याय'** को आठ प्रकरणों में विभक्त किया है जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं– प्रथम प्रकरण **'पदार्थ संग्रह'**, दूसरा प्रकरण **'पिंडोत्पत्ति'**, तीसरा प्रकरण **'नाद–स्थान–श्रुति–स्वर–जाति–कुल–देवता**–ऋषि**–छन्द–रस प्रकरण**, चौथा प्रकरण **'ग्राम–मूर्च्छना–क्रम–तान प्रकरण,** पाँचवाँ प्रकरण **'साधारण प्रकरण'**, छठा प्रकरण **'वर्ण–अलंकार प्रकरण'**, सातवाँ प्रकरण **'जाति प्रकरण'** तथा आठवाँ प्रकरण **'गीति प्रकरण'** है। इन आठों प्रकरणों में से दूसरे प्रकरण **'पिण्डोत्पत्ति'** के अन्तर्गत नाद की उत्पत्ति, स्थान, नाद के पाँच प्रकार–अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म, पुष्ट, अपुष्ट तथा कृत्रिम, श्रुति के बाइस भेद तथा इनका शरीर में स्थित बाइस नाड़ियों से संबंध, हृदययोग के अनुसार चक्र, ब्रह्मग्रंथि, सुषुम्ना नाड़ी निरूपण का वर्णन किया है।

संगीत का मुख्य उपादान (जिसके आधार पर कोई कार्य सम्पन्न होता है) **'नाद'** है। गीत, वाद्य तथा नृत्त ये तीनों ही नाद के अधीन है इसकी पुष्टि करते हुए शारंगदेव ने नाद की प्रशंसा करते हुए इसे निम्न श्लोक में वर्णित किया है–

गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्तया प्रशस्यते।
तद्द्वयानुगतं नृत्तं नादाधीनमतस्त्रयम्।।[6]

अर्थात् गीत नादात्मक है। 'वाद्य' नाद की अभिव्यक्ति करने के कारण प्रशंसित होता है तथा नृत्त इन दोनों का अनुगत है। अतः ये तीनों ही कलाएँ नाद के अधीन हैं। इस नादोपासना के द्वारा साधना करने वाले साधक (संगीतज्ञ) को नाद के सही प्रयोग की दृष्टि से नादोत्पादक अगों के साथ **'अंगी'** शरीर का भी ज्ञान होना आवश्यक है, इस दृष्टि से शारंगदेव ने संगीतरत्नाकर ग्रन्थ में पिण्डोत्पत्ति और रचना का निरूपण किया है। **'पिण्डोत्पत्ति'** शब्द के यदि शाब्दिक अर्थ को समझा जाये तो यह दो शब्दों से मिलकर बना है– **'पिण्ड'** तथा **'उत्पत्ति'** जो कि संस्कृत शब्द है। संस्कृत कोशों में **'पिण्ड'** का अर्थ है–'शरीर' परन्तु इस 'पिण्ड' का अन्य अर्थ भी है जैसे – एकत्र करना, जोड़ना, पिण्ड या समूह बनाना भी है तथा **'उत्पत्ति'** का अर्थ है–उत्पन्न होना, प्रादुर्भाव होना, जन्म अथवा अस्तित्व में आना। इस प्रकार सामान्य अर्थ में **'पिण्डोत्पत्ति'** का अर्थ हुआ – 'पिण्ड का उत्पन्न होना अथवा मानव देह का प्रादुर्भाव' परन्तु पं0 शारंगदेव ने 'संगीतरत्नाकर' में 'पिण्ड' का अर्थ 'मानव देह' तथा 'उत्पत्ति' का अर्थ 'प्रादुर्भाव' के अर्थ में ग्रहण करते हुए मानव शरीर की उत्पत्ति एवं उसकी सूक्ष्म संरचना के रूप में विवेचन किया है। संगीतरत्नाकर में शारंगदेव ने संगीत को परिभाषित किया, जिसमें प्रथम स्थान **'गीत'** का है परन्तु उन्होंने गीत से भी पूर्व शरीर का निरूपण किया क्योंकि गीत, वाद्य तथा नृत्त ये ही तीनों केवल नादाधीन नहीं है अपितु वाणी पर आधारित जगत् का समस्त व्यवहार नाद के अधीन है और नाद की अभिव्यक्ति शरीर में होती है इसलिए सर्वप्रथम शरीर का निरूपण करना उचित समझा है। इस बात को शारंगदेव ने निम्न श्लोक के द्वारा स्पष्ट किया है –

नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः।
वाचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्।।[7]

अर्थात् नाद से वर्ण, वर्ण से पद, पद से वाक्य व्यक्त होता है। वाक्य से ही यह जगत् का व्यवहार होता है। अतः जगत् नाद के अधीन है। भारतीय दर्शनशास्त्र तथा इससे प्रभावित संगीतशास्त्र ग्रन्थ में 'नाद' शब्द की व्याख्या व्यापक अर्थ में हुई है। आहत–अनाहत, व्यक्त–अव्यक्त, वर्णयुक्त–वर्णरहित आदि ध्वनि के जितने भी रूप हैं उन सभी को **'नाद'** अपने में समाविष्ट किया है। **'नाद'** शब्द की व्युत्पत्ति **'नद्'** धातु से कही है, जिसमें **'न'** का अर्थ **'नकार'** है जो **'प्राण'** वाचक है तथा **'द'** का अर्थ है **'दकार'** जो **'अग्नि'** वाचक है। यह प्राण वाचक तथा अग्नि वाचक का संयुक्त रूप **'नाद'** है। नाद को **'ध्वनि'** भी कहते हैं, परंतु प्रत्येक ध्वनि को संगीत के अन्तर्गत प्रयोग नहीं कर सकते क्योंकि कोलाहल भी एक ध्वनि है। अतः जिस ध्वनि में कंपन नियमित तथा निरन्तर हो, उस ध्वनि को **'नाद'** की संज्ञा दी गयी है। ऐसी संगीतोपयोगी नाद के दो भेद पं0 शारंगदेव ने कहें हैं –**1) अनाहत नाद 2) आहत नाद।** यथा –

**1) अनाहत नाद : अनाहत** का अर्थ है **'बिना आघात के'।** अर्थात् जो बिना आघात के उत्पन्न हो, उसे **'अनाहत नाद'** कहते हैं जिसका अनुभव केवल योगीजन को होता है। इस नाद को मुक्ति का साधन कहा है।

आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते।
सोऽयं प्रकाशते पिण्डे तस्मात्पिण्डोऽभिधीयते।।[8]

**2) आहत नाद : 'आहत'** का अर्थ है **'आघात'।** अर्थात् जो आघात द्वारा उत्पन्न हो, उसे **'आहत नाद'** कहते हैं। इसे संगीतोपयोगी नाद कहते हैं। यह नाद दो प्रकार से उत्पन्न होते हैं –**1) स्वाभाविक, जो कण्ठ द्वारा उत्पन्न होते हैं। 2) यान्त्रिक अर्थात् वाद्य पर आघात करने से।** पं0 शारंगदेव तथा मतंग आहत नाद की व्याख्या करते हुए इसके पाँच भेद कहे हैं। मतंग द्वारा पाँच भेद –**सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म, व्यक्त, अव्यक्त** तथा **कृत्रिम** तथा पं0 शारंगदेव ने अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म, पुष्ट, अपुष्ट तथा कृत्रिम। इन भेदों के साथ ही इनके उत्पत्ति स्थान का भी वर्णन किया है। यथा –

सूक्ष्मश्चैवातिसूक्ष्मश्च व्यक्तोऽव्यक्तोश्च कृत्रिमः।
सूक्ष्मो नादो गुहावासी हृदये चातिसूक्ष्मकः।।[9]
कण्ठमध्ये स्थितो व्यक्तश्चाव्यक्तस्तालुदेशके।
कृत्रिमो मुखदेशे तु ज्ञेयः पंचविधो बुधैः।।

अर्थात् सूक्ष्मनाद तथा अतिसूक्ष्म नाद क्रमशः गुह्य एवं हृदय में, व्यक्त नाद कण्ठ में, अव्यक्त नाद तालु देश में तथा कृत्रिम नाद मुख से उत्पन्न होता है। पं0 शारंगदेव ने व्यक्त तथा अव्यक्त नाद को क्रमशः पुष्ट तथा अपुष्ट कहा है। इन पंच भेदों के उत्पन्न स्थानों का भी वर्णन किया है–नाभि, हृदय, कंठ, मूर्धा तथा मुख। ये आहत तथा अनाहत नाद मूल रूप से शरीर में ही प्रकट होते हैं। जो सामान्य मनुष्य के वाचिक व्यवहार का अधार है वह आहत है जो मानव शरीर में व्यक्त होता ही है परंतु अनाहत नाद, जो योगी ही सुन सकते हैं वह नाद भी शरीर के भीतर ध्वनित होता है। नाद से आत्मानुभूति तक की यात्रा में आहत नाद प्रारंभिक साधना है, जिसकी साधना साधक स्वर (शुद्ध एवं विकृत) के माध्यम से करता है। इन स्वरों को एक नियमित तथा स्थिर लय के माध्यम से अभ्यास कर के बाह्य ध्वनियों को अनुशासित करता है। इस अभ्यास के द्वारा वह रागों के गायन अथवा वादन में प्रवृष्ट होकर उनके स्वर संयोजन से उत्पन्न रस–निष्पत्ति साधक को बाह्य सांसारिक बंधनों से मुक्त कर 'स्व' का दर्शन कराती है और जब इस साधना से साधक का मन भौतिक साधना से परे अर्थात् ऊपर उठता है तब वह आंतरिक चेतना में लीन हो जाता है, तब साधक अनाहत नाद को महसूस कर पाता है। यहाँ संगीत एकमात्र कला नहीं रह जाती बल्कि **'सत् चित्त आनंद'** की अनुभूति कराने वाला माध्यम हो जाती है।

यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से दर्शन एवं संगीत का कोई संबंध नहीं है क्योंकि दर्शन चिंतन का विषय है तथा संगीत भावना का। किसी भी राष्ट्र का दर्शन, वहाँ की संस्कृति को प्रभावित करता है। संगीत, साहित्य, नृत्य अथवा कला इन सभी का दृष्टिकोण संपूर्ण दर्शन पर आधारित होता है। हमारा भारतीय दर्शन मूलतः आध्यात्मिक है इसलिए हमारी भारतीय कलाओं पर भी आध्यात्मिकता की छाप देखी जा सकती है, चाहे वह ध्रुपद अथवा ख़्याल हो, भजन हो, कथक, भरतनाट्यम् आदि हो। ये सभी कलाएँ ज्ञान मार्ग से हो कर अपने अन्तिम लक्ष्य यानि भक्ति मार्ग की ओर अग्रसर करती हैं। ब्रह्म के **'सत् चित्त आनंद'** में से आनंद ही भक्तों योगियों तथा ज्ञानियों का अन्तिम लक्ष्य है और आनंद प्रात करने का तथा उस परमात्मा में लीन होने का सबसे सहज माध्यम संगीत है। अतः संगीत तथा दर्शन का अंतर्संबंध हमेशा रहा है। पं0 शारंगदेव कृत संगीतरत्नाकर पर दार्शनिक प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उन्होंने संगीत को योग के रूप में स्वीकारा है। शारंगदेव के अनुसार संगीत की साधना में शरीर में स्थित चक्रों पर अधिकार करना आवश्यक है इसलिए उन्होनें आधार चक्र, स्वाधिष्ठान् चक्र, मणिपूर चक्र, अनाहतचक्र आदि दस चक्रों का वर्णन किया है साथ ही इनसे प्रात होने वाले फल का भी उल्लेख किया है। ये सभी चक्र ज्ञान देवी सरस्वती का निवास स्थान माने गये हैं जहाँ प्राण और स्वर एकाकार होने पर साधक नाद–ब्रह्म के माध्यम से आत्मानुभूति की परम अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

**संदर्भ सूची :**

1. भारतीय दर्शन की रूपरेखा प्रो0 हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा पृ0 सं0–01।
2. वहीं।
3. संगीत–दर्शन विजय जैन लक्ष्मी पृ0 सं0–136।
4. संगीतरत्नाकर सुभद्रा चौधरी पृ0 सं0– 12।
5. वहीं पृ0 सं0– 14।
6. संगीतरत्नाकर सुभद्रा चौधरी पृ0 सं0– 20।
7. संगीतरत्नाकर सुभद्रा चौधरी पृ0 सं0– 20।
8. स्वर और राग, पृ0 4।
9. बृहद्देशी, पृ0 10।

**संदर्भ ग्रंथ सूची :**


- पाण्डेय, डॉ0 कान्तिचन्द्र, 'स्वतन्त्रकला शास्त्र', प्रकाशक – चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी। संस्करण – प्रथम।
- मुसलगाँवकर, डॉ0 विमला, 'भारतीय संगीत शास्त्र का दर्शनपरक अनुशीलन' प्रकाशक – संगीत रिसर्च अकादमी, कलकत्ता। संस्करण – प्रथम, जुलाई, 1995।
- सागर, डॉ0 डी0 बी0 क्षीर, "श्रीमतंगमुनिकृत बृहद्देशी", प्रकाशक – पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, भारत । संस्करण – 1998 ।
- चौधरी, सुभद्रा, "शारंगदेवकृत संगीतरत्नाकर 'सरस्वती' व्याख्या और अनुवाद सहित", प्रथम खण्ड, प्रकाशक – राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली । प्रथम संस्करण – 2000 ।
- सिन्हा, प्रो0 हरेन्द्र प्रसाद, 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा' प्रकाशक – मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली। पंचम संस्करण – 1993।
- चटर्जी, एम. सी., दत्ता, डी. एम., भारतीय दर्शन एक परिचय प्रकाशक – मोतीलाल बनारसीदास इंटरनेशनल नई दिल्ली। संस्करण – 2023।


•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-77-80

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 77-80
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**
**डॉ0 वेणु वनिता**
विभागाध्यक्ष तबला, श्री अग्रसेन कन्या पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी

Corresponding Author :
**डॉ0 वेणु वनिता**
विभागाध्यक्ष तबला, श्री अग्रसेन कन्या पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी

# ऑनलाइन संगीत शिक्षण : सम्भावनायें और सीमायें

**सारांश** : परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है और यही परिवर्तन भारतीय शास्त्रीय संगीत में भी दृष्टिगोचर होता है। वर्तमान समय में गायन, वादन एवं नृत्य के शिक्षण तथा प्रदर्शन में विभिन्न प्रकार की तकनीकों एवं उपकरणों का प्रयोग बढ़ा है। ज्ञान–विज्ञान के निरंतर विकास तथा वैज्ञानिक आविष्कारों ने मुद्रण, रिकॉर्डिंग एवं संचार जैसे साधनों को विकसित किया, जिसके परिणामस्वरूप विश्व में भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दूरियाँ तेजी से सिमटने लगी हैं।

समय के साथ संगीत शिक्षण की विधियों में भी परिवर्तन आया है। यद्यपि परंपरागत रूप से संगीत शिक्षा गुरु के समक्ष बैठकर सीना–ब–सीना तथा गुरु–शिष्य परंपरा के माध्यम से प्रदान की जाती रही, किंतु वैश्वीकरण और सूचना–प्रौद्योगिकी के विकास ने इसके स्वरूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है। पूर्व में प्रभावी संगीत शिक्षण के लिए वैयक्तिक शिक्षण को प्रमुख माना जाता था, जिसके अंतर्गत गुरु–शिष्य परंपरा का पालन होता था। वर्तमान में कंप्यूटर, इंटरनेट एवं अन्य तकनीकी माध्यमों के प्रयोग से संगीत शिक्षा अधिक व्यापक स्तर पर उपलब्ध होने लगी है। मुक्त विश्वविद्यालयों एवं ऑनलाइन पाठ्यक्रमों के माध्यम से विद्यार्थी घर बैठे भी संगीत का अध्ययन कर सकते हैं।

रिकॉर्डिंग की सुविधा ने गुरु द्वारा सिखाई गई सामग्री को बार–बार सुनकर अभ्यास करने की संभावना प्रदान की है। हालांकि, इस सुविधा के कारण विद्यार्थी की तालीम के समय सजगता एवं एकाग्रता में कमी आने की संभावना भी व्यक्त की गई है। इस प्रकार इलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यमों की क्रांति ने दूरस्थ एवं ऑनलाइन संगीत शिक्षा को परंपरागत शिक्षण प्रणाली के एक महत्वपूर्ण विकल्प के रूप में स्थापित किया है।

**कीवर्ड** : संगीत, शिक्षण, ऑनलाइन, वीडियों, संचार

**ऑनलाइन शिक्षण** : ऑनलाइन शिक्षण, जिसे प्रायः दूरस्थ शिक्षण भी कहा जाता है, कम्प्यूटर एवं इंटरनेट के माध्यम से प्रदान की जाने वाली शिक्षा–पद्धति है। दूरस्थ शिक्षण में जहाँ पारंपरिक रूप से डाक आदि माध्यमों का प्रयोग किया जाता था, वहीं ऑनलाइन शिक्षण में संकाय अथवा अनुभवी शिक्षकों द्वारा तैयार किए गए पाठ एवं अनुदेशन इंटरनेट के माध्यम से शिक्षार्थियों तक पहुँचते हैं। इस पद्धति में शिक्षार्थी कहीं से भी अपने कम्प्यूटर अथवा अन्य उपकरणों के माध्यम से शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

ऑनलाइन शिक्षण में शिक्षार्थी अधिक सक्रिय एवं प्रतिक्रियावान रहता है तथा शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों तकनीकी माध्यमों के प्रयोग द्वारा सीखने–सिखाने की प्रक्रिया में संलग्न रहते हैं। अनुभवी शिक्षकों द्वारा तैयार एवं प्रस्तुत किए गए पाठ ऑनलाइन शिक्षण को अधिक प्रभावी बनाते हैं। पारंपरिक शैक्षिक मूल्यों और ऑनलाइन शिक्षण के मध्य समन्वय स्थापित करने के लिए योग्य एवं विषय में रुचि रखने वाले अध्यापकों द्वारा अनुदेशन आवश्यक है।

**ऑनलाइन शिक्षण के उपागम** : ऑनलाइन शिक्षण के मुख्यतः दो उपागम हैं

**तुल्यसमकालिक तथा अतुल्यसमकालिक।**

**तुल्यसमकालिक अध्ययन** में शिक्षक एवं शिक्षार्थी एक ही समय पर ऑनलाइन उपस्थित रहते हैं। इसमें प्रत्यक्ष बातचीत, दृश्य–श्रव्य परामर्श, श्वेतपटल सहभागिता, प्रत्यक्ष सहभागिता तथा बहुमाध्यम प्रस्तुतियों आदि की सुविधा रहती है।

**अतुल्यसमकालिक अध्ययन** में शिक्षक एवं शिक्षार्थी किसी निश्चित समय से बंधे नहीं रहते। ई–मेल, चर्चा, सूचना एवं बुलेटिन बोर्ड तथा फाइल–संलग्नता जैसे माध्यमों से शिक्षण–सामग्री का आदान–प्रदान किया जा सकता है। इस प्रकार विद्यार्थी अपनी सुविधा के अनुसार कभी भी और कहीं भी पाठ का अध्ययन कर सकता है। वेबसाइट आधारित शिक्षा भी इसी पद्धति का एक स्वरूप है।

वर्तमान में ऐसे अनेक सॉफ्टवेयर उपलब्ध हैं जिनकी सहायता से ऑनलाइन पाठ तैयार करना सरल हो गया है। इनमें ऑनलाइन चर्चा, दस्तावेज सहभागिता तथा पूर्व निर्धारित पाठावली आदि की सुविधाएँ सम्मिलित हैं।

**ऑनलाइन शिक्षण के लाभ** : ऑनलाइन शिक्षण शिक्षार्थी–केंद्रित शिक्षा की नवीन शैली को विकसित करता है। विभिन्न ऑनलाइन उपकरणों के माध्यम से विद्यार्थी विषय से संबंधित व्यापक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ऑनलाइन समूह–कार्य विद्यार्थियों को सक्रिय रूप से भाग लेने तथा विषय को समझने के लिए चिंतन करने हेतु प्रेरित करता है।

इसके प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं

- नवीन शिक्षण विधियों के विषय में सोचने तथा उन्हें अपनाने का अवसर प्राप्त होता है।
- पारंपरिक पाठ्यक्रमों में ऑनलाइन ई–मेल चर्चा तथा अन्य तकनीकी विधियों को सम्मिलित किया जा सकता है।
- पाठ्यक्रम की पहुँच क्षेत्रीय, राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर तक विस्तृत हो जाती है।
- शिक्षक विभिन्न क्षेत्रों एवं स्तरों से जुड़े विद्यार्थियों के साथ कार्य करने का अनुभव प्राप्त करते हैं।
- ऑनलाइन शिक्षण में शिक्षक को लचीली कार्यसूची तथा सुविधानुसार कार्य करने की संभावना प्राप्त होती है।
- शिक्षार्थी वैश्विक संसाधनों, डेटाबेस तथा विषय–विशेषज्ञों तक अपेक्षाकृत सरलता से पहुँच बना सकता है।
- मल्टीमीडिया प्रस्तुतियों के माध्यम से तकनीकी दक्षता विकसित होती है।
- यह गैर–पारंपरिक विद्यार्थियों के लिए भी शिक्षा का अवसर उपलब्ध कराता है।

**ऑनलाइन शिक्षण की चुनौतियाँ** : ऑनलाइन शिक्षण के प्रभावी संचालन के लिए शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों का ऑनलाइन वातावरण से परिचित होना आवश्यक है। माध्यम का उचित एवं लाभप्रद प्रयोग, विद्यार्थियों के लिए पर्याप्त समय उपलब्ध कराना तथा उनके प्रश्नों का त्वरित उत्तर देना इसकी प्रमुख चुनौतियाँ हैं।

ऑनलाइन वातावरण लिखित सामग्री का एक विकल्प प्रस्तुत करता है। यह एक ओर कुछ सीमाएँ उत्पन्न करता है, तो दूसरी ओर नई संभावनाओं के द्वार भी खोलता है। लिखित संप्रेषण अपेक्षाकृत समय–साध्य हो सकता है तथा प्रश्न अथवा टिप्पणी करने के लिए चिंतन की आवश्यकता होती है। कक्षा में संकोची विद्यार्थी चर्चा करने में कठिनाई अनुभव कर सकते हैं, जबकि ऑनलाइन कक्षा में वे अधिक सहज होकर अपनी बात रख सकते हैं। अतः ऑनलाइन कक्षाओं की योजना इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर बनाई जानी चाहिए।

**विद्यार्थियों से संपर्क** : ऑनलाइन वातावरण में तकनीकी माध्यमों का प्रयोग विद्यार्थियों के साथ व्यक्तिगत एवं सामूहिक संपर्क बनाए रखने के लिए किया जाता है। विद्यार्थियों से निरंतर जुड़ा रहना ऑनलाइन शिक्षण की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। यद्यपि विद्यार्थियों के साथ संपर्क बनाए रखना एक चुनौती है, फिर भी ऑनलाइन माध्यम अनेक शैक्षिक अवसर प्रदान करता है।

दूरस्थ शिक्षक को शिक्षण की योजना पहले से तैयार करके व्यवस्थित रूप से कार्य करना चाहिए तथा विद्यार्थियों के साथ नवीन प्रकार से अंतःक्रिया के लिए तैयार रहना चाहिए। शिक्षक को विद्यार्थियों के लिए उपलब्ध रहते हुए समूह–कार्य में मार्गदर्शक एवं सुविधाप्रदाता की भूमिका निभानी चाहिए।

**ऑनलाइन कक्षाओं में अच्छे शिक्षण के सिद्धांत** :

ऑनलाइन शिक्षण में प्रभावी अध्यापन के लिए निम्नलिखित सिद्धांत महत्वपूर्ण हैं

- शिक्षक एवं विद्यार्थी के मध्य निरंतर संपर्क बनाए रखना।
- विद्यार्थियों में सहयोग एवं सहकारिता की भावना विकसित करना।
- सक्रिय अधिगम को प्रोत्साहित करना।
- विद्यार्थियों को समय पर पुनर्निवेशन अथवा फीडबैक प्रदान करना।
- उपयोगी एवं परिणामकारक मार्गदर्शन द्वारा समय पर कार्य पूर्ण करवाना।
- विद्यार्थियों में उच्च आत्मआकांक्षा उत्पन्न करना।
- सुव्यवस्थित पाठ्यक्रम एवं उसकी स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करना।
- विद्यार्थियों की प्रतिभा एवं सीखने की विविधता का सम्मान करना।

ये सिद्धांत ऑनलाइन पाठ्यक्रमों के प्रभावी संचालन के लिए महत्वपूर्ण हैं। विशेष रूप से शिक्षक–विद्यार्थी संपर्क एवं विद्यार्थियों के मध्य सहयोग की भावना पर ध्यान देना आवश्यक है।

**संगीत शिक्षण में ऑनलाइन पद्धति** : ऑनलाइन शिक्षण पद्धति विशेष पहचान रखने वाले घरानों एवं कलाकारों की सांगीतिक

परंपराओं को पुनः व्यापक स्तर पर पहुँचाने में सहायक हो सकती है। आधुनिक तकनीक के माध्यम से इन घरानों की सांगीतिक विशेषताओं एवं बारीकियों को संग्रहीत किया जा सकता है। साथ ही संगीत के इतिहास से संबंधित दस्तावेजों के संरक्षण एवं प्रसार की सुविधा भी प्राप्त होती है।

विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार किसी गुरु अथवा उनकी संस्था के ऑनलाइन मंच से संगीत शिक्षा प्राप्त कर सकता है। वर्तमान व्यस्त जीवन में प्रत्येक व्यक्ति के लिए किसी संस्था में लंबे समय तक उपस्थित रहना संभव नहीं होता। ऐसे विद्यार्थियों के लिए ऑनलाइन पद्धति उपयोगी सिद्ध हो सकती है, क्योंकि वे अपनी सुविधा एवं समय के अनुसार संगीत शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। इससे नई तकनीकों को सीखने का अवसर भी मिलता है और तकनीकी माध्यमों के प्रति रुचि बढ़ती है।

ऑनलाइन संगीत शिक्षा का स्वरूप कुछ सीमा तक पारंपरिक सीना–ब–सीना शिक्षण से मिलता–जुलता है, क्योंकि इसमें गुरु एवं शिष्य प्रत्यक्ष रूप से एक स्थान पर उपस्थित न होकर आभासी माध्यम से एक–दूसरे को देख एवं सुन सकते हैं। हालाँकि, ऑनलाइन पद्धति पारंपरिक गुरु–शिष्य परंपरा का पूर्ण स्थानापन्न नहीं है, बल्कि यह गुरुओं के लिए अपनी पहुँच से आगे विद्यार्थियों तक संगीत शिक्षा पहुँचाने का एक साधन है।

इस पद्धति में ऑडियो एवं वीडियो की गुणवत्ता में सुधार, संस्थागत स्तर पर ई–बोर्ड एवं ई–कंटेंट तैयार करने के लिए शिक्षकों को प्रशिक्षण तथा मौखिक एवं श्रव्य ई–कंटेंट विकसित करने हेतु संगीत शिक्षकों को उचित प्रोत्साहन एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता है। इससे संगीत शिक्षण अधिक सहज एवं प्रभावी बनाया जा सकता है।

**भारतीय शास्त्रीय संगीत के अध्ययन–अध्यापन में ऑनलाइन माध्यम** : मुक्त एवं ऑनलाइन माध्यम से भारतीय शास्त्रीय संगीत का अध्ययन–अध्यापन वर्तमान समय में व्यापक होता जा रहा है। भारत में अनेक संस्थाएँ एवं अकादमियाँ इंटरनेट आधारित माध्यम से भारतीय संगीत की विभिन्न विधाओं की शिक्षा प्रदान कर रही हैं। विद्यार्थी घर बैठे ऑनलाइन माध्यम द्वारा संगीत की विभिन्न विधाओं का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

ऑनलाइन संगीत शिक्षण के लिए मुख्यतः तीव्र गति वाले इंटरनेट तथा इंटरनेट के माध्यम से संदेश, ऑडियो एवं वीडियो भेजने एवं प्राप्त करने वाले उपकरणों की आवश्यकता होती है। इनमें मल्टीमीडिया मोबाइल, लैपटॉप, टैबलेट तथा डेस्कटॉप प्रमुख हैं। इंटरनेट की सुविधा ब्रॉडबैंड तथा मोबाइल नेटवर्क दोनों माध्यमों से प्राप्त की जा सकती है। ऑनलाइन ऑडियो–वीडियो वार्ता के लिए विभिन्न सॉफ्टवेयर एवं अनुप्रयोगों का प्रयोग किया जाता है।

**ऑनलाइन संगीत शिक्षण की प्रमुख तकनीकियाँ** :

**गूगल मीट** के माध्यम से शिक्षक एवं विद्यार्थी वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग द्वारा संगीत की कक्षा संचालित कर सकते हैं। शिक्षक बैठक का लिंक विद्यार्थियों के साथ साझा करके उन्हें ऑनलाइन कक्षा में सम्मिलित कर सकता है। इस माध्यम से विद्यार्थी गुरु अथवा मार्गदर्शक से दूर रहते हुए भी संगीत शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

**जूम** भी ऑनलाइन संगीत शिक्षण एवं वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग का प्रमुख माध्यम है। इसे मोबाइल अथवा लैपटॉप पर उपयोग किया जा सकता है। शिक्षक ऑनलाइन बैठक तैयार करके उसका लिंक विद्यार्थियों को भेज सकता है और उसके माध्यम से कक्षा संचालित की जा सकती है।

**स्वयंप्रभा** पर संगीत एवं उससे संबंधित विभिन्न क्षेत्रों के शैक्षिक कार्यक्रम उपलब्ध हैं। संगीत, नृत्य एवं अन्य कलाओं से संबंधित कक्षाओं तथा सामग्री का प्रसारण किया जाता है। राग एवं ताल से संबंधित सामग्री के साथ नृत्य की कक्षाएँ भी उपलब्ध हैं। विद्यार्थी इस सामग्री का ऑनलाइन लाभ उठा सकते हैं।

**स्वयं पोर्टल** भी संगीत पाठ्यक्रमों के अध्ययन के लिए उपयोगी माध्यम है। इसके द्वारा भारतीय शास्त्रीय संगीत, कर्नाटक संगीत, लोक संगीत तथा रागों से संबंधित वीडियो सामग्री उपलब्ध होती है।

**ई–यूनिवर्सिटी** के माध्यम से विश्वविद्यालयों के विभिन्न संकायों द्वारा प्रदान किए जाने वाले ज्ञान एवं शैक्षिक सामग्री को संचित किया जा सकता है। व्याख्याताओं एवं प्रोफेसरों द्वारा दी गई सामग्री को पुनः सुना एवं पढ़ा जा सकता है। राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय संगोष्ठियों तथा कार्यशालाओं को भी वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग के माध्यम से आयोजित किया जा सकता है।

**यू–ट्यूब** आज एक व्यापक वीडियो मंच के रूप में संगीत शिक्षा एवं प्रसार का महत्वपूर्ण माध्यम बन चुका है। इसके माध्यम से विद्यार्थी विभिन्न कलाकारों की प्रस्तुतियाँ सुन एवं देख सकते हैं तथा संगीत संबंधी शैक्षिक सामग्री प्राप्त कर सकते हैं। इस माध्यम से संगीत के साथ–साथ मनोरंजन एवं सांगीतिक सामग्री के प्रसार की सुविधा भी उपलब्ध है।

विभिन्न संस्थाओं द्वारा संचालित यू–ट्यूब चौनलों पर रागों एवं खयालों से संबंधित सामग्री उपलब्ध है। रागों के संक्षिप्त परिचय, उनकी प्रस्तुतियाँ तथा स्वरलिपि जैसी सामग्री विद्यार्थियों को सुनने एवं देखने के लिए उपलब्ध हो सकती है। इसी प्रकार आकाशवाणी के आधिकारिक यू–ट्यूब चौनल पर अनेक प्रसिद्ध कलाकारों की प्रस्तुतियाँ तथा व्याख्यान उपलब्ध हैं, जिनसे विद्यार्थी एवं संगीत–रुचि रखने वाले व्यक्ति लाभान्वित हो सकते हैं।

**व्हॉट्सऐप** के माध्यम से संगीत संबंधी ऑडियो–वीडियो सामग्री, सूचनाएँ, नियमावली तथा राग विशेष से संबंधित जानकारी साझा की जा सकती है। कलाकारों की प्रस्तुतियों को देखने–सुनने तथा संगीत के प्रचार–प्रसार में भी इसका उपयोग किया जा सकता है।

**फेसबुक** के माध्यम से सांगीतिक विवरण, तथ्य एवं प्रस्तुतियों का प्रसार किया जा सकता है। इसके लाइव विकल्प द्वारा गुरु अथवा कलाकार के सजीव कार्यक्रमों को देखा एवं सुना जा सकता है।

**ऑनलाइन संगीत शिक्षण के कुछ माध्यम** :

1. https://indianmusiclessons.com
2. https://aacm.org
3. https://www.sharda.org
4. https://www.youtube.com
5. https://www.saamavedamusicacademy.in
6. https://tablalessonsonline.com
7. https://www.classcentral.com
8. https://www.theworldmusicfoundation.org
9. https://indianmusiclessons.com
10. https://sitarlessonsonline.com
11. https://www.cmuse.org
12. https://www.sharda.org
13. https://aacm.org
14. https://www.learnkathakonline.com
15. https://sreejaya.in
16. https://bridgeacademy.in
17. http://www.danceclassonline.in

**निष्कर्ष** : इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में ऑनलाइन संगीत शिक्षण सर्वसुलभ सर्वप्रचलित हो चुका है। यह अनेकानेक माध्यमों जैसे गूगल मीट, जूम, फेसबुक लाइव, आदि संचार माध्यमों से गतिमान हो रहा है।

**संदर्भ ग्रन्थ सूची** :

1. पाठक, रमेश प्रसाद : (2019). शैक्षिक प्रौद्योगिकी एवं जनसंचार माध्यम. नई दिल्ली : कनिष्क पब्लिशिंग हाउस, पृ0–227
2. वही. पृ0–230
3. www.edu.google.com से प्राप्त जानकारी
4. www.wpamelia.com. से प्राप्त जानकारी
5. www.swayamprabha.gov.in. से प्राप्त जानकारी
6. www.researchgate.net से प्राप्त जानकारी
7. www.britannica.com से प्राप्त जानकारी

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-81-85

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 81-85
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**दमा राम**

शोधार्थी (सिंधी), भारतीय भाषाएँ और साहित्यिक अध्ययन विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

Corresponding Author :

**दमा राम**

शोधार्थी (सिंधी), भारतीय भाषाएँ और साहित्यिक अध्ययन विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

# विभाजन पर आधारित सिंधी लघु कहानियों में सामाजिक सौहार्द और पारिवारिक जीवन

**सारांश :** भारत का विभाजन वर्ष 1947 भारतीय इतिहास की एक ऐसी त्रासदी है जिसका असर भारत की राजनीतिक के साथ-साथ भारतीय साहित्य पर गहरा असर डाला है, भारतीय साहित्य में हिंदी, पंजाबी, उर्दू, बांग्ला और सिंधी पर सबसे ज्यादा असर डाला है। क्योंकि यह साहित्य सीधे तौर पर भारत विभाजन से प्रभावित हुआ है। इन सब भाषाओं में सबसे ज्यादा सिंधी भाषा और साहित्य प्रभावित हुआ क्योंकि बाकी सब भाषाओं कुछ न कुछ क्षेत्र मिला है पंजाबी को आधा पंजाब मिला बांग्ला को आधा बंगाल लेकिन सिंध का पूरा क्षेत्र विभाजन के बाद पाकिस्तान में चला गया है, इसका असर सिंधी भाषा और साहित्य पर पड़ जिसका असर सिंधी लघु कहानियों दस्तावेज (नारायण भारती), सहेली (लोकनाथ जैटली), सिंधियानी (हरकिशन समतानी),जमीन से उखड़े हुए (विष्णु भाटिया), भूरी (**सुन्दरी** उत्तमचंदानी), जैनी (मोती प्रकाश), एक दूसरा विभाजन (झमु छुगानी) में देखा जा सकता है। सिंधी हिंदुओं के विस्थापन, आघात, और पुनर्वास के आपस में जुड़े अनुभवों की पड़ताल करती है, सिंध से आए सिंधी थोड़े ही समय में अपनी लगन व मेहनत से शरणार्थी से पुरुषार्थी बन गए थे, भारतीय जीवन धारा में समा कर देश की तर्की अहम रोल अदा करने लगे है| इसके लिए सिंधी समाज को बहुत कीमत चुकानी पड़ी है। दरअसल विभाजन सिंधियों के सीने में चुभी हुई वो सुई है जो हमेशा गहरी पीड़ा पहुंचाता है, जो लेखकों को अपने विचार प्रकट करने के लिए हमेशा बेचैन करता रहता है। जिसके कारण सिंधी साहित्य में विभाजन पर आधारित साहित्य में बेशुमार लिखा गया है।

**बीज शब्द :** सिंधी कहानियाँ, विभाजन, विस्थापन, त्रासदी, पहचान, शरणार्थी समस्या, आज़ादी, मानवीयता, स्वतंत्रता।

**प्रस्तावना :** भारत देश के लिए बीती हुई सदी में सबसे पीड़ादायक घटना थी भारत का विभाजन जिसके कारण महिलाओं के साथ बेइज्जती, बदतमीज़ी, अशिष्टता, आपसी अविश्वास, अशांति, और

आतंकवाद को बढ़ावा मिला| सदियों से साझा संस्कृतियों को तार-तार कर दिया, गुजरे सात दशक आपस में लड़ाइयाँ लड़ने के बाद भी बदकिस्मती से उत्पन्न हुए संकट के किसी नतीजे पर नहीं पहुंचे है।

भारत विभाजन के कारण सिंधियों ने हासिल करने से ज्यादा गंवाया है, इसके लिए जे. एम. सैयद ने कहा है- "हिंदू सिंधियों के बिना सिंध सुनी हो गई है हम अच्छे लेखक, व्यापारी, समाज सुधारक खो चुके है" इस तरह सिंधी अपनी आर्थिक और संस्कृति को लेकर अजीब तरह की बेचैनी महसूस करते है।

सिंध की मिट्टी में हमेशा इंसान से इंसान हो कर चलने की प्रेरणा देती है, साथ ही साथ हमेशा धर्म से ज्यादा संस्कृति पर जोर देते है यहां की मिट्टी भाईचारे पर जोर देती है इस कारण वहां पर हिंदू मुस्लिम हमेशा भाईचारे के साथ रहे थे इस कारण विभाजन के समय दूसरे प्रांतों के मुकाबले सिंध में हिंसा के मामले कम हुए थे। इन सब घटनाओं का असर सिंधी साहित्य पर पड़ा है राम पंजवानी की कहानी मोहम्मद तांगेवाला तथा ठाकुर चावला की दादागिर की लघु कहानी में सामाजिक सौहार्द को बताया गया है मोहम्मद अपने मालिक को सिंध में हिंसा के बाद भी सकुशल आपए घर उसके बाद एयरपोर्ट तक छोड़ने आता है साथ ही मालिक के द्वारा उसको याद के रूप में अपनी चन्दन की छड़ी को देना, सिंध में हिंदू मुस्लिम भाईचारे का संदेश देती है। सिंध के मुसलमान किसी भी तरह से अपने हिंदू भाइयों की सुरक्षा की जवाबदारी लेते है। पोपटी हीरानंदानी की लघु कहानी 'मेरी नानी' अपने देश की मिट्टी से लगाव और विभाजन के दर्द का वर्णन किया किया गया है। मेरी नानी कहानी में एक जिंदा दिल खुशहाल परिवार की कहानी है, विभाजन की मनहूस खबर के कारण बेबसी का जिक्र किया गया है।

इसके साथ कला प्रकाश की खानवाहन, मोती प्रकाश की 'जैनी', हरि हिमथानी की 'सिंध जला था' नारायण भारती की 'दस्तावेज' लोकराज डोडेजा की 'पत्नी अपनी, तो बेटा पराया कैसे ?' आदि लघु कहानियों में विभाजन का चित्रण किया गया है।

विभाजन की किसी भी देश के लिए अच्छी बात नहीं है राजनीति रूप से हुआ विभाजन आम जनता के लिए कितनी परेशानी खड़ी कर सकता है इसका हम सोच भी नहीं सकते है। किसी भी देश के लिए साहित्य प्रेरणा और आईना दोनों होते है विभाजन का दंश आज दिन तक वो पीढ़ी नहीं भूल पाई है जिसने विभाजन का दंश झेला था।

**मूल आलेख :** भारत के लिए सन 1947 का वह समय था जब भारत का विभाजन भारत व पाकिस्तान देश के रूप में हुआ था। कहीं पर आजादी की खुशी कहीं पर विभाजन का मातम मनाया जा रहा था। विभाजन की सबसे बड़ी कीमत दोनों देशों की आम जनता को चुकानी पड़ी थी धर्म के आधार जो विभाजन किया गया था उसके कारण आम जनता में द्वेष भावना कट्टरता, लूट-मार, हत्याएं, बलात्कार, अनके तरह की हिंसाओं का सामना करना पड़ा था। इसके लिए शहादत हसन मंटो एक वाक्य बड़ा प्रसिद्ध है "यह मत कहो कि एक लाख हिंदू और एक लाख मुसलमान मरे, बल्कि यह कहो दो लाख इंसान मरे" लाखों लोगों को अपनी मातृभूमि को छोड़कर एक दूसरे देश में जाना पड़ा था। दूसरे देश में उनको शरणार्थी के रूप में अपना जीवन काटना पड़ा था। इसका प्रभाव भारत की प्रत्येक भाषा के साहित्य में नजर आता है।

साहित्य समाज का दर्पण होता है, जो उस समय की परिस्थितियों का साक्षी होता है। साहित्य की रचना करने वाले साहित्यकार अपनी लेखनी के माध्यम से उस दर्द को आवाज देता है। सिंधी साहित्य विभाजन से सीधा प्रभावित हुआ है। सिंधी अपनी जन्म भूमि से अलग होना और शरणार्थी जीवन इसके साथ ही मानवीय घटनाओं से आहत साहित्यकारों ने अपनी लेखनी से समाज के सामने यथार्थ चित्रण किया है।

**मोहम्मद गाड़ी वाला (राम पंजवानी) :** मोहम्मद गाड़ी वाला लेखक राम पंजवानी एक सामाजिक सौहार्द वाली कहानी है इस कहानी के दो मुख्य पात्र है। दीवान साहब हिंदु धर्म से आते है दूसरा मोहम्मद जो शहर में तांगा चलाने का काम करता है। यह कहानी विभाजन के समय बदलती हुई परिस्थितियां को उजागर करती है। विभाजन के समय सिंध के मुसलमान खुश हो रहे थे वो अपने आप को सिंध का मालिक समझ रहे थे उनको विश्वास था कि पूरा सिंध

पाकिस्तान में शामिल होगा जबकि हिंदुओं के चेहरे पर मायूसी छाई हुई थी। क्योंकि हिंदुओं को सिंध छोड़ना था। हिंदुओं को यह भी डर था कि कहीं दंगे न भड़क जाए, दीवान साहब अपने दोस्त निहालचंद की पार्टी से वापिस आ रहे थे उनको डर भी था अकेले घर जाने का विभाजन के दंगे भड़क सकते है। तभी वहां पर एक तांगा रुकता है और दीवान साहब को तांगे में बैठने के लिए कहता है, पहले दीवान साहब डर जाते है, तांगे वाले को सिंधी बोलते हुए सुनते है तो अपनापन का अहसास होता है और वो टांगें में बैठ जाते है। शहर से बाहर आते ही तांगेवाला अपने घोड़े से बात करने लगता है: **"उड़-उड़ पंछी, दीवान साहब को मोटर की मस्ती दिला बड़ी मुश्किल से दीवान साहब गाड़ी में बैठे है, फिर नहीं बैठेंगे"** फिर नहीं बैठेंगे शब्द सुनकर दीवान साहब घबरा जाते है इतने में तांगेवाला और कहता है कि- **"डर मत! कोई नहीं रोकेगा। जमीन के कई शौक पूरे किए है, अब स्वर्गलोक की सैर करा"**

यह शब्द सुनकर दीवान साहब का दिल में भय बैठ जाता है। फिर अचानक तांगा रुक जाता है। उनको लगता है कि तांगेवाला अब हमला करेगा और मुझे मार देगा। लेकिन तांगेवाला बड़ा सा सुआ ले कर आगे बढ़ जाता और घोड़े की लगाम ठीक करने लगता है। दीवान साहब के डर का सबसे बड़ा कारण था तांगेवाले का मुसलमान, होना इसलिए दीवान साहब को उस पर विश्वास नहीं हो रहा था। आखिर में दीवान साहब को अहसास हुआ कि मोहम्मद बाकी मुसलमानों जैसा नहीं है। उन्होंने तांगेवाले को गलत समझा वह तो दीवान साहब की सहायता ही कर रहा था। यह सोचकर दीवान साहब की आंखों में आंसू बहने लगे थे। अपने घर पहुंचने के बाद दीवान साहब उसको किराया देते है तांगेवाला किराया लेने से मना कर देता है और कहता है कभी सिलावट गांव में आओ तो मेरे बारे में पूछना जिससे मेरी इज्जत बढ़ जाएगी।

विभाजन के बाद एक दिन अचानक तांगेवाला मुहम्मद साहब से कहता है कि अकेले पैदल कहा जा रहे हो शहर में दंगे हो गए कत्लेआम हो रहा है जल्दी तांगे में बैठो मोहम्मद ने दीवान साहब को सुरक्षित घर छोड़ा।
दीवान साहब की सुरक्षा करना अपनी जिम्मेदारी समझता है, हमेशा सुबह शाम को आता था और दीवान साहब के हालचाल पूछकर जाता था। और कहीं आना-जाना होता था एक दिन मोहम्मद के तांगे में बैठते है मोहम्मद ने पूछा- **"दीवान साहब तुम भी जाओगे? मैने पूछा तुम्हारी क्या मर्जी है उसने एकदम से कहा जाना ही पड़ेगा पराए लोग आए है उनमें प्यार मोहब्बत नहीं है मैने बोला मालिक की इच्छा है"**

मोहन कहने लगा था कि जाओ तो मुझे जरूर याद करना मैं आपको सरहद तक छोड़ आऊंगा। वह समय भी आ गया जब दीवान साहब भारत के लिए रवाना हुए तो मोहम्मद क्यामाडी बंदरगाह तक छोड़ने आया था। मोहम्मद मुसलमान और हिंदुओं के बीच प्रेमपूर्वक संबंधों का प्रतीक है। लेखक यहां पर यह कहना चाह रहे है कि सिंधी मुस्लमानों ने कभी भी हिंदुओं को जाने के लिए विवश नहीं किया था उनके साथ मिलकर सालों से रह रहे थे।

**एक और विभाजन (झमु छुगानी) :** एक और विभाजन कहानी दादा जयमत राय के बेटे हरदास की कहानी है, जो पाकिस्तान से भारत आने वाली ट्रेन में बीच में गुम हो जाता है। भारत विभाजन के बाद हरदास का परिवार भारत के लिए ट्रेन में छूट जाता है, और पाकिस्तान में ही रह जाता है वहां पर उसका धर्म परिवर्तन कर दिया जाता है। यह कहानी केवल हरदास की नहीं है उस समय ऐसे कही छूटे हुए हरदास की है जिनका धर्म परिवर्तन हुआ था। एक तरफ माता-पिता अपने बेटे की तलाश कर रहे थे दूसरी और बेटा अपने माता-पिता की तलाश कर रहा था। आखिरकार परिवार का मिलन होता है वो भी हमीद के रुप में और अपने परिवार को छोड़ नहीं सकता है जयंतराम भी अपने बेटे को उसका परिवार छोड़ने को नहीं कहते है क्योंकि वो अब दूसरा विभाजन नहीं चाहते थे।

जयमंत राय जिनकी उम्र 70 वर्ष से अधिक है अपनी पत्नी व इकलौते पुत्र और अपनी दो पुत्रियों, एक भाई के साथ भारत के लिए हैदराबाद (पाकिस्तान) से ट्रेन में चढ़ते है। बीच रास्ते में अंधेरे में ट्रेन रुकती है, और ट्रेन में लूटमार होती है। इसी बीच हरदास कही खो जाता है। विभाजन के दंगों में अपने पुत्र को खोने के बाद भी उसकी तलाश जारी रखी कई बार भारत आने के बाद वो पाकिस्तान गए, अखबारों में भी फोटो छपवाई कई कोशिशों के बाद भी कहीं पर

भी हरदास पता नहीं लगा। फिर उन्होंने भगवान पर छोड़ दिया। हरदास का माता-पिता से बिछड़ जाने के बाद एक मुसलमान उसको पालता है अपने बेटे की तरह रखते है नया नाम देते है हमीद। अब उसको नए माता-पिता से खूब प्यार मिलता है।

अब हिंदू से मुस्लिम बन चुका है फिर भी उसके मन में अपने पुराने परिवार की याद उसके मन में है हमीद अब बड़ा हो चुका है एक सफल इंजीनियर बन चुका है, हिंदुस्तान से आने वाले परिवार को पूछता रहता था ऐसा कोई परिवार है जिनका बेटा विभाजन के समय ट्रेन में छूट गया है। आखिरकार हमीद पता लगा लेता है कि मेरा परिवार भारत के भोपाल शहर में रहता है, फिर वो मिलने की तैयारी करने लगता है। और अपने परिवार से मिलता है, पूरा परिवार खुश होता है। परंतु जयमत राय के मन में एक विचार आता है अगर बेटे को यही रख दिया तो इसके परिवार का क्या होगा इसकी पत्नी है औलाद है उनका क्या?

विभाजन के समय सभी ने कुछ न कुछ खोया है, हरदास भी उन्हीं में से था, इसके लिए जयमत राय स्वार्थी नहीं हो सकते है। मैं अपनी खुशी के लिए दूसरों के दुःख का कारण नहीं बनना चाहता हूँ वो अपना परिवार से क्यों अलग हो और अब दूसरा विभाजन नहीं चाहते है।

**दस्तावेज (नारायण भारती) :** नारायण भारती की कहानी दस्तावेज सेठ मंघनमल की कहानी है। सेठ सिंध में साहूकार थे, सिंध में उनके पास बहुत संपत्ति थी। सेठ सिंध से साथ लाए गए दस्तावेज को देख रहे थे, क्योंकि इन कागजात के माध्यम से सिंध में छोड़ी गई जायदाद का दावा कर सके। और भारत में उसके बदले जमींन जायदाद प्राप्त कर सकें। संपत्ति प्राप्त करने का एक मात्र यही रास्ता था, अपनी संपत्ति का ब्यौरा ऑफिस में जमा करवाए एक-एक दस्तावेज को देखते हुए उनकी आँखों के सामने सिंध का नजारा फिल्म की तरह सामने घूमने लगा था। उसकी नज़र अचानक एक दस्तावेज पर रुक गई थी, वो दस्तावेज मिरल गांव के रसूल बख्श का था। रसूल ने 200 रुपए में अपना मकान सेठ के पास गिरवी रखा था, रसूल तब ही हस्ताक्षर के लिए राजी हुआ था कि उसको कभी घर से कभी घर से निकाला नहीं जाएगा वो उसी घर में रहेगा। अब सेठ के मन में यह द्वंद्व चल रहा है कि रसूल के घर के दस्तावेज जमा करवाने चाहिए या फिर नहीं। इसी उधेड़बुन में रसूल के द्वारा किया गया व्यवहार याद आता है विभाजन के समय सभी पड़ोसियों का व्यवहार बदल गया था लेकिन रसूल के व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। उसने सेठ को लाड़काने शहर तक छोड़ आया था। रसूल ने अपने कर्ज का फर्ज अदा कर दिया था, जब सेठ ने उसको किराया देने की कोशिश की तो वह पैसे लेने से इनकार कर देता है। और कहता है- **"नहीं सेठ जी! सारी उम्र आपसे कुछ न कुछ लिया ही है। यह तो हमारा फर्ज है। धर्म भी तो यही शिक्षा देता है कि आस – पड़ोस वालों के साथ अपनो जैसा व्यवहार करो"।**

जबकि सेठ शरणार्थी शिविर में है, बेघर है, सर पर छत नहीं है। वह इंसानियत के नाते, केवल निजी फायदे के लिए रसूल को बेघर नहीं कर सकता है रसूल का वह अहसान बार बार याद कर रहा है। सेठ का जमीर उसको यह स्वीकृति नहीं देता है कि रसूल के घर के कागज ऑफिस में जमा करवाए। सेठ को सिंध और रसूल याद आते ही उनके आंखों में आंसू आने लगे थे। शरणार्थी के मन में यह हमेशा रहता है कि एक न एक दिन हम अपनी मातृभूमि पर वापिस जाएंगे।

**निष्कर्ष :** भारत–पाकिस्तान का विभाजन इतना दर्दनाक था करोड़ों लोगों की जिंदगी बदल कर रख दी। सिंधी साहित्य में विभाजन के दर्द लिखा गया है विभाजन पर लिखने वाले अधिकतर लेखक इस विभाजन के साक्षी थे उनकी आँखों के सामने विभाजन हुआ था। तभी उन्होंने महसूस किया है और आम जनता के दर्द को अपनी कलम से पन्नों पर उतारा है। वर्तमान समय में कोई भी विभाजन के बारे में जिक्र करना नहीं चाहता है क्योंकि पुराने घाव कोई नहीं कुरेदना चाह रहे है। घाव चाहे धीरे धीरे भर रहे हो लेकिन उनकी टिस हमेशा देश व देशवासियों के मन में रहेगी।

विभाजन की कहानियों को हम काल्पनिक नहीं मान सकते है, जीवन की सच्ची घटनाएं मान सकते है। सिंधी

कहानियों में पीड़ा विस्थापन अपने मूल स्थान से मजबूरन विस्थापन था सिंधी समुदाय एक मात्र ऐसा समुदाय था जिसने अपनी संपूर्ण मातृभूमि को छोड़ने पड़ा था ।जिसके कारण वो भारत में दाना दाना हो गए है।

सिंधी रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में विस्थापन पहचान संकट बेरोजगारी शरणार्थी जीवन आपसी भाई चारा मानवीय संवेदना सहअस्तित्व आदि को पन्नों पर उकेरा है।

विभाजन की कहानियों सजीव दस्तावेज है।

**सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :**


1. पंजवाणी, राम. तांगेवाला. (अनुवाद) सुरेश बबलानी. विभाजन की कहानियाँ, अजमेरः हरीश मोतियाणी प्रकाशक, 1999-2000.
2. भारती, नारायण. दस्तावेज. (अनुवाद) सुरेश बबलानी. विभाजन की कहानियाँ, अजमेरः हरीश मोतियाणी प्रकाशक, 1999-2000.
3. छुगाणी, झम्मू, एक और विभाजन (अनुवाद). सुरेश बबलानी. विभाजन की कहानियाँ, अजमेरः हरीश मोतियाणी प्रकाशक, 1999-2000.
4. प्रकाश, कला. खानवाहण. गोविन्द माल्ही (अनुवाद) मोतीलाल जोतवाणी. चुनी हुई सिंधी कहानियाँ. दिल्लीः साहित्य अकादेमी, 1967.
5. जोतवाणी, मोतीलाल. धरती से नाता. नरेंद्र मोहन. विभाजन भारतीय भाषाओं की कहानियाँ (खंड एक). दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, 2009.
6. चावला, ठाकुर. 6 जनवरी, 1948. (अनुवाद). सुरेश बबलानी. विभाजन की कहानियाँ, अजमेरः हरीश मोतियाणी प्रकाशक, 1999-2000.
7. उत्तमचंदाणी, सुन्दरी. भूरी. (अनुवाद) मोतीलाल जोतवाणी. सिंधी की श्रेष्ठ कहानियाँ. दिल्लीः राष्ट्रिय साहित्य मंदिर, 1958.
8. बुटालिया, उर्वशी. (अनुवाद) राजीव कुमार श्रीवास्तव. खामोशी के उस पारः भारत विभाजन के त्रासद स्वर. नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 2002.
9. माल्ही, गोविन्द तथा रीझसिंघाणी. (अनुवाद) मोतीलाल जोतवाणी. चुनी हुई सिंधी कहानियाँ, नई दिल्लीः साहित्य अकादेमी, 1967.
10. जोतवाणी, मोतीलाल. सिंधी भाषा, लिपि और साहित्य. दिल्लीः साहित्य अकादेमी, 1966.
11. जोतवाणी, मोतीलाल. सिंधी भाषा, लिपि और साहित्य. दिल्लीः राष्ट्रभाषा प्रकाशन, 1978.
12. जोतवाणी, मोतीलाल. सिंधी की श्रेष्ठ कहानियाँ, वाराणसीः राष्ट्रभाषा मुद्रणालय, 1958.
13. चांदवाणी, राधाकिशन. सिंधी की श्रेष्ट कहानियाँ दिल्लीः स्टार ट्रेक पब्लिशर्स, 2000.
14. अजवाणी, लालसिंह हजारीसिंह. (अनुवाद) आनंद खेमाणी. सिंधी साहित्य का इतिहास. नई दिल्लीः साहित्य अकादमी प्रकाशन, 1978.
15. मोहन, नरेंद्र. विभाजनः भारतीय भाषाओं की कहानियाँ (खंड एक). नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, 2009.
16. प्रकाश, प्रेम. समकालीन सिंधी कहानी संग्रह (1980-2005). दिल्लीः साहित्य अकादेमी, 2011.
17. बबलानी, सुरेश. विभाजन की कहानियाँ, अजमेर: हरीश मोतियाणी प्रकाशक, 1999-2000.
18. माल्ही, गोविन्द तथा रीझसिंघाणी. (अनुवाद) मोतीलाल जोतवाणी. चुनी हुई सिंधी कहानियाँ, नई दिल्लीः साहित्य अकादेमी, 1967.


•

ज्ञानविविधा
कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 86-90
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**Dr. Ami Pandya**
Associate Professor, Department of Dance, Faculty of Performing Arts, The Maharaja Sayajirao University of Baroda

Corresponding Author :

**Dr. Ami Pandya**
Associate Professor, Department of Dance, Faculty of Performing Arts, The Maharaja Sayajirao University of Baroda

# INDIAN DANCE LITERATURE : A GATEWAY TO ORAL HERITAGE

**Abstract :** Literary and documentary sources have played a vital role in recording, preserving, and transmitting the knowledge, traditions, and practices of Indian dance across centuries. References to dance are found in diverse sources, including classical treatises, epics, Puranas, devotional literature, poetic compositions, travel accounts, temple records, inscriptions, government documents, and cultural journals. Collectively, these sources provide valuable insights into dance techniques, repertoire, aesthetic concepts, performance practices, and the social, religious, cultural, and institutional contexts in which dance has developed.

The *Natyashastra* of Bharata Muni provides a foundational framework for Indian performing arts, while texts such as the *Sangita Ratnakara* contributed to the systematic development of dance knowledge. Literary works including Jayadeva's *Gita Govinda*, compositions of the Musical Trinity, Bhakti poetry, and regional traditions have enriched dance repertoire through narrative, devotional themes, emotional expression, and *shringara*, particularly in *nritya* and *abhinaya*. Travelogues, inscriptions, temple records, and historical documents further illuminate dancers, performance traditions, patronage, and institutional structures.

Thus, literature functions not merely as a source of artistic content but also as a repository of historical and cultural knowledge. A critical study of these sources is essential for understanding, preserving, and transmitting India's diverse dance heritage.

**Keywords :** Indian Dance Documentation; Dance Literature; Literary Sources; Temple Dance Traditions; Devadasi Tradition; Dance History and Preservation.

**Research paper :** Literature has played a significant role in documenting, preserving, and transmitting the knowledge and practices of Indian dance traditions. References to

dance occur at several levels: technical descriptions of dance movements, accounts of social and cultural practices, instructional texts, stories of dancers, poetic compositions, songs, travelogues, inscriptions, and other historical records. Technical treatises and manuals provide information about technique, repertoire, music, gesture, expression, and presentation, while literary narratives and biographies offer insights into the lives and social contexts of dancers. Travel accounts describing performances and inscriptions found on temples, pillars, walls, and stone slabs further contribute to our understanding of the historical development of dance.

Among the earliest sources, Bharata Muni's *Natyashastra*, dating approximately to the early centuries of the Common Era, remains one of the most comprehensive texts on Indian performing arts. References to dance are also found in Panini's *Nattasutra* and *Ashtadhyayi*, although the *Nattasutra* itself is no longer extant. Early inscriptions provide additional evidence of the antiquity of dance and music. The Hathigumpha inscription of Kharavela refers to his proficiency in *Gandharvaveda*, while Samudragupta's Allahabad inscription praises his accomplishments in *gandharva* and *lalita*.

The literary history of Indian arts may broadly be viewed through two phases. The earlier period, dominated by Sanskrit literature, provided continuity and a common intellectual foundation for dance, music, and drama. The later period witnessed the growth of Prakrit, Apabhramsha, and regional languages, encouraging the emergence of diverse regional styles. Texts such as *Sangita Ratnakara*, while following the principles of the *Natyashastra*, incorporated *desi* elements and acknowledged regional developments.

Indian epics, Puranas, legends, and devotional literature have remained important sources for *nritya*, *abhinaya*, and dance-dramas. Narratives such as Draupadi's *Vastra Harana* and Sita's *Swayamvara* continue to be interpreted across different dance traditions. The devotional hymns of the Saivite Nayanmars and Vaishnavite Alvars, particularly the *Tevaram*, also provide valuable literary material. The works of poets and composers such as Jayadeva, Surdas, Mirabai, Tulsidas, Kabir, Tukaram, Purandaradasa, Kshetrayya, Shankardeva, and the Carnatic Musical Trinity have significantly enriched dance repertoire.

Bharatanatyam particularly reflects this close relationship between literature and performance. Compositions of Tyagaraja, Muthuswami Dikshitar, Shyama Shastri, the Tanjore Quartet, and Maharaja Swati Tirunal continue to provide material for training and choreography. Jayadeva's *Gita Govinda*, with its profound exploration of *sringara rasa* through Radha and Krishna, remains an important source for abhinaya and dance interpretation. Similarly, Bhakti poetry offers philosophical depth, dramatic situations, and vivid imagery.

Until the early twentieth century, dance compositions were largely centred on *sringara bhava*, devotional themes, and royal patronage. With the development of modern concert practices, the thematic range expanded considerably. Post-independence poetry addressing ecology, women's concerns, social and political issues, and contemporary life, along with forms such as ghazals and free verse, has increasingly entered choreography. Thus, literature continues to function not merely as a record of dance but as a dynamic source for its preservation, interpretation, innovation, and creative evolution.

Scholars and explorers who travelled to ancient India and even as recent as the 19th century have left behind their travelogues that describe the dancers and the dances that they have seen, the occasions on which dances have been performed, the social customs associated with dance activity, the difference in professional and folk dances, and sometimes, the economic and political necessity for Courts to support dancers. Since dancing was chiefly associated with temples, texts or manuals describing temple rituals offer important information on why and when

the dance was performed in the temples, its significance as a part of the temple ritual, how temples supposed dancers, and so on. Government reports and gazettes are also important documentary evidence of the legal status of the dancers and the regulations that apply to them.

In 867 AD an Arab traveller, Abu Zeid A1 Hasan mentioned dancing girls attached to temples. Another traveller, Al-Beruni also probably from an Arab country has referred to dancers performing in temples in his works. His interpretation of dancers in temples in north India, where he toured, is that "they were revenue-earners for the kings as they were a major attraction in the cities"[1]. Many European travellers visited India from the 17th century onwards, writing travelogues describing what they saw and experienced. Amongst the first ones was Tavernier, who extensively toured south India, especially the Deccan region. He interpreted dancing girls as an indirect source of revenue for the rulers. Liquor was taxed in these kingdoms and dancing girls 'promoted' heavy consumption. He also observed that "there were 20,000 dancers in this region but he describes them as courtesans with no connection to temples"[2].

Travel accounts provide valuable historical evidence of Indian dance traditions, particularly temple dancing and the Devadasi system. Fray Sebastien Manrique, in *Travels of Fray S. Manrique*, records a Durga procession accompanied by a large troupe of dancing girls.
Abbé Jean Antoine Dubois, who travelled in India between 1792 and 1823, describes singing and dancing at temples at prescribed times in *Hindu Manners, Customs and Ceremonies*. He notes that important temples often had 10–12 Devadasis attached to them. He also records a Tirupati festival in which women were selected to serve as temple dancers and describes dancing during the Pongal festival of Tamil Nadu.

Earlier, Marco Polo, during his visit to Malabar, observed the dances of Devadasis and noted their association with beliefs concerning divine union, prosperity, and good harvests. Dr. Francis Hamilton-Buchanan, in *A Journey from Madras through Mysore, Kanara, and Malabar* (1807), records that two major temples at Kanchipuram had nearly a hundred dancing girls attached to them.

Amy Wilson-Carmichael, in *Things as They Are* (1904), describes the careful selection of Devadasis, emphasizing physical attractiveness as an important criterion. James Tod's *Annals and Antiquities of Rajasthan* discuss Krishna worship and its connection with dance, particularly the mystical Rasa Mandal, which he compares with Egyptian ritual dances.
Robert Sewell, in *A Forgotten Empire (Vijayanagar)* (1900), describes women dancing before a Ganesha image in a temple and notes that their daughters were also attached to the temple. Collectively, these accounts document the religious, social, and cultural contexts of dance in different regions of India.

He describes the expensive lifestyle of these women. However, most importantly, he describes what appears to be a Dancing School in the king's palace "There is a hall where the king sends his women to be taught to dance. There are images seated on the elephant, as well as those on the panels, which are all dancing women having little drums...The designs of these panels show the positions at the end of dances in such a way that on each panel there is a dancer in the proper position at the end of the dance; this is to teach the women that if they forget the position in which they have to remain when the dance is done, they may look at one of the panels where is the end of that dance. By that, they keep in mind what they have to do. At the end of this house in the left hand is a painted recess where the women cling on with their hands, in order better to stretch and loosen their bodies and legs; there they teach them to make the whole body supple, to make their dancing more graceful...in the middle of the wall is a golden image of a woman... with arms in the position which she occupies at the end of the dance"[3].

The author suggests that the *Natyashastra* may once have been extensively represented through sculpture and imagery, though much of this heritage has not survived. At the Vitthal Swami Temple in Hampi, the Kalyana Mandapa features a richly carved frieze depicting musicians, dancers, and drummers performing before a king, probably Krishna Deva Raya. This suggests the high standards of performance in the Vijayanagara kingdom. Besides foreign travellers' accounts, Government Reports and Gazettes provide valuable documentation of dance traditions. Early twentieth-century reports also record the presence of temple dancers in Assam, Madras, and the Jagannath Temple in Odisha.

But not in Bengal, Sind, United Provinces, or Gujarat *(Legislative Debates, 1922).* By 1932, when it was becoming quite clear that dancing in temples would no longer be legally allowed, the *Journal of the Madras Music Academy*, 1932, states, "We all know that today, even in Pandaripur, daily worship is being done in the temple accompanied by *natyam* (dance) similarly in Srirangan, during the ten days preceding the *Mukkotai Ekadasi* day, worship is general y accompanied by *natyam*"[4]. The reality of the dancer-in-the-temple continued in fact over many centuries almost all over India until it was banned by an act of law in the mid-20th century. Dancing in temples, and temple precincts has reappeared in recent years when professional classical dancers participated in dance festivals and other prestigious events held by temple trusts / official tourism and culture departments, but not as dedicated *devadasis.*

Temple inscriptions provide undisputed social records of prevalent practices. One of the most important inscriptions is the 12th-century inscription at the Brihadesvara Temple in Tanjore records the event when the ruler, Rajendra Chola ordered four hundred dancers to be brought from nearby temples to be attached to the Tanjore Temple. The inscription names all the temples both Saivite and Vaishnavite, that had dancers attached to them[5]. An inscription dating to the reign of Kulottunga III (1205-18) establishes that there was a time-table for the presentation of dance and the dancers took turns: "the assignment of a fixed period in the day for every dancing girl to perform her services by turn in the temple"[6]. The word *Nritta* is found in the inscriptions as early as the 9th century. The Manne Copper Plates (802 AD) mentions the word *nritta* while referring to "a subordinate of Rastrakuta Govinda III called Srivijaya who made a grant to those engaged in the service of dancing and singing in the *Jaina Basadi* at Manyapura, *-vilasini-viracita-nritta-gita-vadyabali*"[7].

Manuals on Temple Rituals are a rich source of documentation. P V Jagadisha Ayyar describes dance as a ritual in temples. One such description in a temple in Rameswaram records a ritual with accuracy: "At 4.30 or 5 am (the *puja* begins) the dancing girl (*muraikari*) officiated for the day, with *rudraksha* beads in place of jewels, dressed up as a Brahmani and her hair uncombed ...open up all the doors to the *mahamandapa.* Later the god is taken in a procession preceded by musicians and an attendant dancing girl... the dancing girl repeats a *tevara ujal* or verse in honor of Siva."[8]. A number of these manuals also state the reasons for which dance was performed in the temple. Such manuals form part of the literature or written evidence available as documentation. None of the manuals associate temple dancing with prostitution. While most of the texts refer to dancing girls, in temples as *ganikas,* they were also known as *devaganikcs,* and there are instances where d*evaganikas* and *devadasis* are the same.

With Indian classical dance gaining much respect and importance in the early 20th century, it also encouraged a few serious dance scholars to embark on critical analysis and writing on the subject mainly in English There is some research on the history of the dance form, the Life of the devadasis, and textual analysis. People have tried to draw parallels between the development of different aspects of Indian art such as temple art, paintings, and performance arts

as a method of understanding the hoary traditions of our cultural heritage. But all these are sporadic, yet dance research is a much-unexplored area. Esteemed scholars and historians like Dr. Kapila Vatsyayan, Shri Mohan Khokar, Dr. Mandakranta Bose, Dr Sunil Kothari, and Dr Kanak Rele have provided rich works of in-depth serious studies. Their published books, as well as articles in significant journals, have been internationally acclaimed. Foreign scholars such as John Erdman, Anne Marie Gaston, Phillip Zarelli, and others have contributed significantly to the area of dance research. Specific organizations given to the study and dissemination of the performance arts produce magazines and journals devoted to these arts. These include Shruti (Shruti Foundation, Chennai), NCPA Journal (National Centre for the Performing Arts, Mumbai), SNA Journal (Sangeet Natak Akademi), certain publications of Marg, the oldest cultural publication of India, Attendance (Dance Annual of India) and so on. With the proliferation of computers and the popularity of the Internet, there are several sites devoted to dance such as www.narthaki.com,www.kutcheri.com, etc. In recent years younger generations of dancers like Leela Samson, Lakshmi Viswanathan, and Jayalakshmi Eshwar have also written on dance in general. Yet there is very little in-depth writing on the development of dance after it came on the secular stage. The major gap here is the inability to get any concrete information on the development of classical dance styles. Compared with the long traditions and amount of dance and teaching of the performance genre, we have almost no written word. But still, the Literature has provided concrete support in the area of dance documentation.

**References :**

1. Sachau, Edward C, 1879 The Chronology of Ancient Nations, London, William Allen and Co. Vol. I: ix; Vol.EI: 157
2. Travemier, translation by Ball 1925: I, 127-8
3. Swell Robert, “A Forgotten Empire (Vijayanagar)” 190C, page 288.
4. P G Sundaresa, JMMA 1932: 122.
5. South Indian Inscriptions 1985:11.11: 259-60.
6. State Inscriptions of Padukkottai 1929:20, no. 169.
7. Hema Govindarajan “Dance Terminologies” pg. 27
8. P.V. Jagadish Ayyar “South Indian Shrines” Pub, 1920, 922, Page 193.

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-91-95

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 91-95
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**हिमानी**

शोधार्थी, सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा, उत्तराखंड

**शोध निर्देशक :**

**डॉ. माया गोला वर्मा**

असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा

Corresponding Author :

**हिमानी**

शोधार्थी, सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा, उत्तराखंड

## संजीव के उपन्यासों में अभिव्यक्त दलित जीवन

**प्रस्तावना :** संजीव के उपन्यासों में दलित सामाजिक प्रश्नों का चित्रण हिंदी साहित्य में समकालीन यथार्थ की गहन और आलोचनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में उभरता है। संजीव उन रचनाकारों में हैं जिन्होंने दलित जीवन को केवल करुणा या सहानुभूति के स्तर पर नहीं, बल्कि संरचनात्मक असमानताओं और सत्ता-संबंधों के संदर्भ में समझने और प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। संजीव के उपन्यासों में दलित समाज की सबसे बड़ी समस्या सामाजिक बहिष्कार और मुख्यधारा से अलगाव के रूप में सामने आती है। यह अलगाव केवल भौतिक दूरी तक सीमित नहीं है, बल्कि यह मानसिक और सांस्कृतिक दूरी में भी परिवर्तित हो जाता है। उनके पात्र अक्सर ऐसे परिवेश में जीते हैं जहाँ उन्हें मनुष्य होने के बुनियादी अधिकारों से भी वंचित रखा जाता है। इस संदर्भ में शिक्षा, स्वास्थ्य, और सम्मानजनक जीवन की उपलब्धता एक स्थायी संघर्ष का विषय बन जाती है। संजीव इस संघर्ष को केवल व्यक्तिगत त्रासदी के रूप में नहीं, बल्कि एक सामूहिक सामाजिक विफलता के रूप में चित्रित करते हैं।

संजीव की रचनाओं का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि वे दलित प्रश्न को केवल पीड़ा के आख्यान के रूप में नहीं छोड़ते, बल्कि उसमें परिवर्तन और मुक्ति की संभावनाओं को भी तलाशते हैं। उनके पात्र अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाते हैं, संगठित होते हैं और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते हैं। इस प्रकार संजीव का दृष्टिकोण न केवल यथार्थवादी है, बल्कि परिवर्तनकारी भी है।

अहेर उपन्यास के संदर्भ में चर्चा करें तो इसमें दलित जीवन की त्रासदी अत्यंत मार्मिक रूप में उभरती है। राजा मुसहर और उसके परिवार के माध्यम से यह दिखाया गया है कि जातिगत हीनता का बोझ किस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी ढोया जाता है। सामाजिक बहिष्कार इस हद तक है कि उन्हें गाँव के किनारे बसने के लिए विवश किया जाता है और सामूहिक जीवन में भी बराबरी का स्थान नहीं मिलता। भोजन जैसी

बुनियादी आवश्यकता में भी भेदभाव दिखाई देता है—उन्हें अलग बैठाकर खिलाया जाता है, और कई बार अपमानजनक परिस्थितियों में भोजन करना पड़ता है। आर्थिक स्तर पर भी दलित समाज गहरे शोषण का शिकार है। उनकी श्रमशक्ति का उपयोग तो किया जाता है, परंतु उसके बदले उन्हें न तो उचित पारिश्रमिक मिलता है और न ही सम्मान। हरिया का चरित्र इस शोषण की पराकाष्ठा को दर्शाता है, जहाँ वह पूरी निष्ठा से अपने स्वामी की सेवा करता है, किंतु अंततः उसी के द्वारा उसकी हत्या कर दी जाती है। इस प्रकार संजीव यह स्पष्ट करते हैं कि दलित समाज की समस्याएँ केवल आर्थिक अभाव तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे सामाजिक अपमान, असमानता, हिंसा और मानवीय गरिमा के हनन से गहराई से जुड़ी हुई हैं। इस संदर्भ में संतोष रघुनाथराव रायबोले लिखते हैं कि "सर्वहारा समाज की कब्र पर ही यह व्यवस्था फलती-फूलती है। इस व्यवस्था में भ्रष्ट पुलिस, अफसर, राजनीति, सूदखोर, दलाल, गुंडे, प्रबंधन, पूंजीपति, न्याय व्यवस्था आदि को सम्मिलित कर सकते हैं। उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के नाम पर सरकार की संपत्ति की नीलामी इसी वर्ग की साज़िश है।" इस प्रकार देखते हैं कि सर्वहारा समाज को बेरोजगारी ने त्रस्त किया है। सर्वहारा समाज के पास जीवन जीने के लिए कोई साधन नहीं है और न ही पुरखों की संपत्ति केवल श्रम के बल पर यह समाज अपना जीवन बसर करता है। मशीनों के युग में इनकी जरूरत समाप्त हो गई है।

इसी तरह का अलगाव सर्कस उपन्यास में भी दृष्टिगत होता है । सर्कस उपन्यास में कई पात्र हैं जो कलाकार होते हुए भी दलितों के समान ही जीवन व्यतीत करते हैं। बुलबुल दा बचपन में ही घर से भाग जाते हैं। कई जगहों पर नौकरी करते और छोड़ते हुए अन्ततः उन्हें सर्कस में सहारा मिलता है। दुर्घटना में अंग-भंग होने पर भी बुलबुल मौत के कुएँ का खेल खेलते हैं। बुलबुल की तरह सरजू बौने की नियति भी उसे दलित बनाकर छोड़ती है। ज्ञान का भंडार सरजू दुष्ट नियोगी के हाथों का खिलौना बन जाता है।

संजीव ने सर्कस को एक प्रतीक के रूप में इस्तेमाल करते हुए सर्वहारा वर्ग की जटिल मानसिकता और उसकी विडंबनाओं को उभारने का प्रयास किया है। वे उन प्रश्नों को सामने लाते हैं जो केवल स्थानीय नहीं, बल्कि राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी प्रासंगिक हैं। विशेष रूप से यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि एक देश का शोषित और गरीब व्यक्ति दूसरे देश के गरीबों का उपहास क्यों करता है, जबकि दोनों ही समान पीड़ा और अभाव से गुजर रहे होते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि शोषण केवल आर्थिक नहीं, बल्कि मानसिक और वैचारिक स्तर पर भी कार्य करता है। इस संदर्भ में सर्वहारा वर्ग की एक और प्रवृत्ति सामने आती है—अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की अनदेखी करके क्षणिक मनोरंजन की ओर आकर्षित होना। भूखे और अभावग्रस्त लोग भी अपनी जरूरी वस्तुएँ बेचकर सर्कस देखने चले जाते हैं, जो उनकी मानसिक स्थिति और विवशता दोनों को उजागर करता है। यह स्थिति इतनी मार्मिक है कि इसकी तुलना उस घायल प्राणी से की जा सकती है, जो जीवन के अंतिम क्षणों में भी अपने दर्द से निकलते क्षणिक सुख या प्रवृत्ति को छोड़ नहीं पाता। इस प्रकार संजीव यह दिखाते हैं कि सर्वहारा वर्ग का शोषण केवल बाहरी परिस्थितियों का परिणाम नहीं है, बल्कि उसके भीतर विकसित हुई मानसिकता और सामाजिक संरचना भी इसे बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

संजीव का आकाश चंपा उपन्यास भी इसी जातिगत विडंबना और उसका त्रासद अवसान की गाथा है। 'आकाश चम्पा' में मास्टर मोतीलाल की पत्नी गौरा दलितों के प्रति घृणा का भाव रखती है। वह कहती है— "महाराजिन और एक-दो पड़ोसियों को छोड़कर यहाँ सब 'नीच जाति' के हैं। अब सर्वोजात एक ही कुएँ पर पानी भरें तो पानी पवित्र कैसे रहे।" विधायक के चुनाव में दबंग अजय अपने लठैतों के सहारे हरिजनों का सारा वोट ले लेता है और वह मास्टर साहब को धमकी देता है। दलित समाज के नये इतिहास शिक्षक कृष्ण कुमार का भी वर्ग में पहली बार प्रवेश करने पर अपमान किया जाता है। दबंग बच्चे बोर्ड के एक कोने में पालकी ढोते दो कहारों और दूसरे कोने में

बहँगी ढोते दो कहारों का चित्र अंकित करते हैं। दलितों के प्रति घृणा इस उपन्यास में कई स्थलों पर द्रष्टव्य है। इसी घृणा से सामाजिक अलगाव का जन्म होता है जो प्रक्रिया के रूप में शताब्दियों से भारतीय समाज में अपने जड़े जमा चुका है

'रानी की सराय' में जाति की जकड़बंदी का मार्मिक चित्रण है। गाँव में नये आए मास्टर हुसैनी को शिवनंदन मिश्र अँजुरी से पानी पीने को कहते हैं। वह इसलिए लोटा नहीं देते कि मुसलमान होने के कारण लोटा छुआ जाएगा। किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति का इससे अधिक अपमान और क्या हो सकता है! गजाधर का पिता शिवनंदन मिश्र कहता है—"छिमा करो हुसैनी साहब, कुल्हड़ या काँच का गिलास नहीं है हमारे पास, सो अँजुरी से पी लीजिए।....लोटा छू जाएगा। हिन्दू और जुस पर भी ब्राह्मण हूँ।" अँजुरी से पानी पिलाने की बाध्यता यह स्पष्ट करती है कि जाति और धर्म के आधार पर मनुष्य की गरिमा को किस हद तक नकारा जाता है। यहाँ यह मानसिकता केवल दलितों तक सीमित नहीं रहती, बल्कि अन्य हाशिये के समुदायों (जैसे मुसलमान) को भी अपने घेरे में लेती है। इससे स्पष्ट होता है कि सामाजिक पदानुक्रम की यह संरचना व्यापक और बहुस्तरीय है। विद्यालय में सूरज के साथ हुआ दुर्व्यवहार इस बात को रेखांकित करता है कि शिक्षा संस्थान भी जातिगत पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हैं। शिक्षा, जो समानता और जागरूकता का माध्यम होनी चाहिए, वही दलित बच्चों के लिए अपमान और भय का स्थल बन जाती है। सूरज का मार खाकर चुप रह जाना केवल उसकी व्यक्तिगत विवशता नहीं, बल्कि पीढ़ियों से चले आ रहे दमन का परिणाम है, जिसने उसके भीतर प्रतिरोध की क्षमता को कुंठित कर दिया है।

'फॉस' में दलित शिबू और उसके परिवार को भी अपमान सहना पड़ता है। जातिगत अपमान के कारण ही शिबू की पत्नी शकुन और उसकी दोनों बेटियाँ बौद्ध धर्म अपना लेती हैं। शूद्रों और निम्न जातियों के प्रति पंडित नारायण भट्ट की कलुषित भावना का चित्रण 'प्रत्यंचा' उपन्यास में किया गया है। नारायण भट्ट की दुर्भावना का शिकार स्वयं शाहूजी महाराज होते हैं। दलित गंगाराम काँबले के प्रति छत्रपति महाराज की सदाशयता रहती है। सामाजिक समानता के पक्षधर शाहूजी न सिर्फ स्वयं गंगाराम काँबले द्वारा बनाई गई चाय पीते हैं बल्कि यह आदेश भी देते हैं कि दरबार के सारे कर्मचारी और अफसर गंगाराम काँबले की ही दुकान से चाय पियेंगे। शाहूजी कहते हैं—"सदियों से नहीं, युगों से कपट और अन्यायपूर्ण तरीके से पीछे ठेले जाते हुए दलितों, दोहितों, वंचितों की मुक्ति के लिए मैं सब कुछ—अपनी गद्दी भी, अपनी जान भी कुर्बान कर सकता हूँ सब कुछ, बशर्ते राहें खुले, वरना ऐसे तो कई युग गये, कई युग और चले जायेंगे।" शाहूजी मराठा इतिहास में ऐसे पहले राजा थे जिन्होंने जातिगत दंश को स्वयं भोगा था। पहली बार खुलकर उन्होंने सामाजिक समता और न्याय की बात की। पहली बार दलितों और पिछड़े वर्गों के लिए अपने राज्य में आरक्षण की व्यवस्था लागू की।

इस उपन्यास में जातीय भेदभाव का निम्नतम उदाहरण क्या हो सकता है, उसका भी अंकन संजीव ने किया है। मन्दिर का पुजारी ब्राह्मण है और निम्न जातियों की स्त्रियों का शारीरिक शोषण करना चाहता है। पहले तो वह शकुन्तला को ही हथियाना चाहता था, जब ऐसा सम्भव नहीं हुआ तो कलावती और अशोक के चरित्र के सन्दर्भ में भ्रान्ति फैलाकर उनका जीवन बर्बाद कर देता है। यहाँ पर संजीव ने पुजारी के चरित्र का चित्रण कर गाँव के समाज का वास्तविकता हमारे सामने प्रस्तुत कर रहे हैं।

भारतीय समाज में धर्म के साथ-साथ जाति और गोत्र का महत्व हजारों सालों से रहा है। जिससे मुक्ति पाना असम्भव है। आज समाज में छुआ-छूत, जाति-पाति कम नहीं हुई है। राष्ट्रीय भावना से प्रेरित समाज 'हम एक है' का नारा लगाता है तो दूसरी ओर अपने-अपने समाज को संगठित करता हुआ दिखाई देता है। डॉ. देवेश ठाकुर के विचार हैं- "एक ओर राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित भारतीय समाज एक स्वर में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था ओर स्वयं नगर नहीं ग्राम्य और आँचलिक स्तर पर ही जातिवाद का 'विष बीज' विकास पा रहा था, जिससे व्यक्ति-व्यक्ति

के बीच मतभेद की खाई गहरी हो रही थी और व्यक्ति समाज जातिगत आधार पर अलग-अलग समूहों में विभाजिक और विच्छिन्न होकर परस्पर द्वेष, ईर्ष्या और शत्रुता के भाव को बढ़ता हुआ राष्ट्रीय शक्ति एकता और उदात्त मानवीयता के आदर्शों को धूमिल कर रहा था।"

इस तरह संजीव ने अशोक-कलावती और मन्दिर के पुजारी के माध्यम से जाति-व्यवस्था का वास्तविक यथार्थ इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है। अशिक्षा, अन्धविश्वास आदि के चलते अभी भी गाँवों के समाज में अलग अलग जातियों में हीनता जैसी भावनाएँ विद्यमान हैं। दलित वर्ग को अभी भी समाज में छोटी जाति का आख्यान दिया जाता है। समाज में उच्चवर्ण कहे जानेवाली जतियाँ निम्न जातियों का शोषण करती है। संजीव यहाँ अशोक-कलावती के प्रेम के द्वारा यह भी दिखाना चाहते हैं कि समाज में जातिभेद सिर्फ बुजुर्गों में मौजूद है। आजकल के नौजवानों एवं बालिकाओं में जाति को लेकर भेदभाव की प्रवृत्ति कम देखने को मिलता है। क्योंकि वर्तमान के लड़के-लड़कियाँ गाँवों से निकल कर शहरों की ओर जा रहे हैं एवं विभिन्न देश-दुनियाओं से परिचित है। आज का युवा वर्ग यह जानता है कि हमारी ऐसी सोच के कारण हम अन्य देशों की तुलना में काफी पीछे हैं। समाज में इसी जाति व्यवस्था में भेद-भाव होने के कारण हिन्दू समाज ने अन्य धर्म ग्रहण कर लिए।

इस तरह प्रस्तुत उपन्यास में संजीव ने युग की त्रासदी और जातीय अंकन का मार्मिक ब्योरा प्रस्तुत किया है संजीव की खोजी वृत्ति को देखते हुए राजेन्द्र यादव कहते है कि "संजीव की ट्रेनिंग एक वैज्ञानिक की तरह हुई है। वे जिस विषय को उठाते हैं उसके एक-एक पक्ष की गहराई तार्किकता से शिनाख्त करते हैं।" संजीव अपनी कहानियों और उपन्यासों में केवल कल्पना के आधार पर नहीं लिखते, बल्कि वे यथार्थ जीवन के सूक्ष्म और ठोस विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। इस कारण उनका लेखन केवल भावनात्मक नहीं, बल्कि विश्लेषणात्मक और प्रामाणिक बन जाता है। उनके उपन्यास 'रह गई दिशाएं उसी पार' और 'फाँस' इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं।

दलित जीवन की करुण कथा से युक्त संवेदना का विस्तार उनके प्रसिद्ध उपन्यास सूत्रधार में भी है। सूत्रधार' में नाई जाति के उत्पीड़न का मार्मिक अंकन है। भिखारी ठाकुर जैसे प्रतिभाशाली लोक कलाकार को भी नीच जाति का माना जाता है और उसे दुर्व्यवहार का सामना करना पड़ता है। उनकी गरीबी इतनी है कि वे मरे हुए ब्राह्मण की फेंकी हुई पगड़ी पहनते हैं और उसका तल्ला घिसने के बाद भी उसे पहनते हैं। शादी-ब्याह में साफ-सफाई से लेकर जूठे बर्तनों को माँजने का काम दलितों द्वारा किया जाता है। संजीव लिखते हैं- "पिछले दिन की अल्लम-गल्लम सारी भागदौड़ के बाद सुबह-सुबह साफ-सफाई पर जुटे थे नाई-नाइन। नाइन जूठे बर्तनों पर, नाई आँगन बुहारने पर। एक-एक दृश्य पर बिदकता है मन। साफ-सफाई करने के बाद दोपहर को रात का बासी और जूठन लेकर कृतज्ञ भाव से लौट रहे थे नाई-नाइन। घात लगाए कौवे काँव-काँव करते टूट रहे थे, ऊपर से।" उपन्यास में जाति-व्यवस्था को एक स्थिर सामाजिक व्यवस्था के रूप में नहीं, बल्कि एक सक्रिय दमनकारी तंत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

सांस्कृतिक वर्चस्व (cultural hegemony) की अवधारणा को भी सूक्ष्मता से उद्घाटित किया गया है। दलितों को न केवल आर्थिक रूप से हाशिए पर रखा जाता है, बल्कि उनकी भाषा, परंपरा और पहचान को भी निम्नतर ठहराया जाता है। परिणामस्वरूप, उनके भीतर हीनता-बोध और आत्म-अस्वीकृति की भावना विकसित होती है। यह मनोवैज्ञानिक दमन उनकी प्रतिरोध क्षमता को कमजोर करता है, जिससे शोषण का चक्र निरंतर चलता रहता है। हालांकि सूत्रधार' में प्रतिरोध की संभावनाओं को भी नकारा नहीं गया है। यद्यपि दलित जीवन करुणा और पीड़ा से भरा है, फिर भी पात्रों के भीतर आत्मसम्मान और परिवर्तन की चेतना विद्यमान है। यह चेतना कभी सूक्ष्म रूप में, तो कभी मुखर विरोध के रूप में सामने आती है। इस प्रकार, उपन्यास निराशा का आख्यान न होकर संघर्ष और संभावनाओं का भी दस्तावेज बन जाता है। जैसा कि डॉ सत्यकाम लिखते हैं "नाई और उससे जुड़े प्रसंगों के मार्फत लेखक ने पुरानी व्यवस्था के चरमराने और नई व्यवस्था की दस्तक का संकेत दिया है। भिखारी ठाकुर ने शोषण पर आधारित इस

समाज की खूब खिल्ली उड़ाई है। यह भिखारी ठाकुर का अपना दर्द था, अपनी पीड़ा थी । उन्होंने खासतौर पर ब्राह्मण पर ज्यादा चोट की है।" इस तरह प्रस्तुत उपन्यास में संजीव ने दलित उत्पीड़न का एक चलचित्र खींच दिया है। भोजपुरी के मुहावरे और कहावतों का पर्याप्त प्रयोग करके लिखक ने मानो युगीन उत्पीड़न को और मार्मिक स्वरूप दिया है।

अतः उनका कथा-संसार भारतीय समाज की संरचनात्मक असमानताओं को गहराई से उद्घाटित करता है। दलित पात्र केवल पीड़ित या सहानुभूति के पात्र नहीं रह जाते, बल्कि वे अपने अस्तित्व, अस्मिता और अधिकार के लिए संघर्षरत सक्रिय मानवीय इकाइयों के रूप में उभरते हैं । संजीव यह दिखाते हैं कि जाति-आधारित दमन केवल सामाजिक व्यवहार तक सीमित नहीं, बल्कि आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक स्तरों पर भी गहरे रूप में अंतर्निहित है। उनके उपन्यासों में दलित जीवन की त्रासदी के साथ-साथ प्रतिरोध की चेतना भी बराबरी से उपस्थित है, जो परिवर्तन की संभावनाओं को जन्म देती है । लेखक का दृष्टिकोण कहीं भी उपदेशात्मक नहीं होता, बल्कि यथार्थ के बहुआयामी चित्रण के माध्यम से वह पाठक को सोचने के लिए विवश करता है। दलित जीवन की समस्याएँ—जैसे शोषण, अस्पृश्यता, गरीबी और सामाजिक बहिष्कार—के साथ-साथ आत्मसम्मान, संघर्षशीलता और सामूहिक चेतना के उभार को भी प्रमुखता दी गई है। इस प्रकार संजीव का लेखन दलित विमर्श को केवल करुणा तक सीमित नहीं रखता, बल्कि उसे सामाजिक न्याय, समानता और मानवीय गरिमा की व्यापक बहस से जोड़ता है।

**संदर्भ ग्रन्थ :**

1. रायबोले, रघुनाथ राव, संजीव के कथा साहित्य में सर्वहारा समाज, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, वर्ष 2025, पृष्ठ 125
2. डॉ सत्यकाम, कथाकार संजीव, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, वर्ष 2023, पृष्ठ 175
3. संजीव, आकाश चंपा, राज कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष 2021, पृष्ठ 20
4. संजीव, रानी की सराय, राजकमल प्रकाशन, मैं दिल्ली, वर्ष 2023, पृष्ठ 16
5. संजीव, प्रत्यंचा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष 2019, पृष्ठ 83
6. ठाकुर, देवेश, मैला आँचल की प्रक्रिया, वाणी प्रकाशन, 1987 , पेज 68
7. रायबोले, रघुनाथ राव, संजीव के कथा साहित्य में सर्वहारा समाज, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, वर्ष 2025, पृष्ठ 20
8. संजीव, सूत्रधार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष 2024, पृष्ठ 157

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-96-101

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 96-101
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**1. नीरज कश्यप**

रिसर्च स्कालर (समाजशास्त्र), आईसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग, झारखंड

**2. डॉ. राजकुमार**

शोध निर्देशक, सहायक प्राध्यापक (समाजशास्त्र विभाग), आईसेक्ट विश्वविद्यालय हजारीबाग, झारखंड

Corresponding Author :

**नीरज कश्यप**

रिसर्च स्कालर (समाजशास्त्र), आईसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग, झारखंड

# ग्रामीण स्वास्थ्य एवं पर्यावरण : सतत विकास के संदर्भ में एक समग्र विवेचनात्मक अध्ययन

**सारांश :** ग्रामीण समाज में मानव स्वास्थ्य और पर्यावरण के बीच अत्यंत गहरा तथा परस्पर निर्भर संबंध विद्यमान है। ग्रामीण जीवन प्राकृतिक संसाधनों, कृषि, जल, भूमि, वन तथा स्थानीय पारिस्थितिकी से निकटता से जुड़ा होने के कारण पर्यावरण में होने वाला कोई भी परिवर्तन वहाँ के लोगों के स्वास्थ्य, जीवन-शैली और आजीविका को प्रभावित करता है। ग्रामीण स्वास्थ्य को केवल अस्पताल, स्वास्थ्य केंद्र या चिकित्सकीय सुविधा की उपलब्धता के आधार पर समझना पर्याप्त नहीं है, क्योंकि सुरक्षित पेयजल, स्वच्छता, पोषण, आवास, घरेलू वायु गुणवत्ता, ठोस एवं तरल अपशिष्ट का प्रबंधन, स्वच्छ ईंधन, प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण तथा पर्यावरणीय जागरूकता भी स्वस्थ जीवन के आवश्यक आधार हैं। जल स्रोतों का प्रदूषण, अस्वच्छ परिवेश, जलभराव, अनुचित कचरा निपटान, घरेलू धुआँ, कृषि रसायनों का असुरक्षित उपयोग तथा जलवायु संबंधी परिवर्तन ग्रामीण स्वास्थ्य के लिए विभिन्न प्रकार की चुनौतियाँ उत्पन्न करते हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र में ग्रामीण स्वास्थ्य एवं पर्यावरण के पारस्परिक संबंध का वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक एवं विवेचनात्मक अध्ययन किया गया है। अध्ययन में सुरक्षित पेयजल, स्वच्छता, अपशिष्ट प्रबंधन, वायु प्रदूषण, कृषि, जलवायु परिवर्तन, महिलाओं की भूमिका, स्वास्थ्य शिक्षा तथा सामुदायिक सहभागिता जैसे प्रमुख आयामों को सतत विकास के संदर्भ में समझने का प्रयास किया गया है। अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि स्वस्थ ग्रामीण समाज के निर्माण के लिए स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार के साथ-साथ स्वच्छ पर्यावरण, पर्यावरणीय शिक्षा, स्थानीय संसाधनों के संरक्षण और समुदाय की सक्रिय भागीदारी को समान महत्व देना आवश्यक है। इस दृष्टि से ग्रामीण स्वास्थ्य केवल स्वास्थ्य विभाग का विषय न होकर शिक्षा, पर्यावरण, ग्रामीण विकास, स्थानीय शासन और सामाजिक सहभागिता से जुड़ा एक व्यापक विकासात्मक प्रश्न है।

**प्रमुख शब्द :** ग्रामीण स्वास्थ्य, पर्यावरण, स्वच्छ पेयजल, स्वच्छता,

पर्यावरणीय स्वास्थ्य, ग्रामीण विकास, सतत विकास, सामुदायिक सहभागिता।

**1. प्रस्तावना :** भारत के सामाजिक एवं आर्थिक विकास में ग्रामीण क्षेत्रों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। ग्रामीण जीवन की संरचना प्राकृतिक संसाधनों के साथ प्रत्यक्ष संबंध पर आधारित होती है। भूमि, जल, वन, कृषि, पशुधन तथा स्थानीय प्राकृतिक संसाधन ग्रामीण समुदाय की आजीविका के प्रमुख आधार होते हैं। इसी कारण ग्रामीण क्षेत्र में पर्यावरणीय परिस्थितियों का प्रभाव मनुष्य के जीवन पर अधिक व्यापक रूप में दिखाई देता है। यदि किसी ग्रामीण क्षेत्र में जल स्रोत सुरक्षित हैं, स्वच्छता की उचित व्यवस्था है, घरों का वातावरण स्वस्थ है, कचरे का उचित प्रबंधन होता है और प्राकृतिक संसाधनों का संतुलित उपयोग किया जाता है, तो वहाँ स्वस्थ जीवन के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ विकसित होती हैं। इसके विपरीत जल प्रदूषण, अस्वच्छता, जलभराव, अपशिष्ट का अनुचित निपटान, घरेलू वायु प्रदूषण तथा प्राकृतिक संसाधनों के क्षरण जैसी परिस्थितियाँ स्वास्थ्य संबंधी जोखिमों को बढ़ा सकती हैं। इसलिए ग्रामीण स्वास्थ्य का अध्ययन पर्यावरण से अलग करके करना विषय की वास्तविक प्रकृति को सीमित कर देता है।

स्वास्थ्य की अवधारणा भी आज केवल रोगों की अनुपस्थिति तक सीमित नहीं है। व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक जीवन की गुणवत्ता उसके आसपास के पर्यावरण से प्रभावित होती है। ग्रामीण परिवारों के लिए सुरक्षित पेयजल, पौष्टिक भोजन, स्वच्छ आवास, स्वच्छता, स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच और सुरक्षित आजीविका स्वस्थ जीवन की आधारभूत आवश्यकताएँ हैं। विशेष रूप से जल एवं स्वच्छता का स्वास्थ्य से सीधा संबंध है। यदि पीने के लिए उपलब्ध जल दूषित हो अथवा जल स्रोत के आसपास स्वच्छता की स्थिति खराब हो, तो विभिन्न जलजनित रोगों का खतरा बढ़ सकता है। इसी प्रकार घरों के आसपास जमा कचरा और स्थिर जल मच्छरों एवं अन्य रोगवाहकों के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार पर्यावरणीय परिस्थितियाँ स्वास्थ्य के निर्धारकों के रूप में कार्य करती हैं।ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य एवं पर्यावरण की समस्याओं को केवल सरकारी योजनाओं अथवा चिकित्सा संस्थानों के माध्यम से हल नहीं किया जा सकता। इनके लिए स्थानीय समुदाय की भागीदारी, ग्राम पंचायतों की सक्रियता, विद्यालयों में पर्यावरण एवं स्वास्थ्य शिक्षा, महिलाओं और स्वयं सहायता समूहों की भागीदारी तथा स्थानीय प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण की आवश्यकता होती है। इसी व्यापक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए यह अध्ययन ग्रामीण स्वास्थ्य और पर्यावरण के बीच संबंध को सतत विकास के संदर्भ में समझने का प्रयास करता है।

**2. अध्ययन के उद्देश्य एवं पद्धति :** प्रस्तुत अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण स्वास्थ्य और पर्यावरण के बीच विद्यमान अंतर्संबंध का विश्लेषण करना तथा उन प्रमुख पर्यावरणीय परिस्थितियों की पहचान करना है जो ग्रामीण समुदाय के स्वास्थ्य को प्रभावित करती हैं। इसके साथ ही सुरक्षित पेयजल, स्वच्छता, ठोस एवं तरल अपशिष्ट प्रबंधन, वायु गुणवत्ता, कृषि गतिविधियों, जलवायु परिवर्तन तथा पर्यावरणीय जागरूकता की भूमिका का अध्ययन किया गया है। अध्ययन का एक अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य ग्रामीण स्वास्थ्य को शिक्षा, सामुदायिक सहभागिता और सतत विकास के साथ जोड़कर देखना तथा ऐसी व्यावहारिक दिशा प्रस्तुत करना है जिसके माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में स्वस्थ एवं पर्यावरण-अनुकूल जीवन परिस्थितियों का निर्माण किया जा सके।

अध्ययन मुख्यतः वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक प्रकृति का है। इसमें उपलब्ध द्वितीयक स्रोतों, स्वास्थ्य एवं पर्यावरण से संबंधित प्रकाशित सामग्री, सरकारी कार्यक्रमों तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन और UNICEF जैसी संस्थाओं की सामग्री का अध्ययन किया गया है। अध्ययन में किसी एक स्वास्थ्य समस्या को पृथक रूप से देखने के बजाय ग्रामीण स्वास्थ्य को एक समग्र सामाजिक-पर्यावरणीय अवधारणा के रूप में ग्रहण किया गया है। जल, स्वच्छता, आवास, पोषण, अपशिष्ट, कृषि, प्राकृतिक संसाधन, स्वास्थ्य सेवाएँ और सामाजिक जागरूकता को परस्पर संबंधित घटकों के रूप में समझने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार अध्ययन की मूल दृष्टि यह है कि ग्रामीण स्वास्थ्य को

समझने के लिए व्यक्ति, परिवार, समुदाय और पर्यावरण के बीच संबंधों का समग्र विश्लेषण आवश्यक है।

**3. ग्रामीण स्वास्थ्य एवं पर्यावरण का अंतर्संबंध :** ग्रामीण स्वास्थ्य और पर्यावरण के बीच संबंध बहुआयामी है। ग्रामीण व्यक्ति जिस प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण में रहता है, वही उसकी जीवनशैली, भोजन, जल उपयोग, कार्य पद्धति, स्वच्छता व्यवहार और स्वास्थ्य संबंधी आदतों को प्रभावित करता है। ग्रामीण क्षेत्रों में पर्यावरणीय परिस्थितियों का प्रभाव परिवार के दैनिक जीवन में प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, जल स्रोत की दूरी और गुणवत्ता महिलाओं एवं बच्चों के दैनिक जीवन को प्रभावित कर सकती है; जल निकासी की खराब व्यवस्था से जलभराव उत्पन्न हो सकता है; घरों के आसपास जमा कचरा स्वच्छता की समस्या पैदा कर सकता है और घरेलू ईंधन से उत्पन्न धुआँ घर के अंदर की वायु गुणवत्ता को प्रभावित कर सकता है। इसलिए ग्रामीण स्वास्थ्य को केवल उपचारात्मक व्यवस्था के रूप में न देखकर रोग की रोकथाम और स्वस्थ पर्यावरण निर्माण की प्रक्रिया के रूप में देखना अधिक उपयुक्त है।ग्रामीण स्वास्थ्य की स्थिति को पर्यावरणीय दृष्टि से समझने पर यह स्पष्ट होता है कि स्वास्थ्य जोखिम किसी एक कारण से उत्पन्न नहीं होते। कई बार जल, स्वच्छता, आवास, पोषण और आजीविका की समस्याएँ एक-दूसरे से जुड़ी होती हैं। उदाहरण के लिए जल की कमी या दूषित जल केवल पीने की समस्या नहीं पैदा करता, बल्कि व्यक्तिगत स्वच्छता, भोजन निर्माण और घरेलू साफ-सफाई को भी प्रभावित कर सकता है। इसी प्रकार गरीबी और संसाधनों की कमी पर्यावरण-अनुकूल साधनों तक पहुँच को सीमित कर सकती है। इसलिए ग्रामीण स्वास्थ्य में सुधार के लिए केवल बीमारी के उपचार पर ध्यान देने के बजाय उन सामाजिक और पर्यावरणीय परिस्थितियों को सुधारना आवश्यक है जिनमें बीमारी के जोखिम उत्पन्न होते हैं।

**4. सुरक्षित पेयजल एवं ग्रामीण स्वास्थ्य :** ग्रामीण स्वास्थ्य की आधारभूत आवश्यकताओं में सुरक्षित पेयजल का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। जल का उपयोग ग्रामीण परिवारों द्वारा पीने के साथ-साथ भोजन बनाने, स्नान, कपड़े धोने और व्यक्तिगत स्वच्छता के लिए किया जाता है। इसलिए जल की गुणवत्ता और उपलब्धता दोनों का स्वास्थ्य पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। यदि जल स्रोत किसी प्रकार के जैविक या रासायनिक प्रदूषण से प्रभावित हो, तो उसका उपयोग स्वास्थ्य के लिए जोखिम उत्पन्न कर सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में कुएँ, हैंडपंप, तालाब, नलकूप और पाइप जल जैसे विभिन्न स्रोत पाए जाते हैं, लेकिन इन स्रोतों की सुरक्षा और गुणवत्ता स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर करती है। जल स्रोतों के आसपास कचरा, गंदा पानी या अन्य प्रदूषणकारी गतिविधियाँ होने पर जल की गुणवत्ता प्रभावित हो सकती है। ग्रामीण जल प्रबंधन का उद्देश्य केवल प्रत्येक परिवार तक पानी पहुँचाना नहीं होना चाहिए, बल्कि जल की गुणवत्ता, नियमित उपलब्धता और स्रोत की दीर्घकालिक सुरक्षा को भी सुनिश्चित करना चाहिए। वर्षा जल संचयन, भूजल पुनर्भरण, पारंपरिक जल स्रोतों का संरक्षण और घरेलू स्तर पर सुरक्षित जल भंडारण जैसी गतिविधियाँ इस दिशा में उपयोगी हो सकती हैं। ग्रामीण परिवारों को जल संरक्षण एवं जल गुणवत्ता के प्रति जागरूक करना भी आवश्यक है। भारत में जल जीवन मिशन के माध्यम से ग्रामीण परिवारों तक घरेलू नल जल उपलब्ध कराने की दिशा में कार्य किया गया है। इस प्रकार पेयजल व्यवस्था को स्वास्थ्य, स्वच्छता, महिलाओं के श्रम और ग्रामीण जीवन की गुणवत्ता से जोड़कर देखना आवश्यक है। मूल शोध-पत्र में भी सुरक्षित जल को ग्रामीण स्वास्थ्य के प्रमुख पर्यावरणीय निर्धारकों में रखा गया है।

**5. स्वच्छता, अपशिष्ट प्रबंधन एवं पर्यावरणीय स्वास्थ्य :** ग्रामीण स्वास्थ्य के संदर्भ में स्वच्छता का महत्व पेयजल से कम नहीं है। स्वच्छता में केवल शौचालय की उपलब्धता ही शामिल नहीं होती, बल्कि उसका नियमित उपयोग, हाथों की स्वच्छता, घरेलू कचरे का सुरक्षित निपटान, तरल अपशिष्ट की उचित निकासी तथा घर एवं सार्वजनिक स्थानों की सफाई भी इसके महत्वपूर्ण भाग हैं। किसी गाँव में शौचालय उपलब्ध होने के बावजूद यदि उसका उपयोग नियमित नहीं है अथवा घरेलू एवं सार्वजनिक स्थानों पर गंदगी बनी रहती है, तो पर्यावरणीय स्वास्थ्य की समस्या बनी रह सकती है। इसलिए स्वच्छता को आधारभूत संरचना के साथ-साथ व्यवहार परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में भी

समझना आवश्यक है।n ठोस एवं तरल अपशिष्ट ग्रामीण पर्यावरण की उभरती हुई समस्याओं में शामिल हैं। बदलती उपभोग प्रवृत्तियों के कारण प्लास्टिक और पैकेजिंग सामग्री का उपयोग ग्रामीण क्षेत्रों में भी बढ़ा है। यदि इनका उचित संग्रहण और निपटान न किया जाए तो ये कृषि भूमि, जल स्रोतों और सार्वजनिक स्थानों को प्रभावित कर सकते हैं। इसी प्रकार घरों से निकलने वाला गंदा पानी यदि खुले स्थानों में जमा होता है तो जलभराव, दुर्गंध और मच्छरों के प्रजनन जैसी समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं। इसलिए ग्राम स्तर पर गीले एवं सूखे कचरे का पृथक्करण, जैविक कचरे से खाद निर्माण, प्लास्टिक का पुनर्चक्रण, सामुदायिक कचरा संग्रहण तथा घरेलू तरल अपशिष्ट के लिए उपयुक्त निकासी व्यवस्था विकसित करना आवश्यक है। स्वच्छता को व्यवहार परिवर्तन, स्वास्थ्य शिक्षा और सामुदायिक जिम्मेदारी से जोड़ने पर इसके परिणाम अधिक स्थायी हो सकते हैं।

**6. वायु प्रदूषण, कृषि एवं ग्रामीण स्वास्थ्य :** ग्रामीण पर्यावरण में वायु प्रदूषण की समस्या को केवल औद्योगिक या शहरी प्रदूषण के संदर्भ में नहीं देखा जाना चाहिए। घरेलू वायु प्रदूषण भी ग्रामीण स्वास्थ्य के लिए महत्वपूर्ण है। पारंपरिक ठोस ईंधनों का उपयोग, रसोई में पर्याप्त वेंटिलेशन का अभाव तथा लंबे समय तक धुएँ के संपर्क में रहना परिवार के सदस्यों के लिए स्वास्थ्य जोखिम उत्पन्न कर सकता है। ग्रामीण परिवारों में घरेलू कार्यों में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होने के कारण स्वच्छ ईंधन और बेहतर वेंटिलेशन की व्यवस्था विशेष महत्व रखती है। इसके अतिरिक्त कृषि अवशेषों का जलाना, सड़क से उठने वाली धूल, निर्माण कार्य, खनन और स्थानीय औद्योगिक गतिविधियाँ भी कुछ क्षेत्रों में वायु गुणवत्ता को प्रभावित कर सकती हैं। अतः ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यक्रमों में स्वच्छ ऊर्जा, बेहतर रसोई व्यवस्था और स्थानीय स्तर पर वायु प्रदूषण नियंत्रण को शामिल करना आवश्यक है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था का कृषि पर निर्भर होना भी स्वास्थ्य एवं पर्यावरण के बीच संबंध को स्पष्ट करता है। कृषि उत्पादन में रासायनिक उर्वरकों एवं कीटनाशकों का प्रयोग कई क्षेत्रों में किया जाता है। इनका अनुचित या असंतुलित उपयोग मिट्टी एवं जल की गुणवत्ता को प्रभावित कर सकता है तथा कृषि कार्य में लगे व्यक्तियों के लिए स्वास्थ्य संबंधी जोखिम उत्पन्न कर सकता है। इसलिए किसानों और कृषि श्रमिकों को रसायनों के सुरक्षित उपयोग, भंडारण तथा सुरक्षात्मक उपायों के संबंध में उचित प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। मृदा संरक्षण, जल संरक्षण, जैविक एवं कम-रसायन आधारित कृषि पद्धतियाँ तथा एकीकृत कीट प्रबंधन जैसी तकनीकों को स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार प्रोत्साहित किया जा सकता है। इससे कृषि उत्पादन और पर्यावरणीय सुरक्षा के बीच संतुलन स्थापित करने में सहायता मिलेगी।

**7. जलवायु परिवर्तन और ग्रामीण स्वास्थ्य :** वर्तमान समय में जलवायु परिवर्तन ग्रामीण स्वास्थ्य एवं आजीविका के सामने एक महत्वपूर्ण चुनौती के रूप में उभर रहा है। तापमान में वृद्धि, वर्षा की अनिश्चितता, अत्यधिक गर्मी, सूखा और बाढ़ जैसी परिस्थितियाँ ग्रामीण जीवन को अनेक स्तरों पर प्रभावित करती हैं। कृषि उत्पादन में परिवर्तन का प्रभाव ग्रामीण परिवारों की आय और खाद्य सुरक्षा पर पड़ सकता है, जबकि जल की उपलब्धता में कमी स्वास्थ्य और स्वच्छता दोनों को प्रभावित कर सकती है। अत्यधिक गर्मी जैसी परिस्थितियाँ विशेष रूप से खुले वातावरण में कार्य करने वाले ग्रामीण श्रमिकों के लिए चुनौतीपूर्ण हो सकती हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक आपदाओं के समय स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच और सुरक्षित पेयजल की व्यवस्था भी प्रभावित हो सकती है।

इसलिए ग्रामीण स्वास्थ्य व्यवस्था को जलवायु अनुकूलन की व्यापक रणनीति से जोड़ना आवश्यक है। स्थानीय जल स्रोतों का संरक्षण, वर्षा जल संचयन, भूजल पुनर्भरण, वृक्षारोपण, जल संरक्षण, आपदा पूर्व तैयारी और स्थानीय स्वास्थ्य संस्थानों की क्षमता में वृद्धि इस दिशा में उपयोगी उपाय हो सकते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में जलवायु परिवर्तन के प्रभावों को कम करने के लिए स्थानीय ज्ञान और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के बीच समन्वय स्थापित करना भी महत्वपूर्ण है। इस प्रकार जलवायु अनुकूल ग्रामीण विकास केवल पर्यावरण संरक्षण का विषय नहीं बल्कि सार्वजनिक स्वास्थ्य और ग्रामीण आजीविका की सुरक्षा का भी विषय है।

**8. शिक्षा, महिला सहभागिता और सामुदायिक जागरूकता :** ग्रामीण स्वास्थ्य एवं पर्यावरण के बीच स्थायी सुधार के लिए शिक्षा की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। स्वास्थ्य संबंधी व्यवहार तभी स्थायी बन सकते हैं जब समुदाय को उनके कारण और परिणामों की पर्याप्त जानकारी हो। विद्यालयों में जल संरक्षण, स्वच्छता, हाथ धोने की आदत, कचरा पृथक्करण, वृक्ष संरक्षण, जैव विविधता और स्थानीय पर्यावरण से संबंधित व्यवहारिक शिक्षा दी जा सकती है। बच्चे स्वयं पर्यावरणीय व्यवहार में परिवर्तन के वाहक बन सकते हैं और अपने परिवारों तक स्वास्थ्य एवं पर्यावरण से संबंधित संदेश पहुँचा सकते हैं। इस प्रकार शिक्षा ग्रामीण स्वास्थ्य को केवल ज्ञान प्रदान करने के बजाय व्यवहार परिवर्तन का माध्यम भी बना सकती है। सम्मेलन की मुख्य थीम **Education, Literature, Culture and Sustainability** के संदर्भ में यह संबंध विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। ग्रामीण स्वास्थ्य एवं पर्यावरण प्रबंधन में महिलाओं की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। जल संग्रहण, भोजन निर्माण, घरेलू स्वच्छता, बच्चों की देखभाल और परिवार के स्वास्थ्य से जुड़े अनेक कार्य ग्रामीण महिलाओं के दैनिक जीवन का हिस्सा होते हैं। सुरक्षित जल की घरेलू उपलब्धता से महिलाओं के समय और श्रम की बचत हो सकती है तथा स्वास्थ्य एवं स्वच्छता संबंधी व्यवहार को अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है। इसलिए महिलाओं को केवल योजनाओं के लाभार्थी के रूप में देखने के बजाय उन्हें स्थानीय स्वास्थ्य एवं पर्यावरणीय निर्णयों में सक्रिय सहभागी बनाना आवश्यक है। स्वयं सहायता समूह, महिला समूह और ग्राम स्तरीय समितियाँ जल, स्वच्छता, पोषण और पर्यावरण संरक्षण के लिए प्रभावी सामुदायिक माध्यम बन सकती हैं।

**9. सतत विकास के संदर्भ में ग्रामीण स्वास्थ्य :** ग्रामीण स्वास्थ्य को सतत विकास के संदर्भ में देखने पर स्पष्ट होता है कि स्वास्थ्य, पर्यावरण और आर्थिक विकास एक-दूसरे से अलग नहीं हैं। सतत विकास का उद्देश्य केवल वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति करना नहीं बल्कि प्राकृतिक संसाधनों और भविष्य की पीढ़ियों की आवश्यकताओं को भी सुरक्षित रखना है। ग्रामीण क्षेत्रों में इसका अर्थ है कि विकास की प्रक्रिया ऐसी हो जिसमें सुरक्षित जल, स्वच्छता, स्वस्थ पर्यावरण, टिकाऊ आजीविका और सामाजिक सहभागिता एक साथ विकसित हों। यदि किसी गाँव में आर्थिक विकास होता है लेकिन जल स्रोत प्रदूषित हो जाते हैं, प्राकृतिक संसाधन समाप्त होते हैं अथवा कचरा प्रबंधन की समस्या बढ़ती है, तो ऐसा विकास दीर्घकालिक दृष्टि से संतुलित नहीं माना जा सकता। सतत ग्रामीण स्वास्थ्य के लिए स्वास्थ्य सेवाओं को पर्यावरणीय योजनाओं से जोड़ना आवश्यक है। सतत विकास लक्ष्य 3 स्वस्थ जीवन और कल्याण पर तथा लक्ष्य 6 जल एवं स्वच्छता पर केंद्रित है। ग्रामीण संदर्भ में इन लक्ष्यों को स्थानीय विकास योजनाओं से जोड़कर देखा जा सकता है। स्वस्थ व्यक्ति, स्वस्थ परिवार, स्वच्छ गाँव, सुरक्षित जल, स्वच्छ पर्यावरण और टिकाऊ आजीविका—ये सभी एक-दूसरे से जुड़े हुए घटक हैं। इसलिए ग्रामीण स्वास्थ्य की योजना बनाते समय पर्यावरण संरक्षण और सामाजिक समानता को समान महत्व देना आवश्यक है।

**10. प्रमुख चुनौतियाँ एवं संभावित समाधान :** ग्रामीण स्वास्थ्य एवं पर्यावरण के सामने अनेक परस्पर जुड़ी हुई चुनौतियाँ हैं। इनमें सुरक्षित पेयजल की गुणवत्ता एवं नियमित उपलब्धता, जल स्रोतों का प्रदूषण, ठोस एवं तरल अपशिष्ट का उचित प्रबंधन, स्वच्छता संबंधी व्यवहार में निरंतरता, घरेलू वायु प्रदूषण, कृषि रसायनों का अनुचित उपयोग, जलवायु परिवर्तन, पर्यावरणीय स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता की कमी और दूरस्थ क्षेत्रों में स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच प्रमुख हैं। इन समस्याओं की प्रकृति प्रत्येक ग्रामीण क्षेत्र में समान नहीं होती, इसलिए स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप समाधान विकसित करना अधिक प्रभावी होगा। किसी एक सामान्य मॉडल को सभी गाँवों पर लागू करने के बजाय ग्राम स्तर पर उपलब्ध संसाधनों, पर्यावरणीय परिस्थितियों और सामाजिक संरचना को ध्यान में रखते हुए योजना तैयार करना आवश्यक है। ग्रामीण स्वास्थ्य एवं पर्यावरण की स्थिति में सुधार के लिए ग्राम पंचायत स्तर पर एकीकृत पर्यावरणीय स्वास्थ्य योजना विकसित की जा सकती है, जिसमें पेयजल, स्वच्छता, कचरा प्रबंधन, जल निकासी, स्वास्थ्य शिक्षा और प्राकृतिक संसाधन संरक्षण को एक साथ शामिल किया जाए। पेयजल स्रोतों की

नियमित निगरानी, स्थानीय तालाबों और कुओं का संरक्षण, वर्षा जल संचयन, जैविक कचरे से खाद निर्माण, प्लास्टिक कचरे का पृथक्करण, स्वच्छ ऊर्जा का उपयोग और विद्यालयों में स्वास्थ्य-पर्यावरण शिक्षा जैसे उपाय स्थानीय स्तर पर प्रभावी हो सकते हैं। इसके साथ ही ग्राम पंचायत, आशा कार्यकर्ता, आंगनबाड़ी, विद्यालय, स्वयं सहायता समूह और स्थानीय समुदाय के बीच समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। महिलाओं और युवाओं की सहभागिता से पर्यावरणीय जागरूकता को सामुदायिक आंदोलन का रुप दिया जा सकता है।

**11. निष्कर्ष :** ग्रामीण स्वास्थ्य और पर्यावरण को दो अलग-अलग विषयों के रूप में देखना उचित नहीं है, क्योंकि दोनों एक ही सामाजिक-पर्यावरणीय व्यवस्था के परस्पर संबंधित घटक हैं। ग्रामीण समुदाय का स्वास्थ्य उसके आसपास के जल, वायु, भूमि, आवास, स्वच्छता, प्राकृतिक संसाधनों और सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है। सुरक्षित पेयजल, स्वच्छता, उचित अपशिष्ट प्रबंधन, स्वच्छ घरेलू वातावरण, सुरक्षित कृषि पद्धतियाँ और प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण स्वस्थ ग्रामीण समाज के निर्माण के लिए आवश्यक आधार प्रदान करते हैं। केवल स्वास्थ्य केंद्रों और चिकित्सा सुविधाओं की संख्या बढ़ाने से ग्रामीण स्वास्थ्य की सभी समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता; इसके लिए रोग की रोकथाम, पर्यावरणीय स्वच्छता और स्वास्थ्य जागरूकता पर भी समान रूप से ध्यान देना आवश्यक है। मूल अध्ययन भी ग्रामीण स्वास्थ्य को जल, स्वच्छता, आवास, पोषण, पर्यावरणीय स्वच्छता, प्राकृतिक संसाधन और सामाजिक जागरूकता के समन्वित संदर्भ में देखने पर बल देता है।

अंततः कहा जा सकता है कि "स्वस्थ ग्राम" की अवधारणा "स्वस्थ पर्यावरण" से अलग नहीं की जा सकती। ग्रामीण स्वास्थ्य को स्थायी रूप से बेहतर बनाने के लिए स्वास्थ्य सेवाओं, पर्यावरण संरक्षण, शिक्षा, स्थानीय शासन और सामुदायिक सहभागिता के बीच समन्वित दृष्टिकोण विकसित करना आवश्यक है। सतत विकास का वास्तविक उद्देश्य तभी प्राप्त किया जा सकता है जब विकास की प्रक्रिया मानव स्वास्थ्य और प्राकृतिक संसाधनों दोनों को समान महत्व दे। ग्रामीण समाज में स्थानीय ज्ञान, सामुदायिक सहभागिता और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के समन्वय से ऐसे विकास मॉडल विकसित किए जा सकते हैं जो वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ भविष्य की पीढ़ियों के लिए भी सुरक्षित पर्यावरण सुनिश्चित करें। इसलिए ग्रामीण स्वास्थ्य को केवल चिकित्सा का विषय न मानकर पर्यावरण, शिक्षा, सामाजिक विकास और सतत विकास का साझा विषय माना जाना चाहिए। यही दृष्टिकोण ग्रामीण क्षेत्रों में स्वस्थ, स्वच्छ, जागरुक और टिकाऊ समुदायों के निर्माण की दिशा में महत्वपूर्ण आधार प्रदान कर सकता है।

**संदर्भ ग्रंथ :**

1. World Health Organization (WHO), *Water, Sanitation and Hygiene (WASH).*
2. World Health Organization, *Drinking-water: Fact Sheet.*
3. World Health Organization, *Water, Sanitation and Health.*
4. World Health Organization, *Sanitation Safety and Health.*
5. UNICEF India, *Environmental Impact of the Swachh Bharat Mission (Rural).*
6. World Health Organization India, *Tap Water at Home Lowers Disease, Saves Time and Labour.*
7. संबंधित सरकारी योजनाओं एवं ग्रामीण स्वास्थ्य तथा पर्यावरण से संबंधित प्रकाशित अध्ययन।

•

ज्ञानविविधा
कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 102-105
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**वजीर सुलताना खाजा खान पठाण**
पी.एच.डी. शोध छात्रा, हिन्दी विभाग,
डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाडा
विश्वविद्यालय, छ. संभाजीनगर (महाराष्ट्र)

Corresponding Author :

**वजीर सुलताना खाजा खान पठाण**
पी.एच.डी. शोध छात्रा, हिन्दी विभाग,
डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाडा
विश्वविद्यालय, छ. संभाजीनगर (महाराष्ट्र)

# भारतीय साहित्य और सांस्कृतिक परंपरा

**शोध सारांश :** भारतीय साहित्य और भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का संबंध अत्यंत प्राचीन व्यापक और बहुआयामी है। भारतीय साहित्य केवल मनोरंजन या सौंदर्य बोध कला का माध्यम नहीं है बल्कि यह भारतीय समाज की ऐतिहासिक चेतना, जीवनदृष्टी, सामाजिक संरचना, धार्मिक विश्वासों, नैतिक मूल्य और सांस्कृतिक विविधता का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज भी है। भारतीय संस्कृति में वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, बौद्ध एवं जैन परंपराओ के साथ साथ भक्ति और सूफी परंपरा की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। दर्शन साहित्य, कला, संगीत, नृत्य, स्थापत्य, लोककला, पर्व-त्योहार, सामाजिक संस्कार संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है।

**बीज शब्द :** भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति, आधुनिकता, विविधता, कला, मनोरंजन, परंपरा, लोककला।

**विषय परिचय :** भारतीय साहित्य संस्कृति का अत्यंत महत्वपूर्ण वाहक है। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य ने भारतीय समाज की विविध सांस्कृतिक परंपराओं को अभिव्यक्ति दी है। भारतीय साहित्य विश्व की प्राचीन समृद्ध और बहुविध साहित्यिक परंपराओं में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। भारतीय साहित्य किसी एक भाषा, धर्म, क्षेत्र अथवा समुदाय तक सीमित नहीं है बल्कि यह भारत की विभिन्न भाषाओं, लोक परंपराओं, सामाजिक अनुभव और सांस्कृतिक चेतनाओं का व्यापक समन्वित रूप है क्योंकि यह संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश से लेकर हिंदी, मराठी, बंगाली, तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालम, गुजराती, पंजाबी, उर्दू, असमिया, ओड़िया तथा अन्य भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य इसकी व्यापकता को दर्शाता है।

भारतीय साहित्य के स्वरूप की परिकल्पना और अवधारणा ही अपने आप में तुलनात्मक साहित्य की अवधारणा है क्योंकि यह एक से अधिक भाषा साहित्य के सृजन और विश्लेषण की ओर संकेत है।

बहुभाषी बहुधर्मी देश होने के नाते हम लोग एक जटिल एवं संश्लिष्ट चेतना में जीते हैं। भले ही हम संपर्क भाषा के रूप में हिंदी या अंग्रेजी मातृभाषा या राजभाषा का प्रयोग करते हो। प्राचीन युग में कबिलाई संस्कृति और राज्यव्यवस्था के विकास के दौरान जिन वेदों, उपनिषदों की रचना हुई है तथा रामायण और महाभारत जैसे काव्य राज्यव्यवस्था के दौरान रचे गए हैं जिनका ऐतिहासिक समय आज से 5,500 वर्ष पूर्व से 3,500 वर्ष पूर्व ठहरता है। विभिन्न विद्वानों ने रामायण और महाभारत की रचना के लिए 3,000 से 1,500 वर्ष ईसा पूर्व का समय निर्धारित किया है। इस प्रकार भारतीय साहित्य की प्रारंभिक रचनाओं में देव-असुर संग्राम, सत्य और असत्य के लिए युद्ध और मानवीय शक्तियों के विकास के लिए दैवी कृपा का अनुभव भी मिलता है। अतः कहा जा सकता है भारतीय साहित्य के प्रारंभिक दौर में रहस्यवादी, ईश्वरवादी चेतना का, भाववादी, प्रतिवादी दर्शन का प्रचार प्रसार भी मिलता है। जिसका प्रभाव मिथकों और प्रतीकों के माध्यम से वर्तमान दौर में जारी है।

यदि भारत एक राष्ट्र है तो भारत में जो कुछ साहित्य चाहे किसी भी भाषा में लिखा जाता रहा है वह भारतीय साहित्य है। इस देश के राष्ट्रीयता या भारतीयता कम से कम महाभारत के रचनाकाल से लेकर अब तक निरंतर विकसित हुआ है। उसे राष्ट्रीयता का अस्तित्व महसूस कर अपने रचनाओं में दर्शाकर यहां के कवियों और रचनाकारों ने अहम भूमिका निभाई है। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार "रामायण और महाभारत में भारत की विभिन्न जातियों और भाषाओं को एक सांस्कृतिक सूत्र में बांधे रखा है।"[1] चाहे वह असमिया की रामायण हो बंगाल की कृत्तिवास रामायण हो या जैन रामायण मूल कथानक में स्थानीय रंगों का समावेश करके हर क्षेत्र ने इसे अपना बना लिया यह स्वीकरण ही भारतीयता है।

भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में लोकसाहित्य का विशेष महत्व है। लोकगीत, लोककथाएं, लोकगाथाएं, लोकनाट्य, लोकनृत्य और कहावतों, सामान्य जनजीवन के अनुभवों और सामूहिक स्मृतियों को सुरक्षित रखते हैं। इस दृष्टि से लोक साहित्य भारतीय संस्कृति की जीवंत गतिशील अभिव्यक्ति है। आधुनिक समय में विज्ञान, तकनीक, नगरीकरण, वैश्वीकरण और डिजिटल माध्यमों ने भारतीय साहित्य तथा संस्कृति के स्वरूप को प्रभावित किया है। आज पारंपरिक सांस्कृतिक अभिव्यक्तियां नए डिजिटल माध्यमों के द्वारा व्यापक समाज तक पहुंच रही है। साथ ही स्थानीय भाषाओं, लोक कलाओं और सांस्कृतिक पहचान के संरक्षण की चुनौती भी सामने है। भारतीय साहित्य और सांस्कृतिक परंपरा का संबंध अत्यंत गहरा और प्राचीन है। भारतीय साहित्य केवल मनोरंजन या भाव अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है बल्कि यह भारत की सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक,नैतिक और सांस्कृतिक चेतना का जीवंत दस्तावेज भी है। भारतीय संस्कृति की विविधता, सहिष्णुता, समन्वयशीलता और मानवीय मूल्यों को साहित्य ने युग युग से अभिव्यक्त किया है। "संस्कृति वह जटिल समग्र है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून प्रथा ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है। जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के नाते प्राप्त करता है।"[2] संस्कृति के अंतर्गत तो संपूर्ण पर्यावरण के उस भाग की उन वस्तुओं को सम्मिलित करते हैं जिन्हें मानव ने बनाया है।

पशु भी बहुत कुछ सीख जाते हैं, परंतु शायद ही कोई मानवशास्त्री उन्हें संस्कृति का अधिकारी मानता है। पशुओं द्वारा सीखे हुए व्यवहार और मानव के संस्कृति पर आधारित व्यवहारों में जो अंतर है उसे समझे बिना संस्कृति की वास्तविक प्रकृति को नहीं समझा जा सकता। संस्कृति को केवल सीखा ही नहीं जा सकता अपितु इसे एक मानव से दूसरे मानव तक फैलाया या एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित भी किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता समन्वय है। भारत में विभिन्न धर्मो , भाषाओं,जातीय समूह और जीवन पद्धतियों का विकास हुआ। भारतीय संस्कृति ने विभिन्न प्रभावों को स्वीकार करके अपने स्वरूप को अधिक व्यापक बनाया। प्राचीन काल से ही हमारा देश भारतीय मूल्य एवं विशिष्ट वैज्ञानिक परंपराओं का देश रहा है। भारत की संस्कृति रही है कि भारत ने दुनिया को अलग देश के रूप में माना नहीं है। "अयं निजः परोवेति गणना लघु घेतषाम् उदार चरिताना तु वसुधैव

कुटुम्बकम।"[3] महा उपनिषद के इस सिद्धांत के आधार पर भारत दुनिया को एक परिवार मानता है। यह अलग बात है कि पाश्चात्य सभ्यता की आपाधापी में हम भी यह गलती से समझने लगे कि यह सभ्यता भौतिक याद पर टिकी है ना की ज्ञान और अध्यात्म पर। इस सदी के उत्तरार्ध से पश्चिमी सभ्यतावाले देश भारतीय संस्कृति, परंपरा और सभ्यता को अपनाने और जानने पर जोर देने लगे हैं। वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों और यहां की जीवन शैली को जानने के लिए अपने यहां कई विभाग से लेकर शोध संस्थानों की स्थापना करने लगे हैं। भारत की परंपराओं को आज विश्व भी अपना रहा है। हमें और हमारी भावी पीढ़ीयो को भी भारत की प्राचीन मूल्यों को यथोचित महत्व देना होगा। इसके लिए आंतरिक ज्ञान, गुण, शक्ति एवं आदर्श को ठीक रूप से पहचाना एवं सही दिशा प्रदान करना होगा। "संस्कृति अथवा सभ्यता वह जटिल तत्व है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि और आचार विचार का समावेश पाया जाता है। इसमें वह सभी अर्जित संस्कार होते हैं जिन्हें व्यक्ति समाज का सदस्य होने के करण प्राप्त करता है।"[4] भारतीय प्राचीन ग्रंथो में संस्कृत का अर्थ संस्कार ही माना गया है।

सिंधु घाटी सभ्यता के विवरणों से यह साबित होता है कि आज के समय से लगभग 5000 साल पहले उत्तरी भारत के बड़े भाग में एक उच्च कोटि की संस्कृति का विकास हो चुका था। इसी तरह से वेदों में परिलक्षित भारतीय संस्कृति न सिर्फ प्राचीनता का एक प्रमाण है बल्कि वह भारतीय अध्यात्म और चिंतन की भी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर भारतीय संस्कृति से रोम और यूनानी संस्कृति से प्राचीन तथा मिश्र, सुमेरिया जैसी संस्कृतियों के समकालीन माना गया है। हाल के शोध से यह ज्ञात हुआ कि हरियाणा के भिर्राना से सिंधु घाटी सभ्यता की तिथि 8000 BC तक गई है यदि यह मान्यता स्वीकार कर ली जाए तो इतिहास में पुनर्लेखन की आवश्यकता बढ़ जाएगी। भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि हजारों सालों के बाद भी यह अपने मूल स्वरूप में जीवित है। जबकि मिश्र, असीरिया, यूनान और रोम की संस्कृतियां अपने मूल स्वरूप को विस्मृत कर चुकी है। भारत में नदियों, वट, पिपल जैसे वृक्षों सूर्य तथा अन्य प्राकृतिक देवी देवताओं की पूजा करने का काम शताब्दियों से चला आ रहा है। देवताओं की मान्यता, हवन और पूजा पाठ की पद्धतियों की निरंतरता आज के समय तक प्रभावित रही है। वेदों में और वैदिक धर्म में करोड़ों भारतीयों की आस्था और विश्वास आज भी उतना ही है जितना हजारों साल पहले था। गीता और उपनिषदों के संदेश हजारों साल से हमारे प्रेरणा और क्रम का आधार रहे हैं।

भारत में इस्लाम सांस्कृतिक कला का आगमन भी अरबों,तुर्कों और मराठों के माध्यम से हुआ। इसके बावजूद भारतीय संस्कृति का पृथक अस्तित्व बना रहा और नवजात संस्कृतियों से कुछ अच्छी बातें ग्रहण करने में भारतीय संस्कृति ने संकोच नहीं किया। ठीक यही स्थिति यूरोपीय जातियों के आने तथा ब्रिटिश साम्राज्य के कारण भारत में विकसित हुई। यद्यपि यह संस्कृतियां अब भारतीय संस्कृतियों का अभिन्न अंग है तथापि भारतीय इस्लाम एवं भारतीय इसी संस्कृतियों का स्वरूप विश्व के अन्य इस्लामी और ईसाई धर्मावलंबी देशों से भिन्न देखने को मिलता है।

हम देखते हैं कि भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का मूल आधार धर्म, हिंदू दर्शन तथा वेद है। जिसके कारण हम कह सकते हैं कि भारतीय या कोई भी संस्कृति जिसका आधार वास्तविक धर्म में है कभी नष्ट नहीं हो सकती या उसका रंग रूप बदल सकता है, शैली बदल सकती है। प्राचीन सूत्रों की व्याख्याएं बदल सकती है लेकिन धर्म की बुनियाद नहीं बदलती। विदेशियों के शासन के दौरान हजारों भारतीयों को बंधक अथवा मजदूर बनाकर देश में ले जाया गया, परंतु आज हम देखते हैं कि उन देशों में भी भारतीय संस्कृति, भारतीय भाषा, भारतीय परंपरा आगे बढ़ रही है चाहे वह मॉरीशस, सूरीनाम,फिजी,दक्षिण अफ्रीका अथवा इंग्लैंड या जिसके कारण भारतीय संस्कृति में भी बदलाव विकसित हो रहे हैं। हालांकि हम यह भी देखते हैं कि भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि हजारों वर्षों के बाद यह संस्कृति आज भी अपने मूल स्वरूप में जीवित है। जबकि असीरिया यूनान और रोम की संस्कृतियों अपने मूल स्वरूप को लगभग विस्मृत कर चुकी है।

भारतीय संस्कृति में संगीत, नृत्य,कला और विज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय वास्तुकला, संगीत और नृत्य विश्व में अद्वितीय माने जाते हैं। भारतीय संस्कृति में ध्यान, योग और तत्वज्ञान की महत्ता भी बहुत उच्च है। यहां कई धार्मिक और सामाजिक पर्व एवं उत्सव मनाए जाते हैं जो सामूहिक एकता और समरसता को बढ़ाते हैं। भारतीय भाषाएं जैसे की हिंदी, संस्कृत, तमिल और गुजराती इस संस्कृति की विविधता को दर्शाती है। भारतीय संस्कृति एक विश्वव्यापी और अमूल्य धरोहर है जिसका महत्व आज भी अद्वितीय है।

**निष्कर्ष :** भारतीय साहित्य और भारतीय संस्कृति परंपरा एक दूसरे के पूरक है। भारतीय साहित्य ने भारत की सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक और सांस्कृतिक चेतना को युगों से अभिव्यक्त किया है। वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, बौद्ध, जैन साहित्य, भक्ति एवं सूफी साहित्य से लेकर आधुनिक भारतीय साहित्य तक भारतीय जीवन मूल्यों और विविध सांस्कृतिक अनुभवों का व्यापक चित्रण मिलता है। भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की बात कहे तो पीढ़ी से पीढ़ी तक विरासत मूल्य और विश्वासों का एक समृद्ध वास्तुकार है। यह एक संस्कृति है जो वीरता का जश्न मनाती है और आध्यात्मिकता परिवार के मूल्य और आतिथ्य के गहरी जड़ों में उभरी है। आधुनिकीकरण और वैश्वीकरण द्वारा लाए गए बदलावों के बावजूद भारतीय संस्कृति फलती हुई है और यह दुनियाभर के भारतीयों के लिए एक गर्व का स्रोत है।

**संदर्भ ग्रंथ सूची :**

1. शर्मा रामविलास, भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश, किताब घर ।
2. ई.बी. टायलर, प्रिमितिव कल्चर, न्यूयॉर्क, पृष्ठ 1।
3. मिश्र जयशंकर, प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ 667।
4. सांस्कृतिक एवं मानववादी चेतना, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1979 पृष्ठ 11।
5. भारतीय संस्कृति एक परिचय खंड 1 ।
6. डॉ. नगेंद्र, भारतीय साहित्य का इतिहास।

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-106-109

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 106-109
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**
**डॉ. प्रियंका रानी**
असिस्टेन्ट प्रोफेसर–हिन्दी, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिंदकी, फतेहपुर

Corresponding Author :
**डॉ. प्रियंका रानी**
असिस्टेन्ट प्रोफेसर–हिन्दी, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिंदकी, फतेहपुर

# हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श

**सारांश :** हिंदी साहित्य में आदिवासी विमर्श समकालीन साहित्यिक चिंतन की एक महत्त्वपूर्ण धारा के रूप में उभरकर सामने आया है। आदिवासी समाज भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण अंग है, किंतु लंबे समय तक मुख्यधारा के साहित्य, इतिहास और विकास की अवधारणाओं में उसकी उपस्थिति हाशिये पर रही। जल, जंगल और जमीन से गहरे जुड़े आदिवासी समुदायों ने औपनिवेशिक शासन, सामंती व्यवस्था, पूँजीवादी विकास, विस्थापन, वन कानूनों तथा आधुनिक विकास परियोजनाओं के कारण निरंतर संघर्ष किया है। हिंदी उपन्यासों में इन संघर्षों, शोषण, विस्थापन, सांस्कृतिक संकट, अस्मिता–बोध तथा प्रतिरोध को विभिन्न रचनाकारों ने प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया है। संजीव का जंगल जहाँ शुरू होता है, रणेन्द्र का ग्लोबल गाँव के देवता, महुआ माजी का मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ तथा भगवानदास मोरवाल का काला पहाड़ आदि उपन्यास आदिवासी जीवन की विविध समस्याओं को सामने लाते हैं। इन रचनाओं में आदिवासी केवल करुणा अथवा सहानुभूति का पात्र नहीं है, बल्कि अपनी अस्मिता, अधिकार और अस्तित्व के लिए संघर्ष करने वाला सक्रिय मनुष्य है। प्रस्तुत शोध–पत्र में हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन, संस्कृति, शोषण, विस्थापन, स्त्री–चेतना, प्रकृति–संबंध और प्रतिरोध के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण किया गया है।

बीज शब्द **:** आदिवासी विमर्श, हिंदी उपन्यास, अस्मिता, जल–जंगल–जमीन, विस्थापन, शोषण, प्रतिरोध, आदिवासी संस्कृति।

**प्रस्तावना :** हिंदी साहित्य में विमर्शपरक लेखन ने उन सामाजिक समुदायों को अभिव्यक्ति प्रदान की है, जिन्हें लंबे समय तक मुख्यधारा की सामाजिक संरचना में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिला। दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, किसान विमर्श, श्रमिक विमर्श आदि के साथ आदिवासी विमर्श भी आज हिंदी साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र बन चुका है। आदिवासी विमर्श का मूल प्रश्न केवल गरीबी या पिछड़ेपन का प्रश्न नहीं है, बल्कि यह अस्मिता, अधिकार, संस्कृति, प्रकृति और अस्तित्व का प्रश्न है।

भारत में अनेक आदिवासी समुदाय सदियों से जंगलों और पर्वतीय क्षेत्रों में अपनी विशिष्ट जीवन–पद्धति, भाषा, लोकपरंपरा और सामुदायिक संस्कृति के साथ रहते आए हैं। उनका जीवन प्रकृति के साथ सह–अस्तित्व पर आधारित रहा है। जंगल उनके लिए केवल आर्थिक संसाधन नहीं, बल्कि जीवन, संस्कृति, आस्था और पहचान का आधार है। इसलिए जब जंगलों पर बाहरी नियंत्रण स्थापित होता है अथवा विकास परियोजनाओं के नाम पर भूमि अधिग्रहण और विस्थापन होता है, तब आदिवासी समुदाय के सामने केवल रोजगार या आवास की समस्या नहीं आती, बल्कि उसकी संपूर्ण सांस्कृतिक संरचना प्रभावित होती है।

हिंदी उपन्यासों ने आदिवासी जीवन की इन जटिलताओं को कथा के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। इन उपन्यासों में आदिवासी समाज के भीतर की समस्याओं के साथ–साथ बाहरी शक्तियों द्वारा किए जाने वाले शोषण का

भी चित्रण मिलता है।

**आदिवासी विमर्श : अवधारणा और स्वरूप :** 'आदिवासी' शब्द का सामान्य अर्थ है–किसी भू–भाग में प्राचीन काल से निवास करने वाला समुदाय। किंतु साहित्यिक और सामाजिक संदर्भ में आदिवासी की पहचान केवल उसकी प्राचीनता से निर्धारित नहीं होती। उसकी अपनी सामुदायिक संरचना, सांस्कृतिक परंपरा, लोकज्ञान, भाषा, प्रकृति से संबंध और विशिष्ट जीवन–दृष्टि भी उसकी पहचान के महत्त्वपूर्ण आधार हैं।

आदिवासी विमर्श उन सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रश्नों को केंद्र में लाता है जो आदिवासी समुदाय के जीवन को प्रभावित करते हैं। इसमें जल, जंगल और जमीन के अधिकार, विस्थापन, वनाधिकार, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, राजनीतिक प्रतिनिधित्व, सांस्कृतिक संरक्षण और लैंगिक प्रश्न प्रमुख हैं।

आदिवासी विमर्श की विशेषता यह है कि यह आदिवासी जीवन को केवल 'पिछड़े' या 'असभ्य' समाज के रूप में देखने वाली दृष्टि का विरोध करता है। आदिवासी समुदाय की अपनी ज्ञान–परंपरा और प्रकृति–केंद्रित जीवन–दृष्टि को सम्मान प्रदान करना इस विमर्श का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है।

**हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन का चित्रण :** हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन के चित्रण की परंपरा धीरे–धीरे विकसित हुई। आरंभिक रचनाओं में आदिवासी पात्र प्रायः मुख्य कथा के सहायक पात्र के रूप में दिखाई देते थे, किंतु समकालीन उपन्यासों में आदिवासी जीवन स्वयं कथा का केंद्रीय विषय बन गया है।

संजीव का उपन्यास जंगल जहाँ शुरू होता है आदिवासी जीवन और व्यवस्था के बीच संघर्ष को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें जंगल और आदिवासी जीवन के पारस्परिक संबंध के साथ–साथ प्रशासनिक व्यवस्था, अपराध, गरीबी और शोषण की जटिल स्थितियों को सामने लाया गया है। उपन्यास यह प्रश्न उठाता है कि जिस जंगल को आदिवासी अपने जीवन का अभिन्न अंग मानता है, उसी जंगल में उसकी स्थिति इतनी असुरक्षित क्यों है।

रणेन्द्र का ग्लोबल गाँव के देवता आदिवासी समाज के सामने उपस्थित आधुनिक आर्थिक शक्तियों और संसाधनों के कॉरपोरेट दोहन को केंद्र में रखता है। इसमें झारखंड के आदिवासी जीवन, खनिज संसाधनों और विकास के नाम पर होने वाले विस्थापन के प्रश्न को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास आधुनिक विकास मॉडल की उस विडंबना को उजागर करता है जिसमें प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध क्षेत्र का मूल निवासी स्वयं निर्धन और विस्थापित बना रहता है।

महुआ माजी का मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ आदिवासी समाज की त्रासदी और आधुनिक विकास की विसंगतियों को सामने लाने वाला उल्लेखनीय उपन्यास है। इसमें पर्यावरणीय संकट, परमाणु ऊर्जा, विस्थापन तथा आदिवासी जीवन पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभावों का चित्रण मिलता है। उपन्यास में विकास की उस अवधारणा पर प्रश्न उठाया गया है जिसमें स्थानीय समुदाय की सहमति और जीवन–सुरक्षा को पर्याप्त महत्त्व नहीं मिलता।

भगवानदास मोरवाल का काला पहाड़ भी हाशिए के समुदायों के जीवन और सामाजिक–आर्थिक संघर्षों को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इन रचनाओं के माध्यम से स्पष्ट होता है कि हिंदी उपन्यासकारों ने आदिवासी जीवन को केवल लोक–रंग या रोमांच के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसके सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ को भी अभिव्यक्ति दी है।

**जल, जंगल और जमीन का प्रश्न :** आदिवासी विमर्श का सबसे केंद्रीय प्रश्न 'जल, जंगल और जमीन' का है। आदिवासी समुदाय का जीवन इन तीनों प्राकृतिक संसाधनों से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ है। जंगल से उसे भोजन, औषधि, ईंधन और रोजगार मिलता हैय भूमि उसके निवास और कृषि का आधार है तथा जल उसके जीवन का अनिवार्य संसाधन है।

आधुनिक औद्योगिक विकास, खनन, बाँध, सड़क, रेल तथा अन्य परियोजनाओं के विस्तार ने आदिवासी क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर भूमि–अधिग्रहण और विस्थापन को जन्म दिया। उपन्यासकारों ने इस समस्या को केवल आर्थिक समस्या न मानकर सांस्कृतिक विस्थापन के रूप में भी देखा है।

विस्थापित आदिवासी जब अपने मूल स्थान से हटता है तो उसके साथ केवल उसका घर नहीं छूटता, बल्कि उसके देवी–देवता, पूर्वजों की स्मृतियाँ, सामुदायिक संबंध, लोकगीत, पर्व–त्योहार और जीवन–पद्धति भी प्रभावित होती है। इसलिए आदिवासी साहित्य में भूमि का प्रश्न वास्तव में अस्मिता का प्रश्न बन जाता है।

**शोषण और सत्ता–संरचना :** आदिवासी समाज का शोषण अनेक स्तरों पर हुआ है। साहूकार, ठेकेदार, जमींदार, वन विभाग, पुलिस, प्रशासन और आधुनिक कॉरपोरेट संस्थाएँ अलग–अलग रूपों में आदिवासी जीवन को प्रभावित करती रही हैं। अशिक्षा और आर्थिक अभाव के कारण आदिवासी समुदाय कई बार अपने अधिकारों और कानूनी प्रावधानों से भी अपरिचित रहता है।

हिंदी उपन्यासों में इस शोषण का चित्रण करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि आदिवासी गरीबी का कारण केवल उसकी तथाकथित 'पिछड़ी' जीवन–पद्धति नहीं है। उसके संसाधनों पर बाहरी नियंत्रण और उसके श्रम का अनुचित दोहन भी उसकी आर्थिक स्थिति के लिए उत्तरदायी है।

समकालीन आदिवासी विमर्श इस शोषण की संरचना को पहचानने और उसके विरुद्ध प्रतिरोध की चेतना विकसित करने पर बल देता है। उपन्यासों के पात्र अन्याय को स्वीकार करने के बजाय अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते दिखाई देते हैं।

**आदिवासी संस्कृति और अस्मिता :** आदिवासी संस्कृति प्रकृति और सामुदायिक जीवन से गहरे रूप में जुड़ी है। उनके लोकगीत, लोकनृत्य, पर्व, मिथक, धार्मिक विश्वास और सामाजिक संबंध उनकी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान का निर्माण करते हैं।

मुख्यधारा के समाज द्वारा आदिवासी संस्कृति को अक्सर 'लोक' या 'पिछड़ी संस्कृति' कहकर सीमित कर दिया

जाता है। हिंदी उपन्यास इस दृष्टि का प्रतिरोध करते हुए आदिवासी संस्कृति की आंतरिक समृद्धि को सामने लाते हैं। आदिवासी समुदाय की सामूहिकता, श्रम–विभाजन, प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता और संसाधनों के सामुदायिक उपयोग की परंपरा आधुनिक समाज के लिए भी महत्त्वपूर्ण संदेश देती है। इस दृष्टि से आदिवासी साहित्य केवल आदिवासी समाज का दस्तावेज नहीं, बल्कि आधुनिक सभ्यता की आलोचना का माध्यम भी है।

**आदिवासी स्त्री का संघर्ष :** आदिवासी विमर्श में आदिवासी स्त्री का प्रश्न विशेष महत्त्व रखता है। आदिवासी स्त्री परिवार, कृषि, जंगल और सामुदायिक जीवन में सक्रिय भूमिका निभाती है, फिर भी उसे आर्थिक, सामाजिक और लैंगिक शोषण का सामना करना पड़ता है।

आदिवासी स्त्री का संघर्ष दोहरे स्तर पर दिखाई देता है–एक ओर वह अपने समुदाय के अस्तित्व और अधिकारों की लड़ाई लड़ती है, दूसरी ओर उसे स्त्री होने के कारण अलग प्रकार के भेदभाव और हिंसा का सामना करना पड़ता है। विस्थापन और गरीबी की परिस्थितियाँ उसके जीवन को और कठिन बना देती हैं।

हिंदी उपन्यासों में आदिवासी स्त्री को केवल पीड़ित पात्र के रूप में प्रस्तुत करना पर्याप्त नहीं है। समकालीन रचनाएँ उसे संघर्षशील, निर्णयक्षम और प्रतिरोध करने वाली चेतना के रूप में भी प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार आदिवासी स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श और स्त्री विमर्श के बीच एक महत्त्वपूर्ण अंतर्संबंध स्थापित करता है।

**आदिवासी प्रतिरोध और संघर्ष–चेतना :** आदिवासी समाज के इतिहास में प्रतिरोध की लंबी परंपरा रही है। औपनिवेशिक शासन और स्थानीय शोषणकारी शक्तियों के विरुद्ध अनेक आदिवासी आंदोलनों ने जन्म लिया। बिरसा मुंडा का आंदोलन इस प्रतिरोध–परंपरा का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

हिंदी उपन्यासों में आदिवासी प्रतिरोध केवल हथियारबंद संघर्ष तक सीमित नहीं है। अपनी जमीन बचाने, जंगल पर अधिकार की माँग करने, अपनी भाषा और संस्कृति को सुरक्षित रखने तथा विकास परियोजनाओं के कारण होने वाले विस्थापन का विरोध करने की चेतना भी प्रतिरोध का ही रूप है।

समकालीन आदिवासी पात्रों में आत्मसम्मान और अधिकार–बोध का विकास दिखाई देता है। वे सत्ता के सामने अपनी आवाज उठाते हैं और अपने जीवन से संबंधित निर्णयों में अपनी भागीदारी की माँग करते हैं। यही परिवर्तन आदिवासी विमर्श को सहानुभूति–प्रधान लेखन से अधिकार–प्रधान लेखन की ओर ले जाता है।

विकास की अवधारणा और आदिवासी समाज

आधुनिक विकास की अवधारणा पर आदिवासी उपन्यास गंभीर प्रश्न खड़े करते हैं। बड़े बाँध, खनन परियोजनाएँ, औद्योगिक क्षेत्र और अन्य विकास योजनाएँ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए उपयोगी हो सकती हैं, लेकिन यदि इनके कारण हजारों परिवार विस्थापित होते हैं और उनके पुनर्वास की पर्याप्त व्यवस्था नहीं होती, तो विकास की सामाजिक कीमत पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

आदिवासी उपन्यास यह प्रश्न उठाते हैं कि विकास किसके लिए और किस कीमत पर? यदि किसी परियोजना से प्राकृतिक संसाधनों का दोहन तो होता है, लेकिन उस क्षेत्र के मूल निवासी अपने ही संसाधनों से वंचित हो जाते हैं, तो विकास की न्यायसंगतता पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है।

इस संदर्भ में आदिवासी जीवन–दृष्टि हमें विकास के ऐसे मॉडल की आवश्यकता का संकेत देती है जो पर्यावरणीय संतुलन, सामाजिक न्याय और स्थानीय समुदाय की भागीदारी पर आधारित हो।

**भाषा और लोक–संस्कृति का प्रश्न :** आदिवासी समाज की भाषाएँ और बोलियाँ उसकी सांस्कृतिक पहचान का अभिन्न हिस्सा हैं। भाषा के समाप्त होने का अर्थ केवल संचार के माध्यम का समाप्त होना नहीं है, बल्कि उसके साथ लोकस्मृतियों, मिथकों, गीतों और सामुदायिक ज्ञान का भी लोप हो सकता है।

हिंदी उपन्यासों में आदिवासी परिवेश की भाषा, लोकगीत, कहावतें और सांस्कृतिक प्रतीक कथा को स्थानीयता और प्रामाणिकता प्रदान करते हैं। इससे हिंदी साहित्य का भाषिक संसार भी व्यापक होता है।

आदिवासी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि उसने मुख्यधारा के साहित्य को यह समझने का अवसर दिया है कि भारत की सांस्कृतिक विविधता केवल महानगरीय या शास्त्रीय परंपराओं तक सीमित नहीं है। आदिवासी लोकजीवन भी भारतीय संस्कृति की बहुरंगी संरचना का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है।

**समकालीन संदर्भ में आदिवासी विमर्श :** वर्तमान समय में आदिवासी विमर्श की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ गई है। जलवायु परिवर्तन, पर्यावरण संकट, खनन, वन–संसाधनों का व्यावसायीकरण और विस्थापन जैसी समस्याएँ लगातार सामने आ रही हैं। इन परिस्थितियों में आदिवासी समाज की प्रकृति–केंद्रित जीवन–दृष्टि पर नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है।

समकालीन हिंदी उपन्यास आदिवासी जीवन को केवल अतीत की स्मृति के रूप में नहीं देखते, बल्कि वर्तमान राजनीतिक, आर्थिक और पर्यावरणीय परिस्थितियों से जोड़ते हैं। आदिवासी अस्मिता का प्रश्न आज लोकतंत्र, सामाजिक न्याय और मानवाधिकार के प्रश्न से जुड़ चुका है।

साहित्य की भूमिका यहाँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। साहित्य समाज के उन अनुभवों को सामने लाता है जिन्हें सत्ता और संस्थागत विमर्श कई बार अनदेखा कर देते हैं। आदिवासी उपन्यास इसी अर्थ में वैकल्पिक सामाजिक इतिहास और अनुभव का दस्तावेज भी बनते हैं।

**निष्कर्ष :** हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श ने साहित्य की संवेदना और दृष्टि दोनों को व्यापक बनाया है। इन उपन्यासों में

आदिवासी समाज की गरीबी और शोषण के साथ–साथ उसकी सांस्कृतिक शक्ति, प्रकृति के प्रति गहरा लगाव, सामुदायिक जीवन और संघर्ष–चेतना को भी अभिव्यक्ति मिली है।

संजीव का जंगल जहाँ शुरू होता है, रणेन्द्र का ग्लोबल गाँव के देवता और महुआ माजी का मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ जैसी रचनाएँ स्पष्ट करती हैं कि आदिवासी जीवन को समझने के लिए केवल आर्थिक दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं है। जल, जंगल और जमीन का प्रश्न उनकी अस्मिता से जुड़ा हुआ है। विस्थापन उनके लिए केवल भौगोलिक स्थान परिवर्तन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक अस्तित्व का संकट है।

आदिवासी विमर्श मुख्यधारा के समाज से यह अपेक्षा करता है कि वह आदिवासी समुदाय को दया या सहानुभूति की दृष्टि से देखने के बजाय समान अधिकार और सम्मान की दृष्टि से देखे। आदिवासी समाज के विकास की योजनाओं में उसकी भागीदारी, सहमति और सांस्कृतिक विशिष्टता को महत्त्व मिलना चाहिए।

इस प्रकार हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक अस्मिता, पर्यावरणीय चेतना और लोकतांत्रिक अधिकारों का व्यापक विमर्श है। इसकी सार्थकता इसी में है कि यह हाशिये की आवाज को केंद्र में लाता है और समाज को अधिक न्यायपूर्ण, संवेदनशील तथा समावेशी बनाने की दिशा में विचार उत्पन्न करता है।

**संदर्भ ग्रंथ :**

1. संजीव – जंगल जहाँ शुरू होता है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. रणेन्द्र – ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
3. महुआ माजी –मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. भगवानदास मोरवाल – काला पहाड़, संबंधित संस्करण।
5. रमणिका गुप्ता – आदिवासी विमर्श रू दशा और दिशा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. वंदना टेटे – आदिवासी साहित्य रू परंपरा और प्रयोजन, संबंधित प्रकाशन।
7. निर्मला पुतुल – नगाड़े की तरह बजते शब्द, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
8. रामचंद्र गुहा – भारत रू गांधी के बाद, पेंगुइनध्अन्य संस्करण।
9. भारतीय संविधान एवं आदिवासी समुदायों से संबंधित संवैधानिक प्रावधान।
10. जनजातीय कार्य मंत्रालय, भारत सरकार – जनजातीय समाज एवं विकास संबंधी प्रकाशित सामग्री।

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-110-113

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 110-113
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ.रीजा.आर.एस**

सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, क्रिस्त्यन कॉलेज काट्टाकडा, तिरुवनन्तपुरम, केरल, केरल विश्वविद्यालय

Corresponding Author :

**डॉ.रीजा.आर.एस**

सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, क्रिस्त्यन कॉलेज काट्टाकडा, तिरुवनन्तपुरम, केरल, केरल विश्वविद्यालय

# भारतीय चित्रकला की वैश्विक पहचान

**सार :** भारतीय चित्रकला की परंपरा अत्यंत प्राचीन एवं समृद्ध है,जिसका उल्लेख ऋग्वेद से लेकर विभिन्न ऐतिहासिक युगों तक मिलता है। भारतीय चित्रकला मूलतः भाव-प्रधान, कल्पनाशील और धर्म से अनुप्राणित रही है, जिसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन भारतीय चित्रकला के विविध आयामों, उसकी विषयगत और शैलीगत विशेषताओं तथा प्रमुख ऐतिहासिक केंद्रों का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करता है। भारतीय चित्रकला के चार मुख्य रूप हैं—भित्ति चित्र, चित्रपट, चित्र फलक और लघु चित्रांकन। अजनता, बाघ, एलोरा, एलीफेंटा, बादामी और सित्तनवासल जैसी गुफाएँ भारतीय कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त, इस अध्ययन में पाल, अपभ्रंश, जैन, राजपूत (मेवाड़, किशनगढ़, मारवाड़), मुगल, काँगड़ा, पहाड़ी तथा कंपनी शैली जैसी प्रमुख चित्रकला शैलियों के विकास का विस्तृत विवरण दिया गया है। भारतीय चित्रकला में रेखाओं की गतिशीलता, प्रतीकात्मकता तथा 'सत्यं शिवं सुंदरम्' की भावना सर्वोपरि रही है। आधुनिक युग में राजा रवि वर्मा ने भारतीय पौराणिक एवं साहित्यिक विषयों को यूरोपीय तकनीक और तंजौर शैली के समन्वय के साथ प्रस्तुत कर भारतीय कला को एक नई दिशा प्रदान की। भारतीय चित्रकला केवल बाह्य सौंदर्य का प्रदर्शन न होकर भारतीय समाज, संस्कृति और आध्यात्मिक चेतना की सशक्त मूक अभिव्यक्ति है।

मुख्य शब्द : भारतीय चित्रकला, भित्ति चित्र, अजंता गुफाएँ, राजपूत शैली, राजा रवि वर्मा

भारतीय चित्रकला की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में चमड़े पर बने अग्नि के चित्र का उल्लेख है। छठी सदी ईसा पूर्व चित्रकला के अस्तित्व की सूचना मिलती है। भारतीय चित्रकला भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। यह भारतीय समाज की मूक वक्ता है।भारतीय चित्रकला भाव-प्रधान चित्रकला है। इसलिए यह भावना, कल्पना तथा अलंकारिकता पर आधारित है। यह धर्म से भी संबन्धित रही है। इसीकारण भारतीय चित्रकला को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के साधन माना गया है। भारतीय चित्रकार ने सृष्टि के रचयिता के समान ही

एक घटना या विषय को एक ही चित्रफलक पर प्रस्तुत किया है। इसमें जंगल, सरोवर, उद्यान, रंग महल, पर्वत, प्रकृति तथा कथा के पात्र को एक साथ एक ही दृश्य में रूपांकित किया है।भारतीय चित्रकला के चार प्रमुख रूप हैं: भित्ति चित्र,चित्रपट,चित्र फलक और लघु चित्रांकन। भित्ति चित्र के नमूने बाघ, अजन्ता, बादामी एवं सित्तनवासल की गुहा भित्तियों पर मिलते हैं। चित्रपट चित्रांकन चमड़े या कपड़ों के टुकड़ों पर की जाती थी।चित्र फलक में चित्रांकन धातुओं, पत्थरों अथवा लकड़ी के टुकड़ों पर किया जाता है।लघु चित्रांकन प्रकार के चित्र किताबों के पृष्ठों पर, वस्त्रों के टुकड़ों पर अथवा छोटे-छोटे कागजी टुकड़ों पर बनाया जाता है।

भारत की चित्रकला का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। मुख्य रूप से इसकी विशेषताओं को दो भागों में बांट सकते हैं - विषयगत और शैलीगत विशेषताएँ। विषयगत विशेषताओं के अन्तर्गत आन्तरिक भाव की प्रधानता, कल्पना प्रधान और धर्म प्रधान चित्र आते हैं। भारतीय चित्रकला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि भारतीय चित्रकला काल्पनिक चित्रों के सृजन में अधिक रुचि लेता है। भारतीय चित्रकला का आधार धर्म ही है। प्रागैतिहासिक चित्रकला के बाद अधिकतर चित्र धर्म प्रधान ही हैं।भारतीय चित्रों की शैलीगत विशेषताओं के अन्तर्गत रेखाएँ, सपाट रंगों का प्रयोग, अलंकार प्रधान चित्र, सामान्य पात्र विधान, साहित्य पर आधारित चित्र आदि आते हैं। भारतीय चित्रकला प्रतीकात्मक है। कुछ प्रतीक यथार्थ हैं। धोती, लाठी, चश्मा गाँधीजी के प्रतीक हैं। सिर के पीछे प्रभावमण्डल देवत्व का प्रतीक है। चित्रकार नये-नये प्रतीकों का प्रयोग अपनी कृतियों में करते रहते हैं।भारतीय चित्रकला रेखा प्रधान है। डॉ. दिनेश चन्द्र गुप्त के शब्दों में - "भारतीय चित्रकला तो रेखा प्रधान है ही जब कि प्रकृति में हमें रेखा प्राप्त नहीं होती किन्तु मानव ने चित्रांकन के लिए रेखाओं का सहारा लिया जो आज तक चली आ रही है। वास्तव में भारतीय चित्रों में रेखाएँ आकर इतना बोध नहीं कराती जितना भाव का। भारतीय रेखाओं में गतिशीलता होती है। शरीर के अंगों के अधिक कोमल स्थानों पर इन रेखाओं में विशेष लोच आ जाती है। भारतीय चित्रों के रेखाओं में बाह्य सौन्दर्य के साथ ही गम्भीर भाव बड़ी कुशलता के साथ अभिव्यक्त किये गये हैं।"[1] भारतीय चित्रकार का मुख्य उद्देश्य भाव का अंकन है। इसलिए भारतीय चित्रों में छाया-प्रकाश की उपेक्षा की गयी है।भारतीय चित्रों में सत्य, शिव और सुन्दर का समावेश भी किया गया है। यह भारतीय चित्र की विशेषता है। भारतीय चित्रकला का आधार भारतीय साहित्य है। चित्रकार ने साहित्यिक विषयों को ग्रहण करके चित्रकला के माध्यम के अनुरूप प्रस्तुत किया है।

अजन्ता के चित्रों का निर्माण शुंग, कुषाण, गुप्त आदि राजाओं के समय में हुआ। इन चित्रों में शुंग, सातवाहन, चालुक्य, वाकाटक, कुषाण, गुप्त आदि विविध संस्कृतियों का संगम है। प्रकाश नारायण नाटाणी के शब्दों में - "अजन्ता की चित्र रचना में अक्षय सौन्दर्य तथा अमिट कला-तृष्णा का रहस्य यह है कि इनका निर्माण राज्याश्रित पेशेवर कलाकारों की जगह त्यागी, तपस्वी संन्यासियों ने सतत श्रम साधना करके विश्व को आश्चर्य में डालने वाले इतने महान कला मण्डप का निर्माण किया।"[2] अजन्ता में 30 गुफाएँ हैं। सभी गुफाओं में एक ही शैली के चित्र हैं। बाघ की गुफाएँ मध्य प्रदेश के धार जिले में हैं। बाघ, नर्मदा की एक सहायक नदी है। उसी नदी के तट पर ये गुफाएँ बनी हैं। इन गुफाओं की संख्या नौ है। इन गुफाओं को बौद्ध भिक्षुओं के निवास और बुद्ध के उपदेशों को सुनने के उद्देश्य से बनाया गया है।एलीफेन्टा का वास्तविक नाम धारा नगरी है। एलीफेन्टा नाम पुर्तगालियों द्वारा रखा गया है, क्योंकि वहाँ एक पत्थर का हाथी बना हुआ था। वर्तमान समय में वह हाथी मुंबई के प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम में रखा है।अजन्ता से लगभग 50 मील की दूरी पर एलोरा की गुफाएँ हैं। यहाँ कुछ मंदिरों में भित्ति चित्र बने हैं। उनमें कैलाशनाथ, लंकेश्वर, इन्द्रसभा और गणेश आदि के चित्र अत्यन्त आकर्षक हैं। यहाँ के चित्रों को देखने से प्रतीत होता है कि अजन्ता की शैली का ह्रास हो रहा है।बादामी की गुफाएँ मुंबई के नजदीक हैं। यहाँ के चार मंदिरों को चालुक्य राजाओं ने बनवाया था। मंदिरों में भित्ति चित्र हैं। वे उस समय की सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ कही जाती हैं।

सित्तनवासल तमिलनाडु प्रदेश में तंजौर के समीप स्थित है। पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन प्रथम और नरसिंहवर्मन द्वारा अनेक गुफा मंदिरों की दीवारों पर अजन्ता शैली में निर्मित किये गये अनेक चित्र हैं। वे अत्यन्त जीवन्त शैली के

हैं।अमीर खुसरो की कविताओं, देहलवी की ऐतिहासिक कविताओं, पाकशास्त्र की पुस्तकों, फिरदौसी के महाकाव्य एवं मुस्लिम विजेताओं की बहादुरी की लोककथाओं में सल्तनत कालीन चित्रकारी के बारे में सूचना मिलती है। सल्तनत काल में राजस्थान चित्रकला का एक दूसरा प्रधान केन्द्र था। 'देवकुल वाटिका' में कागज पर चित्रित 'सुपासनाह चरियम' नामक पाण्डुलिपि में सैंतीस चित्रों का चित्रांकन किया गया है। चित्रकला की राजस्थानी एवं उड़ीसा शैली इसमें आते हैं। उड़िया चित्रकला शैली का प्रारंभ सोलहवीं सदी के प्रारंभ से माना जाता है।चित्रकला का एक अन्य प्रमुख केन्द्र मांडू एवं जौनपुर में स्थित था, जहाँ 'कल्पसूत्र' की पाण्डुलिपि कागज पर चित्रित की गयी थी। दक्किनी चित्रकला शैली के मुख्य केन्द्र सित्तनवासल, बृहदीश्वर मन्दिर, त्रिपुरन्तकम् एवं पिल्लालमारी मन्दिरों के मण्डप इत्यादि हैं। चौदहवीं सदी से लेकर सोलहवीं सदी तक विजयनगर साम्राज्य में प्रचलित चित्रकला परम्परा चोल एवं पांड्य परंपरा में निर्मित की गयी है। इन चित्रों में चित्रकार की निपुणता एवं रंग भरने का अपूर्व कौशल अत्यन्त मार्मिक है।

धर्मपाल और देवपाल राजाओं के संरक्षण में अजन्ता के अनुकरण पर बंगाल में एक शैली का निर्माण हुआ। उसके प्रमुख चित्रकार धीमान तथा वित्तपाल थे। इसका प्रभाव तिब्बत तक हुआ। पाल शैली का प्रमुख केन्द्र पूर्वी भारत था। उस समय के चित्र और कलाकृतियाँ भारत के अनेक संग्रहालयों में आज भी सुरक्षित हैं। बंगाल में नीलमणिदास, बलरामदास और गोपालदास का नाम बंगाल की गौड़ शैली से जुड़ा हुआ है। इन्होंने रामायण, महाभारत तथा पुराण आदि पर आधारित अनेक चित्र वस्त्रों पर बनाये हैं। इन्हीं को पट चित्र कहा गया। तिब्बत और नेपाल के पट चित्र अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए पट चित्रों का प्रयोग पहले से ही हो रहा था। 1924 में डॉ. आनंद कुमारस्वामी इस शैली को प्रकाश में लाये। इस शैली को गुर्जर या गुजराती शैली कहा जाता है। गुजराती चित्र शैली ने राजपूत चित्र शैली को जन्म दिया।

गुजरात के बाहर तथा गुजरात में जैन और जैनेतर ग्रन्थों में ऐसे अनेक चित्र प्राप्त हुए हैं। इन चित्रों की शैली को राय कृष्णदास ने अपभ्रंश शैली कहा। इसका कारण यह है कि इन चित्रों में किसी नवीन शैली का विकास नहीं हुआ है। इस शैली का प्रमुख केन्द्र जौनपुर था। जैन चित्रकला की ऐतिहासिक उपलब्धि 7वीं शताब्दी से है। इसका प्रमाण सित्तनवासल गुफा की 5 जैन मूर्तियाँ हैं। सम्राट हर्ष के समकालीन पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन के समय बनी 15वीं शताब्दी से पूर्व जितने भी चित्र प्राप्त हुए हैं उन सब में प्राचीन जैन चित्र हैं। जैन चित्रों में आँख की बनावट दर्शनीय है। राजपूत चित्रकला भारत में मुसलमानों की सल्तनत प्रतिष्ठित होने से पहले की है। मुगल सल्तनत के समय में भी हिन्दू चित्रकारों द्वारा जिस चित्र शैली का निर्माण एवं विकास हो रहा था वही राजपूत शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई। राजपूत शैली विशुद्ध हिन्दू परम्परा पर आधारित है।

16वीं और 17वीं शताब्दी में मेवाड़ शैली अपने अभ्युदय पर थी। भारतीय चित्रकला का यह स्वर्णिम युग था। इस शैली का विकास मुगल कला से प्रभावित होने के कारण एक नई शैली के रूप में हुआ। उसे मेवाड़ शैली कहा गया। यह राजपूत शैली की एक महत्वपूर्ण शाखा है। इसका विकास 17वीं शताब्दी में हुआ। मारवाड़ शैली की एक उन्नत शाखा किशनगढ़ शैली थी। किशनगढ़ एक समय वल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्रों में से था, अतः किशनगढ़ के प्राचीन चित्रों में उसका प्रभाव है। राजपूत शैली की एक समृद्ध एवं प्रभावशाली शाखा कोटा एवं बूँदी के नाम से प्रसिद्ध है। मारवाड़ केन्द्र ने मुगल कलम एवं परम्परा को पूर्णतः ग्रहण कर लिया था। इसमें अंतर केवल विषयों के चयन में था। 1526 ई. में मुगलों के आगमन के साथ एक नूतन शैली भारत आयी, जिसे फारस के महान् चित्रकार बहजाद ने विकसित किया। पहाड़ी शैली की अनेक शाखाओं में काँगड़ा उल्लेखनीय है। कटोच राजवंश के राजा संसारचंद के कार्यकाल में काँगड़ा शैली का विकास हुआ।

पहाड़ी चित्रकला का विकास पंजाब के पहाड़ी क्षेत्रों में हुआ। डॉ. दिनेश चन्द्र गुप्त के शब्दों में - "पहाड़ी शैली के चित्रों में पृष्ठभूमि का अंकन अनोखा है जो मूल चित्र विषयक वातावरण की सृष्टि में जीवन भर देते हैं।"[3] यही

कारण है कि भारतीय चित्रकला के इतिहास में अजन्ता के बाद पहाड़ी शैली की चित्राकृतियों का उल्लेख किया जाता है।इस शैली में सामाजिक और धार्मिक दोनों प्रकार के चित्र हैं। कई चित्र रागमालाओं पर आधारित हैं।थंका तिब्बत की विश्वविख्यात चित्रकला शैली है। इसकी विषयवस्तु भगवान् बुद्ध के जीवन से जुड़ी विभिन्न घटनाएँ हैं।यह बसौली शैली से मिलती-जुलती है, जिसका प्रादुर्भाव 18वीं सदी के प्रारंभ में हुआ। राजा दिलीप सिंह ने इस शैली को संरक्षण दिया।

बनारस में कम्पनी चित्रकला के विकास और उसको बढ़ाने का पूरा श्रेय महाराजा ईश्वरी नारायण सिंह जी को है। महाराजा ईश्वरी नारायण सिंह ने अनेकों कम्पनी चित्रकारों को अपने यहाँ संरक्षण एवं सम्मान प्रदान किया। डॉ. शकुन्तला मौर्य के शब्दों में - "यूरोपीय चित्रकला भारतीय चित्रकला से भिन्न प्रकार की चित्रशैली थी जो यूरोपीय देशों से आयी थी। यूरोपीय चित्रकारों ने भारतीय चित्रकारों को अपनी शैली में प्रशिक्षण दिया जिसके फलस्वरुप भारतीय कलाकारों ने यूरोपीय विधान के संग महीनकारी भी मिला दी। यही विशेषता यूरोपीय चित्रकला से कम्पनी चित्र शैली को पृथक करती है।"[4] कम्पनी चित्रों के योगदान के परिणाम स्वरुप भारतीय चित्रों में छाया-प्रकाश के द्वारा चित्रों को प्रभावशाली तथा स्वाभाविकता के साथ दिखाया जाने लगा।

राजा रवि वर्मा को आधुनिक चित्रकारों के बीच में पारम्परिक और पारम्परिक कलाकारों में आधुनिक कहा जाता है। अपने चित्रों में उन्होंने आधुनिक तकनीक का उपयोग भारत के प्राचीन साहित्य के मर्मस्पर्शी एवं संवेदनशील अंशों को चित्रित करने के लिए किया। डॉ. एन. चन्द्रशेखरन नायर जी के शब्दों में - "उनका यह उत्तर जो सुना गया उस पर स्वयं रवि वर्मा नामधारी भारतीय व्यक्तित्व पहचाना जा सकता था। वह भविष्य में भारतीय साहित्य, मीमांसा एवं संस्कृति को चित्ररूपी बनाने वाली अपनी चित्रकला की ओर भी प्रकाश डालने वाला एक संदेश भी था।"(5) राजा साहब ने तंजौर कला शैली एवं यूरोपीय कला के प्रभावों से अपनी प्रियदर्शी चित्रभाषा गढ़ी है।भारतीय चित्रकला एक भाव-प्रधान चित्रकला रही है। उसकेलिए यथार्थता का कोई महत्व नहीं था। इसलिए भारतीय चित्रकला भावना, कल्पना तथा अलंकारिकता पर आधारित थी। उसमें समन्वय तथा आदर्शवाद का उचित स्थान था।

भारतीय चित्रकला केवल एक कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं, अपितु यह भारत की समृद्ध सांस्कृतिक, आध्यात्मक और सामाजिक चेतना का दर्पण है। ऋग्वेदकालीन उल्लेखों से लेकर आधुनिक युग तक का इसका विकासक्रम यह सिद्ध करता है कि भारतीय चित्रकला सदैव जीवन और दर्शन से गहराई से जुड़ी रही है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का साधन मानी जाने वाली यह कला मूलतः भाव-प्रधान, कल्पनाशील तथा अलंकारिक है। अजंता, बाघ और एलोरा की प्राचीन गुफाओं के भित्ति चित्रों से लेकर पाल, राजपूत, मुगल, पहाड़ी और कंपनी शैली तक, भारतीय चित्रकला ने समय के साथ अनेक वैविध्यपूर्ण आयामों को आत्मसात किया। इसमें रेखाओं की गतिशीलता, प्रतीकात्मकता तथा 'सत्यं शिवं सुंदरम्' के आदर्श का सुंदर समन्वय देखने को मिलता है। आधुनिक काल में राजा रवि वर्मा जैसे महान कलाकारों ने यूरोपीय तकनीक और भारतीय पौराणिक एवं साहित्यिक विषयों का अद्भुत संगम प्रस्तुत कर इसे एक वैश्विक पहचान दिलाई। भारतीय चित्रकला बाह्य यथार्थवाद के स्थान पर आंतरिक भावों, मानवीय संवेदनाओं और सांस्कृतिक मूल्यों के अंकन को प्राथमिकता देती है। यह कला शैली अतीत की समृद्ध विरासत को सहेजने के साथ-साथ वर्तमान और भविष्य की कला-साधना के लिए भी एक अनंत प्रेरणा स्रोत बनी हुई है।

**संदर्भ ग्रन्थ सूची :**

1. डॉ. दिनेश चन्द्र गुप्त, (2005), भारत की चित्रकला, धर्मा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.19
2. प्रकाश नारायण नाटाणी, (2008), भारतीय कला के विविध आयाम, महेश बुक डिपो,जयपुर, पृ.49
3. डॉ. दिनेश चन्द्र गुप्त, (2002), भारतीय चित्रकला में नारी अंकन, धर्मा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.173
4. डॉ. शकुन्तला मौर्य, (2003), भारतीय कम्पनी चित्रकला, स्वाती पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृ.53
5. डॉ. एन. चन्द्रशेखरन नायर, (2004), चित्रकला सम्राट राजा रवि वर्मा, अभिषेक प्रकाशन, दिल्ली, पृ.23

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-114-118

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 114-118
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**तेजस्विनि दिगम्बर वेर्णेकर**

शोधार्थी, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

**शोध निर्देशक :**

**प्रो0 रामशंकर**

आचार्य, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Corresponding Author :

**तेजस्विनि दिगम्बर वेर्णेकर**

शोधार्थी, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

## ख़्याल गायकी की संरचना में निहित सौंदर्यतत्व

**शोध सारांश :** हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की गायन शैलियों में 'ख्याल गायकी' सर्वाधिक लोकप्रिय, समृद्ध और अभिव्यक्तिपूर्ण शैली के रूप में प्रतिष्ठित है। 'ख्याल' का अर्थ 'विचार','कल्पना' होता है।उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत की विविध गायन शैलियों में 'ख्याल' गायकी अपनी स्वतंत्रता, कल्पनात्मकता, रचनात्मकता एवं शास्त्रीय अनुशासन के अद्वितीय संतुलन के लिए जानी जाती है। प्रस्तुत शोध-पत्र ख्याल गायकी की आंतरिक संरचना तथा उसके मूलभूत सौंदर्यात्मक तत्वों को एक सरल एवं स्पष्ट दृष्टिकोण से विश्लेषित करता है। यह अध्ययन दर्शाता है कि ख्याल की प्रस्तुति केवल स्वरों का सुन्दर प्रदर्शन मात्र नहीं है, बल्कि यह एक सुविचारित और व्यवस्थित रचनात्मक, भावनात्मक एवं कलात्मक ढाँचे पर आधारित होती है। प्रस्तुत शोध-पत्र में ख्याल गायकी के संरचनात्मक विशेषताओं (स्थायी-अंतरा, आलाप, बोल-आलाप, तान, बोल-तान, मींड, गमक आदि) तथा इसके सौंदर्यशास्त्रीय आयामों का विशद विश्लेषण किया गया है। ख्याल गायकी में 'स्वर' और 'शब्द' के संतुलन के साथ-साथ 'लय' की सूक्ष्म गतियों का सौंदर्य निहित है। लयबद्ध गायन की अवधारणा के प्रकाश में विभिन्न घरानों की सौंदर्यपरक गायन शैलियों का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है।यह शोध आलेख से यह निष्कर्ष निकालता है कि ख्याल गायकी केवल नियमों का समुच्चय न होकर, राग-सौंदर्य और व्यक्तिगत भावाभिव्यक्ति की एक समृद्ध कलात्मक और सृजनात्मक शास्त्रीय परंपरा है, जो आज भी भारतीय कला-संगीत का केंद्र बिंदु बनी हुई है।

**बीज शब्द** : ख़्याल, गायकी, बंदिश, सौंदर्य, घराना।

**भूमिका :** भारतीय संगीत के मुख्यरुप से दो प्रकार है।शास्त्रीय संगीत तथा लोक संगीत। शास्त्र एवं लक्षणग्रंथों में नियमानुसार परिभाषित संगीत को शास्त्रीय संगीत कहना उचित होगा। वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल तक भारतीय शास्त्रीय संगीत ने शास्त्र एवं क्रियात्मक प्रस्तुतीकरण में अनेक प्रकार के परिवर्तनों को अपनाया है। इसी

परिवर्तनशीलता से संगीत के गायन विधाओं में अनेक शैलियों का जन्म हुआ।जिसके परिणामस्वरूप वर्तमान के ख़याल गायन शैली की उत्पत्ति एवं विकास हुआ है। ख़याल यह शब्द का अनुवाद विभिन्न रूपों में किया गया है जैसे कि विचार, चिंतन, कल्पना, व्यक्तिपरकता इत्यादि। वर्षों पूर्व विकसित हुई यह परम्परा आज भी इतना जनप्रिय और प्रभावशाली क्यों है? Prof. Bonnie Wade ने अपने पुस्तक Khayala - Creativity within north India's classical music traditions में कहा है "Among all Hindustani vocal genres, the khayala provides its performers the greatest opportunity and challenge to display the depth and breadth of musical knowledge and skills. It's essence lies in the manner, in which artists take the characteristics that distinguish khayala as a genre, make the choices that lie within their group traditions, summon their own creative individuality, and create a unique khayala at each performance." इस व्याख्या से यह कह सकते है कि ख़्याल गायन गायक के कल्पना शक्ति को निरंतर चुनौतियाँ देता है तथा मनुष्य की कल्पनाशक्ति की कोई सीमा नहीं है। जब वह मनुष्य एक गायक हो तब उसे कलात्मक तथा भावात्मक रूप में सृजनशीलता से अपने कल्पनाओं को संगीत द्वारा अभिव्यक्त करने का तथा गायन के प्रत्येक तत्वों को श्रोताओं के सामने लाने का व्यापक एवं सर्वोच्च अवसर ख़याल गायन शैली प्रदान करता है।

उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में ख्याल गायकी स्वर, ताल, काकु और भावाभिव्यक्ति का सर्वाधिक संतुलित एवं लोकप्रिय गायन शैली है। यद्यपि ख़्याल गायन शैली में गायक को राग के नियमों के भीतर रहते हुए राग का विस्तार, आलाप, तान और लयात्मक प्रयोगों की स्वतंत्रता अवश्य मिलती है, परन्तु यह स्वतंत्रता स्वेच्छाचारी या नियमहीन नहीं होती। ख़्याल गायकी के भीतर एक अत्यंत वैज्ञानिक, सुव्यवस्थित और सौंदर्यशास्त्रीय संरचना निरंतर सक्रिय रहती है।

**ख़्याल गायकी की संरचनात्मक तत्व :** ख़्याल गायकी की संरचना अत्यंत वैज्ञानिक और क्रमिक होती है। यह गायक को शून्य से शुरु करके किसी भी राग का भव्य और सुदृढ़ तथा सालंकृत भवन निर्माण करने का अवसर प्रदान करता है। ख़्याल मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित है: बड़ा ख़्याल अथवा विलंबित ख़्याल एवं छोटा ख़्याल अथवा द्रुत ख़्याल। बड़ा ख़्याल एवं छोटा ख़्याल की अपनी स्वतंत्र साहित्यिक रचनाएँ अथवा बंदिश होती है जो स्थायी एवं अंतरा में पुनर्विभाजित है। बंदिश ख़्याल गायकी की आत्मा और संरचनात्मक नींव है। बंदिश के दो मुख्य भाग होते हैं-

1. स्थाई- यह राग के मन्द्र और मध्य सप्तक का प्रतिनिधित्व करती है। यह राग के मुख्य रूप और उसके वादी-संवादी स्वरों का आधार प्रस्तुत करती है।

2. अंतरा- यह मुख्य रूप से तार सप्तक के स्वरों को स्पर्श करती है और रचना को पूर्णता प्रदान करती है।

**बड़ा ख्याल (विलंबित ख्याल) :** बड़ा ख्याल अति-विलंबित या विलंबित लय (धीमी गति) में गाया जाता है। इसके गायन में मुख्यरूप से एकताल, झूमरा, तिलवाड़ा, और त्रिताल प्रयुक्त होती हैं।बड़ा ख़्याल गायन को राग की पूर्ण प्रस्तुति अवधि का 60% से 70% समय प्राप्त है। इसकी संरचना इस प्रकार है।

आलाप:राग के स्वरों का धीमा, भावपूर्ण और बिना लयबद्धता से राग का विस्तार।

बोल-आलाप: बंदिश के शब्दों (बोलों) के साथ राग के स्वरों का विलंबित विस्तार।

**छोटा ख़्याल (द्रुत ख्याल) :** बड़ा ख़्याल समाप्त होने के बाद द्रुत (मध्य या तेज) लय में छोटा ख़्याल गाया जाता है। इसमें सामान्यतः त्रिताल, झपताल, या द्रुत एकताल का प्रयोग होता है। यह राग के द्रुत और चंचल सौंदर्य को उजागर करता है। छोटा ख़्याल प्रस्तुति के लिए 30% से 40% समय प्राप्त है।इसकी द्रुत गति की प्रस्तुति में प्रमुख आकर्षण तत्व तानकारी है।द्रुत गति में स्वरों का तीव्र विस्तार को तान कह सकते है। तानों के कई प्रकार होते हैं: सपाट तान, वक्र तान, गमक की तान, बोल-तान, और छूट की तान इत्यादि।

ख़्याल की शुरुआत धीमी गति में बंदिश की 'स्थाई' गाने से होती है। गायक पूरी स्थाई गाकर ताल की पहली मात्रा यानी 'सम्' पर आता है। स्थाई केवल गीत की दो पंक्तियाँ नहीं हैं, बल्कि यह उस राग का एक प्रामाणिक नक्शा प्रस्तुत करती है। यदि स्थाई को सही ढंग से गाया जाए, तो वह श्रोता को निम्नलिखित बातें तुरंत बता देती है:
राग के मुख्य स्वर- राग में कौन-से स्वर प्रयुक्त होंगे और कौन-से वर्जित हैं।
राग का स्वरूप- राग में स्वरों का चलन और राग का मुख्य स्वरूप के दर्शाता है।
स्वरों का महत्त्व- किस स्वर पर ज़्यादा रुकना है (वादी/संवादी) और किस पर कम।
स्वरों का लगाव- स्वर को सीधा लगाना है या मींड/आंदोलन के साथ वक्र करके।
जब गायक इस मूल ढाँचे को अच्छी तरह स्थापित कर लेता है, तो इसी बीज से नए-नए स्वरों और रागनियमों से युक्त नवीन रचनाएँ अंकुरित होने लगते हैं, जिन्हें 'उपज' कहा जाता है।

**ख़्याल गायकी में सौंदर्य तत्व :**

- **स्वर सौंदर्य :** भारतीय संगीत में सौंदर्य केवल बाहरी आकर्षण नहीं है, बल्कि यह नाद-ब्रह्म की अनुभूति और रस-निष्पत्ति का साधन है। ख्याल गायकी का सौंदर्य केवल सीधे स्वरों के उच्चारण में नहीं, बल्कि स्वरों के बीच के सूक्ष्म संबंधों में है:

मींड- एक स्वर से दूसरे स्वर तक बिना आवाज़ तोड़े निरंतरता के साथ जाने की क्रिया। मींड ख्याल को ध्रुपद जैसी गंभीरता और गहराई प्रदान करती है।
गमक और कण स्वर- स्वरों में कंपन और मुख्य स्वर को स्पर्श करने वाले सूक्ष्म स्वर ख्याल को अत्यधिक सुंदर बनाते हैं।
काकु-भेद- कंठ-ध्वनि को भाव के अनुकूल मोड़ना।

- **लय और 'सम्' का सौंदर्य :** लय समय का वह सौंदर्यशास्त्रीय मापदंड है जो स्वर की अवधि, उसके ठहराव, मींड के विस्तार और कण-स्वरों के सूक्ष्म प्रयोग को मापता है। तबले द्वारा बजाया जाने वाला ठेका अपनी निश्चित गति से चलता है, जबकि गायक का अपना लयात्मक प्रवाह स्वतंत्र और कार्यात्मक होता है। जब स्वर और लय का पूर्ण संतुलन स्थापित होता है, तब एक सजीव नाद-स्थापत्य निर्मित होता है।

ख़्याल गायकी में ताल केवल समय नापने की इकाई नहीं है, बल्कि वह सौंदर्य का एक गतिमान ढांचा है।ख्याल प्रस्तुति की एक विशेषता यह है कि इसमें एक साथ दो तरह की लय काम करती हैं:
मानक लय- तबला वादक एक निश्चित गति से ठेका बजाता रहता है (जैसे 12 मात्रा का एकताल या 16 मात्रा का त्रिताल)। इसे हम मानक लय कहते हैं।
कार्यात्मक लय- दूसरी ओर, गायक जब स्वरों की तान या आलाप लेता है, तो वह तबले की हर मात्रा पर स्वर नहीं टकराता। उसकी अपनी एक स्वतंत्र लय होती है जिसे कार्यात्मक लय कहते हैं। गायक की यह लय तबले की लय से अलग होते हुए भी उससे जुड़ी रहती है।
सम् की प्रतीक्षा : विलंबित ख्याल में 'सम्' (ताल की पहली मात्रा) का आगमन में आनंद की पराकाष्ठा होता है। जब गायक का राग के विस्तृत आलाप या जटिल तान के बाद आवर्तन के चक्र पूरा करके सटीक 'सम्' पर बंदिश के मुखड़े के साथ आगमन होता है, तो श्रोता को एक अद्भुत और भावनात्मक विश्राम के संतुलन का अनुभव होता है।

जब गायक उपज में नए-नए स्वरों की तान या आलाप लेता है, तो श्रोता के मन में एक तरह का खिंचाव या तनाव बनता है। श्रोता सोचता है कि गायक इस कठिन स्वर-जाल से बाहर कैसे निकलेगा।इसके बाद, जब गायक अपनी तान को समेटते हुए बंदिश के मुखड़े के साथ मिलाकर ताल की पहली मात्रा यानी सम् पर आता है, तो श्रोता को एक अद्भुत शांति और सुकून मिलता है। संगीत में सम् पर आने का मतलब केवल ताल मिलाना नहीं है, बल्कि मन

की शांति यानी एक संतुलन या समाधान प्राप्त करना है।

अनागत और अतीत : सम से ठीक पहले या ठीक बाद में उतरने की सूक्ष्म लयकारी से उत्पन्न होने वाला सौंदर्य ख्याल को विशिष्ट बनाता है।

- **रस-निष्पत्ति और भाव-सृजन :** भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के अनुसार कला का अंतिम उद्देश्य रस की निष्पत्ति है। ख्याल गायकी में मुख्य रूप से निम्नलिखित रसों की प्रधानता होती है-

1. श्रृंगार रस- नायक-नायिका भेद, मिलन या विरह के भाव।अधिकतर ख़्याल की बंदिशें इसी रस में रचे गए हैं।

2. शांत और करुण रस- विलंबित ख्याल में राग के गंभीर स्वरों (जैसे भैरव, तोड़ी, मारवा, दरबारी) के माध्यम से शांत और गम्भीर वातावरण का निर्माण होता है।

3. अद्भुत रस- तीव्र गति की आश्चर्यजनक तानों और जटिल लयकारी से अद्भुत रस की सृष्टि होती है।

- **प्रस्तुति के क्रमिक विकास में सौंदर्य :** ख्याल गायकी में प्रस्तुति का क्रम एक निश्चित सौंदर्यशास्त्रीय उद्देश्य को पूरा करता है।

1. बंदिश का निरुपण- राग के मूल स्वरुप को स्थापित करना।

2. आलाप एवं बोल-आलाप- धीमी गति में स्वरों का क्रमिक विस्तार और साहित्य के शब्दों के साथ राग-चित्रण।

3. बोल-तान- मध्य लय में बंदिश के बोलों को तालबद्ध रूप में पिरोकर लयात्मक प्रदर्शन।

4. तान- द्रुत गति में स्वरों की तीव्र, जटिल और अलंकृत विविधता पेश करना।

5. अंतिम चरण- प्रस्तुति के अंतिम क्षणों में आलाप, बोल-तान और तानों का त्वरित और एकीकृत प्रयोग, जो सौंदर्यिक तनाव को उच्चतम बिंदु पर पहुँचाता है।

- **कल्पनाशीलता :** ख्याल का शाब्दिक अर्थ ही 'विचार' है। ख्याल का असली सौंदर्य गायक की उस मानसिक क्षमता में है, जिससे वह एक ही राग के सीमित स्वरों के आधार पर हर बार एक नया और अनूठा सौंदर्य रचता है।यह पूर्वनियोजित नहीं रहता बल्कि उसी क्षण में स्वयं की सोच से उत्पन्न होता है।गायकी की इसी कल्पनाशीलता और रचनात्मकता के चलते ख़्याल गायन me विभिन्न घरानों का भी जन्म हुआ।

**विभिन्न घरानों का सौंदर्य :** लय और स्वर की प्राधान्यता के आधार पर उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत के मुख्य घरानों की गायकी को आसानी से समझा जा सकता है:

**ग्वालियर घराना :**

संरचना- इसे ख्याल गायकी की सबसे प्राचीन घराना माना जाता है। इसमें अष्टंग गायकी (आलाप, बोल-आलाप, बोल-तान, तान, मींड, गमक, बहलावा, तिहाई) का पूर्ण और संतुलित समावेश होता है।

सौंदर्य- इसकी शैली सीधी, खुली आवाज़, और शास्त्रीय शुद्धता से परिपूर्ण होती है।

**किराना घराना :**

संरचना- इसमें 'ताल' की तुलना में 'स्वर' और उसके सूक्ष्म भराव पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता है।

सौंदर्य- विलंबित आलाप का क्रमशः एक-एक स्वर का सूक्ष्म भराव के साथ धीमे गति से कण स्वरयुक्त अलाप करके विस्तार। इसमें अत्यंत करुण, शांत और भक्तिमय वातावरण निर्मित होता है। स्वर निरंतरता पर अधिक बल देता है।

**आगरा घराना :**

संरचना- इस घराने पर ध्रुपद शैली का गहरा प्रभाव है। गायन की शुरुआत 'नोम-तोम' के आलाप से होती है।

सौंदर्य- जोरदार, बुलंद और गूंजदार आवाज़, 'बोल-बनाव' तथा लयकारी का आक्रामक और ओजस्वी प्रदर्शन।सम् पर आने से पहले जटिल लयकारीयों का प्रयोग किया जाता है।

**जयपुर-अतरौली घराना :**

संरचना- इसमें अप्रचलित और 'जोड़-रागों' का प्रयोग अधिक होता है।
सौंदर्य- गणितीय रूप से सटीक वक्र तानें, निरंतर बहती हुई लय और बंदिश की बनावट में अद्भुत समागम।

**पटियाला घराना :**

संरचना- उस्ताद फतेह अली खान, उस्ताद अली बख्श और बाद में उस्ताद बड़े गुलाम अली खान द्वारा विकसित।
सौंदर्य- पंजाब अंग की नज़ाकत, टप्पा शैली की चपलता, तीव्र गति की सपाट तानें और सरगम गायकी का अत्यंत सुरीला व भावुक प्रयोग। सरगम और अलंकृत स्वर-संगतियों के विशेष प्रयोग।

**निष्कर्ष :** प्रस्तुत विश्लेषणात्मक अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि 'ख्याल गायकी' हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की एक ऐसी परिपक्व शैली है, जो शास्त्रीय अनुशासनात्मकता और रचनात्मक स्वतंत्रता के बीच एक अद्वितीय संतुलन स्थापित करती है।ख्याल गायकी उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत का वह वटवृक्ष है, जिसकी जड़ों में ध्रुपद का अनुशासन है और जिसकी शाखाओं पर कल्पनाशीलता और रचनात्मकता के अनंत पुष्प खिलते हैं। इसकी संरचना वैज्ञानिक, सुव्यवस्थित और क्रमिक है—जो विलंबित के गंभीर आलाप से शुरू होकर द्रुत ख्याल की तीव्र तानों तक जाती है।

सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से, ख्याल गायकी केवल स्वर और ताल का तकनीकी प्रदर्शन नहीं है, बल्कि यह नाद के माध्यम से मनुष्य की चेतना, भावनाओं और सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति है। विभिन्न घरानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इसके संरचनात्मक और सौंदर्यपरक क्षितिजों का विस्तार किया है।

आज के आधुनिक युग में, जब संगीत के रूप तेज़ी से बदल रहे हैं, ख्याल गायकी अपनी सुंदर संरचना और असीम सौंदर्य की संभावनाओं के कारण अपनी शास्त्रीय प्रासंगिकता और लोकप्रियता को बनाए हुआ है। यह सिद्ध करती है कि परंपरा जब स्वतंत्रता के साथ जुड़ती है, तो वह कालजयी बन जाती है।

अंततः, ख्याल गायकी केवल स्वर और ताल का तकनीकी प्रदर्शन नहीं है, बल्कि यह समय, स्वर और मनोविज्ञान के सामंजस्य से निर्मित होने वाले नाद की यात्रा है।

**संदर्भ ग्रंथ सूची :**

1. Deshpande, V. H. (1973). Indian Musical Traditions: An Aesthetic Study of Gharanas in Hindustani Music. Bombay: Popular Prakashan.
2. Raja, Deepak S. (2005). Hindustani Music: A Tradition in Transition. New Delhi: D.K. Printworld.
3. Raja, Deepak S. (2009). Khayal Vocalism: Continuity Within Change. New Delhi: D.K. Printworld.
4. Deshpande, V. H. (1972). Aesthetic Laws of Khyal. The Journal of the Indian Musicological Society, 3(4), 12-18.
5. Wade, Bonnie C. (1984). Khyāl: Creativity Within North India's Classical Music Tradition. Cambridge: Cambridge University Press.
6. देशपांडे, वामनराव हरी. (2020). घरानेदार गायकी: हिंदुस्तानी संगीत के घरानों की सूललित सौंदर्य मीमांसा. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
7. बृहस्पति, कैलाशचंद्र देव (2024). भरत का संगीत सिद्धांत. बृहस्पति पब्लिकाशन्स.
8. शर्मा, स्वतंत्र (2010). सौंदर्य, रस एवं संगीत. अनुभव पब्लिशिंग हाउस.

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-119-124

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 119-124
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. अरुण कुमार**

सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग, सरिया कॉलेज, सरिया, गिरिडीह (झारखण्ड)

Corresponding Author :

**डॉ. अरुण कुमार**

सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग, सरिया कॉलेज, सरिया, गिरिडीह (झारखण्ड)

# झारखंड नगर निकाय चुनाव में महिला सशक्तिकरण व चुनौतियाँ

**सारांश :** भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। जहां लोकतंत्र की वास्तविक आधारशिला स्थानीय स्वशासन होती है। भारत में प्राचीन काल से ही स्थानीय स्वशासन का इतिहास रहा है जिसका प्रमाण हमें ऐतिहासिक ग्रंथो व ऐतिहासिक पुस्तकों से होता है। चाहे भारत का प्राचीन काल हो या मध्यकाल या मुगल काल या ब्रिटिश शासन काल। भारत में हमेशा किसी न किसी रुप से स्थानीय स्वशासन विद्यमान थे। अंग्रेजों के शासनकाल में स्थानीय स्वशासन का विकास लॉर्ड रिपन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जिसके कारण उन्हें स्थानीय स्वशासन का जनक कहा जाता है। भारत के महान स्वतंत्रता सेनानी तथा राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता के पश्चात भारत में स्थानीय स्थापित करने की पुरजोर वकालत की थी। जिसके कारण भारत के पहले प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरु ने स्थानीय स्वशासन की स्थापना सर्वप्रथम राजस्थान के नागौर से की।

स्वशासन को लोकतंत्र को जमीनी स्तर तक मजबूत बनाने तथा जनता की राजनीतिक सहभागिता सुनिश्चित करने के लिए भारतीय संसद द्वारा वर्ष 1992 में 73 वें एवं 74 वें संविधान संशोधन अधिनियम पारित किए गए, जो वर्ष 1993 में लागू हुए। 74वें संविधान संशोधन के माध्यम से संविधान में एक नया भाग 9-क जोड़ा गया तथा नगर निकायों से संबंधित प्रावधानों को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। इसके अंतर्गत शहरी स्थानीय निकायों—नगर निगम, नगर परिषद तथा नगर पंचायत को संवैधानिक मान्यता प्राप्त हुई। इसी संशोधन के माध्यम से नगर निकायों में महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई, जिसने भारत में महिला राजनीतिक सशक्तिकरण को एक नई दिशा प्रदान की।

74वें संविधान संशोधन के अंतर्गत नगर निकायों में कम-से-कम एक-तिहाई अर्थात 33 प्रतिशत सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित की गईं। इसमें अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित सीटों में भी कम-से-कम एक-तिहाई सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित

करने का प्रावधान किया गया। संविधान राज्यों को पिछड़े वर्गों के लिए भी आरक्षण का प्रावधान करने की अनुमति देता है। बाद में अनेक राज्यों ने महिलाओं के आरक्षण की सीमा बढ़ाकर 50 प्रतिशत तक कर दी। झारखंड में भी नगर निकायों में महिलाओं के लिए 50 प्रतिशत तक आरक्षण का प्रावधान किया गया है। इसका मुख्य उद्देश्य महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी बढ़ाना तथा स्थानीय स्तर की निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में उनकी प्रभावी भूमिका सुनिश्चित करना है। आरक्षण की वजह से महिलाओं की भागीदारी नगर निकायों के चुनाव में काफी पहले की अपेक्षा काफी बढी है। अनारक्षित सीटों से भी महिलाएं चुनकर आने में सफल रही है जिसके कारण इन चुनाव में महिलाओं की भागीदारी व प्रतिनिधित्व पुरुषों की अपेक्षा अधिक हुई है। जो इस बात का संकेत देता है कि यह महिलाएं अब राजनीतिक भागीदारी निभाने के लिए तैयार है। वर्षों से जो महिलाएं शोषण तथा उपेक्षा के शिकार थी। वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हुई है महिलाएं घर की चार दिवारी से बाहर निकाल कर राजनीति निर्णय लेने में सक्षम बनी  तथा अपने नगरीय निकाय के विकास योजनाओं के नीति निर्माण तथा क्रियान्वयन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है।

**की-वर्ड :** नगरीय निकाय, आरक्षण, महिला सशक्तिकरण, राजनीतिक सहभागिता, स्थानीय स्वशासन, चुनौतियाँ।

**मूल आलेख :** झारखंड एक ग्रामीण बहुल्य राज्य है, किंतु यहाँ अनेक महत्वपूर्ण शहरी क्षेत्र भी हैं। शहरी क्षेत्रों में स्थानीय स्वशासन को प्रभावी बनाने के लिए राज्य में नगर निकायों की व्यवस्था की गई है। झारखंड नगरपालिका अधिनियम, 2011 के अंतर्गत राज्य में नगर निकायों के गठन एवं संचालन से संबंधित प्रावधान किए गए हैं। नगर निकायों के चुनाव झारखंड राज्य निर्वाचन आयोग द्वारा कराए जाते हैं।

झारखंड में शहरी स्थानीय शासन मुख्यतः नगर निगम, नगर परिषद तथा नगर पंचायत के माध्यम से संचालित होता है। बड़ी आबादी वाले शहरी क्षेत्रों में नगर निगम, अपेक्षाकृत छोटे शहरी क्षेत्रों में नगर परिषद तथा ग्रामीण से शहरी क्षेत्र में संक्रमण की अवस्था वाले क्षेत्रों में नगर पंचायत का गठन किया जाता है।

झारखंड में नगर निकाय चुनावों का राजनीतिक एवं सामाजिक दृष्टि से विशेष महत्व रहा है। राज्य में लंबे अंतराल के बाद मार्च 2008 में 28 नगर निकायों में चुनाव कराए गए। भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट के अनुसार, वर्ष 1986 से 1995 के बीच राज्य के सभी नगर निकाय भंग रहे थे और उसके बाद लंबे अंतराल के पश्चात 2008 में चुनाव हुए। इसके बाद विभिन्न चरणों में नगर निकायों के चुनाव संपन्न हुए। वर्ष 2018 में 34 शहरी स्थानीय निकायों में चुनाव कराए गए। इन चुनावों में पहली बार महापौर एवं अध्यक्ष पद के चुनाव राजनीतिक दलों के आधार पर कराए गए थे।

वर्ष 2026 में लंबे अंतराल के बाद झारखंड में पुनः नगर निकाय चुनाव संपन्न हुए। इन चुनावों में कुल 48 शहरी स्थानीय निकाय शामिल थे। इनमें 9 नगर निगम, 20 नगर परिषद तथा 19 नगर पंचायत शामिल हैं। इन 48 निकायों में कुल 1,087 वार्ड थे।

वर्ष 2026 के नगर निकाय चुनाव में महापौर एवं अध्यक्ष पदों के लिए कुल 562 उम्मीदवार चुनाव मैदान में थे, जिनमें 235 महिलाएँ थीं। वहीं वार्ड पार्षद पदों के लिए 5,569 उम्मीदवारों में 2,727 महिलाएँ थीं। यह आँकड़ा स्थानीय राजनीति में महिलाओं की व्यापक भागीदारी को स्पष्ट करता है। 2026 के चुनाव में 48 नगर निकायों में कुल 1,087 वार्ड थे, लेकिन सभी वार्डों में मतदान आवश्यक नहीं हुआ। 41 पार्षद निर्विरोध निर्वाचित हुए, तीन वार्डों में नामांकन नहीं हुआ तथा एक वार्ड में प्रत्याशी की मृत्यु के कारण मतदान निरस्त किया गया। इस कारण 1,042 वार्डों में मतदान हुआ।

महिला आरक्षण ने इन चुनावों में महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी को व्यापक रूप से बढ़ाया। कई महिलाएँ वार्ड पार्षद, अध्यक्ष तथा महापौर जैसे महत्वपूर्ण पदों पर निर्वाचित हुईं। उल्लेखनीय है कि कई स्थानों पर

महिलाएँ आरक्षित सीटों के अतिरिक्त उन सीटों पर भी निर्वाचित हुईं जो केवल महिलाओं के लिए आरक्षित नहीं थीं। उदाहरण के लिए, रांची नगर निगम के 53 वार्डों में 25 वार्ड महिलाओं के लिए आरक्षित थे, किंतु महिला प्रत्याशियों ने कुल 32 वार्डों में जीत हासिल की।

2026 के चुनाव में रांची नगर निगम का महापौर पद अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित था और रोशनी खलखो निर्वाचित हुईं। वहीं गिरिडीह नगर निगम का महापौर पद अनुसूचित जाति के लिए आरक्षित था, जहां पर प्रमिला मेहरा चुनाव जीतने में सफल रही। मेदिनीनगर नगर निगम का महापौर पद महिलाओं के लिए आरक्षित था, जहाँ अरुणा शंकर निर्वाचित हुईं। मानगो नगर निगम में भी महिला प्रतिनिधित्व उल्लेखनीय रहा।

इससे स्पष्ट होता है कि महिला आरक्षण ने महिलाओं को स्थानीय राजनीतिक नेतृत्व का अवसर प्रदान किया है। इसके साथ ही अनेक महिलाएँ अनारक्षित या सामान्य प्रतिस्पर्धा वाली सीटों पर भी सफलता प्राप्त कर रही हैं, जो उनके बढ़ते राजनीतिक आत्मविश्वास एवं नेतृत्व क्षमता का संकेत है। नगर निकायों में महिलाओं की बढ़ती भागीदारी ने स्थानीय लोकतंत्र को अधिक समावेशी बनाया है। निर्वाचित महिला प्रतिनिधि स्थानीय समस्याओं के समाधान, विकास योजनाओं के क्रियान्वयन तथा नागरिक सुविधाओं के विस्तार में सक्रिय भूमिका निभा रही हैं।

**नगर निकाय चुनावों में महिला सहभागिता के प्रभाव :**

1. महिला सशक्तिकरण पर सकारात्मक प्रभाव : झारखंड एक जनजातीय बहुल राज्य है, जहाँ जनजातीय समुदायों की महत्वपूर्ण आबादी निवास करती है। ऐतिहासिक रूप से समाज के अनेक वंचित वर्ग राजनीतिक एवं प्रशासनिक निर्णय-निर्माण से अपेक्षाकृत दूर रहे हैं। संविधान द्वारा प्रदान किए गए आरक्षण के प्रावधानों के कारण अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्गों की महिलाओं को भी राजनीतिक नेतृत्व का अवसर प्राप्त हुआ है।

नगर निकाय चुनावों में महिलाओं की भागीदारी ने झारखंड में सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन की प्रक्रिया को गति प्रदान की है। महिलाओं को चुनाव लड़ने, निर्वाचित होने तथा स्थानीय शासन में निर्णय लेने का अवसर मिला है। इससे उनके आत्मविश्वास, सामाजिक प्रतिष्ठा एवं नेतृत्व क्षमता में वृद्धि हुई है।

2. महिलाओं में राजनीतिक जागरूकता एवं भागीदारी में वृद्धि : एक समय झारखंड की बड़ी संख्या में महिलाएँ घरेलू दायित्वों तक सीमित रहती थीं। 74वें संविधान संशोधन के बाद स्थानीय निकायों में महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था होने से उनके राजनीतिक जीवन में प्रवेश का मार्ग प्रशस्त हुआ।

नगर निकाय चुनावों में महिलाओं की बढ़ती भागीदारी ने उनमें मतदान, चुनावी प्रक्रिया, प्रशासनिक व्यवस्था तथा राजनीतिक अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ाई है। महिलाएँ अब केवल मतदाता के रूप में ही नहीं, बल्कि प्रत्याशी, निर्वाचित प्रतिनिधि तथा निर्णय-निर्माता के रूप में भी सक्रिय भूमिका निभा रही हैं।

3. निर्णय-निर्माण में महिलाओं में सशक्त भागीदारी : 74वें संविधान संशोधन के अंतर्गत संविधान की बारहवीं अनुसूची में नगर निकायों से संबंधित 18 विषयों को शामिल किया गया है। इन विषयों में शहरी नियोजन, भूमि उपयोग का विनियमन, सड़कों एवं पुलों का निर्माण, जलापूर्ति, सार्वजनिक स्वास्थ्य, स्वच्छता, ठोस अपशिष्ट प्रबंधन, नगरीय वानिकी तथा शहरी गरीबी उन्मूलन आदि महत्वपूर्ण क्षेत्र शामिल हैं। नगर निकायों में महिलाओं की भागीदारी के कारण वे शहरी विकास, स्वच्छता, पेयजल, स्वास्थ्य तथा नागरिक सुविधाओं से संबंधित योजनाओं के निर्माण एवं क्रियान्वयन में सक्रिय भूमिका निभा रही हैं। स्थानीय स्तर की समस्याओं को समझने तथा उनके समाधान के लिए महिला प्रतिनिधियों की भूमिका निरंतर महत्वपूर्ण होती जा रही है। जिससे राजकीय महिलाएं अपने राजनीतिक अधिकार की समानता के लिए जोरदार संघर्ष को दर्शाता है।

4. सामाजिक सुधार एवं सामाजिक जागरूकता में वृद्धि : झारखंड की महिलाओं के सामने लंबे समय से शिक्षा की कमी, सामाजिक रूढ़ियाँ, अंधविश्वास तथा विभिन्न सामाजिक कुरीतियाँ चुनौती के रूप में मौजूद रही हैं। नगर निकायों

में महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी ने उनके सामाजिक दृष्टिकोण में भी परिवर्तन लाने में योगदान दिया है। चुनाव जीतने वाली महिलाओं को समाज में सम्मान और नेतृत्व का अवसर प्राप्त हुआ है। इससे उनके आत्मविश्वास में वृद्धि हुई है तथा अन्य महिलाएँ भी उनसे प्रेरित होकर सामाजिक एवं राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने लगी हैं। इस प्रकार महिला राजनीतिक सहभागिता सामाजिक जागरूकता और परिवर्तन का माध्यम बन रही है।

5. महिलाओं में आर्थिक तथा प्रशासनिक सशक्तिकरण : झारखंड में महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण की दिशा में स्वयं सहायता समूहों, कौशल विकास कार्यक्रमों तथा विभिन्न सरकारी योजनाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। नगर निकायों में निर्वाचित महिला प्रतिनिधियों को प्रशासनिक कार्यों, बजट, योजनाओं तथा सरकारी कार्यक्रमों की जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिलता है। कई महिला प्रतिनिधियाँ स्वयं सहायता समूहों से जुड़कर आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा दे रही हैं। कौशल विकास, लघु व्यवसाय तथा स्वरोजगार के माध्यम से महिलाओं में आर्थिक आत्मनिर्भरता की भावना विकसित हुई है। राजनीतिक प्रतिनिधित्व के साथ आर्थिक सशक्तिकरण महिलाओं की स्वतंत्र निर्णय क्षमता को भी मजबूत करता है।

6. वंचित वर्गों का प्रतिनिधित्व : झारखंड की महिलाएं वंचित वर्ग कि श्रेणी में मानी जाती थी किंतु नगर निकाय चुनावों में आरक्षण के कारण समाज के हाशिए पर रहने वाले वर्गों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्गों की महिलाओं को नेतृत्व का अवसर मिलने से स्थानीय शासन अधिक समावेशी बना है।

इस प्रकार महिला आरक्षण केवल महिलाओं की संख्या बढ़ाने का माध्यम नहीं है, बल्कि यह सामाजिक न्याय, राजनीतिक समानता तथा समावेशी विकास की दिशा में भी महत्वपूर्ण कदम है।

**झारखंड में महिला सशक्तिकरण की प्रमुख चुनौतियाँ :** झारखंड में महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी में उल्लेखनीय वृद्धि होने के बावजूद उनके सामने अनेक चुनौतियाँ अभी भी मौजूद हैं। महिला आरक्षण ने राजनीतिक प्रतिनिधित्व का अवसर तो प्रदान किया है, लेकिन कई स्थानों पर महिलाओं को वास्तविक निर्णय लेने की स्वतंत्रता अभी भी पूरी तरह प्राप्त नहीं हो सकी है।

1. प्रॉक्सी प्रतिनिधित्व की समस्या : आज भी कई स्थानों पर निर्वाचित महिला प्रतिनिधियों के स्थान पर उनके पति, पिता, भाई या परिवार के अन्य पुरुष सदस्य निर्णय लेते हैं। ऐसी स्थिति में महिला प्रतिनिधि केवल औपचारिक या प्रतीकात्मक प्रतिनिधि बनकर रह जाती हैं। इसे सामान्यतः 'प्रॉक्सी प्रतिनिधित्व' की समस्या कहा जाता है।

इस समस्या के प्रमुख कारणों में शिक्षा एवं प्रशासनिक अनुभव की कमी तथा परिवार एवं समाज में व्याप्त पुरुष-प्रधान मानसिकता शामिल हैं। जिसे दूर करने की आवश्यकता है। वहीं पर जो महिलाएं शिक्षित एवं जागरूक है वह स्वतंत्र पूर्वक निर्णय लेने में सक्षम है।

2. राजनीतिक एवं प्रशासनिक प्रशिक्षण का अभाव : शुरु में यह महिलाएं आरक्षण के कारण चुनाव जीतकर प्रतिनिधि तो बन जाती हैं, लेकिन राजनीति एवं प्रशासन के क्षेत्र में नया होने के कारण उन्हें निर्णय लेने, सरकारी योजनाओं को समझने, बजट प्रक्रिया तथा प्रशासनिक कार्यों के संचालन में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

इसलिए निर्वाचित महिला प्रतिनिधियों के लिए नियमित राजनीतिक, प्रशासनिक एवं वित्तीय प्रशिक्षण की व्यवस्था आवश्यक है।

3. आर्थिक निर्भरता : आर्थिक संसाधनों तक महिलाओं की सीमित पहुँच उनकी राजनीतिक स्वतंत्रता को प्रभावित करती है। आर्थिक रूप से कमजोर महिलाएँ चुनाव लड़ने और राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय रहने में अनेक कठिनाइयों का सामना करती हैं। राजनीतिक क्षेत्र में धन के बढ़ते प्रभाव के कारण आर्थिक रूप से कमजोर महिलाओं के लिए प्रतिस्पर्धा करना और भी कठिन हो जाता है।

4. शिक्षा एवं जागरूकता की कमी : महिला सशक्तिकरण के लिए शिक्षा सबसे महत्वपूर्ण आधारों में से एक है। ग्रामीण एवं आर्थिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों की अनेक महिलाएँ आज भी उच्च शिक्षा एवं प्रशासनिक जानकारी से वंचित हैं। शिक्षा एवं राजनीतिक जागरूकता की कमी के कारण वे अपने संवैधानिक अधिकारों और प्रशासनिक शक्तियों का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाती हैं। अगर झारखंड में महिला साक्षरता दर को देखें तो पुरुषों की अपेक्षा काफी कम है।

5. चुनाव में धन एवं बाहुबल का प्रभाव : स्थानीय निकाय चुनावों में भी धन, जातीय समीकरण तथा बाहुबल का प्रभाव देखने को मिलता है। कई बार प्रत्याशी की योग्यता और विकास संबंधी दृष्टिकोण के बजाय जातीय एवं सामाजिक पहचान को प्राथमिकता दी जाती है। चुनाव में अत्यधिक धन खर्च होने के कारण आर्थिक रूप से कमजोर प्रत्याशियों के लिए चुनावी प्रतिस्पर्धा कठिन हो जाती है। गरीबों की वजह से चुनाव में प्रत्याशी धन के बल पर मतदाताओं से मत खरीदने की कोशिश करते हैं तथा जनता को कई तरह के लोग लुभावने सपने दिखाकर वोट प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। वहीं कई प्रत्याशी धन के बल पर चुनाव जीतने में भी सफल हो जाते हैं तथा चुनाव जीतने के बाद भ्रष्टाचार को बढ़ावा देते हैं।

6. राजनीतिक हिंसा एवं सामाजिक दबाव : कुछ क्षेत्रों में चुनावी हिंसा, सामाजिक दबाव तथा राजनीतिक प्रतिस्पर्धा की तीव्रता भी महिलाओं के लिए चुनौती बनती है। परिवार और समाज की रूढ़िवादी मानसिकता के कारण कई महिलाएँ स्वतंत्र रूप से राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने से संकोच करती हैं।

इन चुनौतियों के बावजूद झारखंड में नगर निकायों के माध्यम से महिलाओं की राजनीतिक भूमिका निरंतर मजबूत हो रही है। महिला प्रतिनिधियाँ स्थानीय स्तर पर योजनाओं के निर्माण, नागरिक समस्याओं के समाधान तथा विकास कार्यों के क्रियान्वयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

नगर निकायों से राजनीतिक जीवन की शुरुआत करने वाली अनेक महिलाएँ आगे चलकर विधानसभा, लोकसभा तथा अन्य महत्वपूर्ण राजनीतिक एवं संवैधानिक पदों तक पहुँच सकती हैं। इस दृष्टि से स्थानीय स्वशासन महिलाओं के राजनीतिक नेतृत्व के विकास का महत्वपूर्ण मंच बन सकता है। यदि महिला प्रतिनिधियों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, राजनीतिक प्रशिक्षण, प्रशासनिक जानकारी, आर्थिक संसाधन तथा स्वतंत्र निर्णय लेने का अवसर प्रदान किया जाए, तो वे स्थानीय शासन को अधिक प्रभावी, पारदर्शी एवं संवेदनशील बना सकती हैं।

**निष्कर्ष :** नगर निकाय चुनाव महिलाओं के लोकतांत्रिक अधिकारों को मजबूत करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम बन चुके हैं। झारखंड में महिला आरक्षण ने महिलाओं को केवल राजनीतिक प्रतिनिधित्व ही नहीं दिया है, बल्कि उनके सामाजिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक सशक्तिकरण की प्रक्रिया को भी गति प्रदान की है। महिलाओं की बढ़ती राजनीतिक सहभागिता से उनमें आत्मविश्वास, नेतृत्व क्षमता तथा राजनीतिक जागरूकता का विकास हुआ है। अब महिलाएँ केवल आरक्षित सीटों पर ही नहीं, बल्कि अनेक ऐसी सीटों पर भी चुनाव जीत रही हैं जहाँ प्रतिस्पर्धा व्यापक है। यह परिवर्तन इस बात का संकेत है कि महिला राजनीतिक सहभागिता धीरे-धीरे संख्यात्मक प्रतिनिधित्व से आगे बढ़कर गुणात्मक प्रतिनिधित्व की दिशा में भी अग्रसर हो रही है। हालाँकि प्रॉक्सी प्रतिनिधित्व, शिक्षा की कमी, आर्थिक निर्भरता, राजनीतिक एवं प्रशासनिक प्रशिक्षण का अभाव, धन एवं बाहुबल का प्रभाव तथा सामाजिक रूढ़ियाँ अभी भी बड़ी चुनौतियाँ हैं। इन चुनौतियों का समाधान शिक्षा, प्रशिक्षण, राजनीतिक जागरूकता, आर्थिक आत्मनिर्भरता तथा स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता के विकास के माध्यम से किया जा सकता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि नगर निकाय महिलाओं के राजनीतिक सशक्तिकरण का प्रभावी मंच हैं। यदि महिला प्रतिनिधियों को पर्याप्त प्रशिक्षण, संसाधन और स्वतंत्र निर्णय लेने का अवसर दिया जाए, तो झारखंड में स्थानीय लोकतंत्र अधिक सहभागी, समावेशी, उत्तरदायी एवं प्रभावी बन सकता है।

**संदर्भ सूची :**

1. भारत का संविधान, भाग 9-क एवं बारहवीं अनुसूची।
2. भारत सरकार, पंचायती राज एवं शहरी स्थानीय स्वशासन संबंधी सामग्री।
3. झारखंड राज्य निर्वाचन आयोग — नगर निकाय चुनाव संबंधी सामग्री।
4. झारखंड सरकार, नगर विकास एवं आवास विभाग।
5. झारखंड नगरपालिका अधिनियम, 2011।
6. भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक — झारखंड के शहरी स्थानीय निकायों से संबंधित रिपोर्ट।
7. जौहरी, जे. सी. (2021), राजनीति विज्ञान, एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन, आगरा।
8. हेतमसरिया, बसंत (2026), सपनों का झारखंड, प्रभात प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
9. दैनिक जागरण — झारखंड नगर निकाय चुनाव एवं महिला आरक्षण संबंधी समाचार एवं रिपोर्टें।
10. प्रभात खबर — झारखंड नगर निकाय चुनाव एवं महिला प्रतिनिधित्व संबंधी समाचार।
11. इंडिया टाइम्स — झारखंड नगर निकाय चुनाव संबंधी समाचार एवं सामग्री।
12. द टाइम्स ऑफ इंडिया एवं अन्य समकालीन समाचार स्रोत — झारखंड नगर निकाय चुनाव 2026 संबंधी।

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-125-128

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 125-128
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**Anju kamlesh**
Research Scholar, Department of English, Kalinga University, Raipur, Chhattisgarh

Corresponding Author :

**Anju kamlesh**
Research Scholar, Department of English, Kalinga University, Raipur, Chhattisgarh

## Roots and Rhymes : Nature as Cultural Memory in Literature

**Abstract :** Nature in literature is more than scenery. Across English, Indian, and Indian English writing, rivers, forests, fields, and seasons act as living archives of memory, identity, and resistance. This paper explores the role of nature as a repository of cultural memory in English, Indian, and Indian English literature.

Across traditions, natural elements such as rivers, forests, seasons, and landscapes function not merely as settings but as active participants in the transmission of collective knowledge, identity, and emotion. Drawing on ecocriticism, Jan Assmann's theory of cultural memory, and the Indian aesthetic concept of vibhava from Bharata's Natyashastra, the study argues that nature operates as both material environment and symbolic archive.

In English literature, the trajectory moves from Romantic idealization in Wordsworth to contemporary ecopoetics in Alice Oswald and Seamus Heaney, where nature becomes a witness to ecological and historical trauma. Indian classical and vernacular literature, from Kalidasa's Meghaduta to Tamil Sangam Thinai poetry and Mahasweta Devi's tribal narratives, presents nature as sacred, grammatical, and inseparable from social and spiritual life. Indian English literature negotiates both inheritances. Writers such as R.K. Narayan, Amitav Ghosh, Arundhati Roy, Easterine Kire, and Mamang Dai depict hybrid ecologies where rivers, mangroves, and hills hold the memory of migration, resistance, and displacement. Diasporic writers like Jhumpa Lahiri further show how natural images become portable markers of home and belonging.

In the context of the current climate crisis, this paper contends that literary representations of nature have taken on new urgency. Contemporary Indian and global writers are reimagining nature not as pastoral retreat but as fragile, wounded, and political. By reading across these traditions, the paper demonstrates that "roots and rhymes"

— ecological origins and literary expression — are essential for remembering, mourning, and reimagining our relationship with the earth. Ultimately, literature becomes an act of ecological conservation.

**Keywords :** Ecocriticism, cultural memory, Indian literature, Indian English literature, nature, rasa, eco-aesthetics

**1. Introduction :** Human beings have always lived with nature, but literature gives that relationship a voice. In the Rig Veda, rivers are goddesses. In Wordsworth, daffodils become moral teachers. In Mahasweta Devi, forests hold the history of Adivasi struggle. In each case, nature is not background. It is text, temple, and testimony. Cultural memory, as Jan Assmann explains, is how societies remember through symbols and stories. Landscapes are one of the strongest symbols. A banyan tree is a meeting place. A river is a pilgrimage route and a burial ground. A monsoon is a calendar. This paper studies three traditions — English, Indian, and Indian English — to show how nature carries memory. The focus is also contemporary, because today that memory is threatened by urbanization, deforestation, and climate change. When a river dries or a forest is cut, the stories tied to them also disappear. Literature then becomes a way to keep them alive.

**2. Theoretical Framework: Nature, Memory, and Rasa :** This study uses three frameworks together. First, ecocriticism, which studies how literature and environment shape each other. Second, cultural memory theory, which shows how communities externalize memory in texts, rituals, and places. Third, Indian aesthetics from Bharata's Natyashastra. Here vibhava means the determinants of emotion — time, place, season. A cremation ground creates fear. A spring garden creates love. In Indian poetics, nature has always been an emotional trigger. When we bring these three together, we see that nature is both physical and symbolic. It is soil and story at the same time. This is especially important for reading Indian and Indian English texts, where nature is rarely separate from culture.

**3. English Literature: From Pastoral to Planetary Witness** : English literature began with pastoral idealization. In Wordsworth's Tintern Abbey, nature restores the mind. The landscape stores personal memory and becomes a teacher. Later, industrialization made nature a site of loss. By the 20th century, poets like Seamus Heaney turned to bogs and peat as archives of violence. Heaney's digging metaphor shows how the earth keeps bodies and histories. In 21st century ecopoetry, Alice Oswald's Dart gives voice to a river. The river remembers drownings, mills, and children playing. Nature is no longer passive. It witnesses. Recent English climate fiction continues this. Writers now describe floods, wildfires, and extinctions not as backdrop but as protagonists. The shift is clear: from nature as refuge to nature as record and warning.

**4. Indian Literature: Nature as Sacred Grammar :** Indian traditions treat nature as inseparable from life. In Sanskrit, Kalidasa's Meghaduta sends a cloud as a love messenger. The monsoon is not just rain. It is longing, timing, and reunion. In Tamil Sangam poetry, the land itself is classified into five thinais. Each thinai has its own flowers, birds, occupations, and emotions. Kurinji hills mean union. Neytal coast means waiting. This shows a very early ecological aesthetics where geography equals emotion. In folk and tribal literatures, this continues. Mahasweta Devi's The Occupation of the Forest, shows how Adivasis know every tree, stream, and spirit. When the forest is taken by the state, their memory is also taken. Here nature is devata, guru, and ghar. It teaches law, faith, and survival. Losing it means losing language and ritual.

**5. Indian English Literature: Hybrid Landscapes and Diasporic Longing :** Indian English writers live between two worlds. They use English but write about Indian ecologies. R.K. Narayan's Malgudi is shaped by the Sarayu river. In The Guide, drought and rain are not just weather. They are moral events tied to belief. Amitav Ghosh's The Hungry Tide, is set in the

Sundarbans. Mangroves, tigers, and tides hold the memory of refugees and myths. Ghosh shows that people cannot "settle" the tide country. Nature sets the rules. Arundhati Roy's The God of Small Things, makes the Meenachal river both beautiful and dangerous. It holds the memory of a child's death. The river becomes a witness. Writers from the Northeast add new layers. Easterine Kire's When the River Sleeps and Mamang Dai's stories show hills and rivers as kin. For Naga communities, a forest is also a genealogy. In diaspora writing, nature turns into nostalgia. Jhumpa Lahiri's characters remember mango trees and monsoons as sensory proof of home. Contemporary Indian English writers like Hansda Sowvendra Shekhar and Perumal Murugan, translated into English, also write about land rights, caste, and ecology. For them, nature is politics.

**6. Contemporary Crisis: Climate and the Erosion of Memory :** Today this memory is under pressure. Glaciers are melting. Rivers are polluted. Forests are being cleared. Writers are responding. Amitav Ghosh in The Great Derangement argues that modern literature has ignored climate change. He calls for stories where nature acts, not just decorates. Indian poets like Tishani Doshi write about cyclones in Chennai. K. Satchidanandan writes about farmer suicides and drought. These are not nature poems in the old sense. They are elegies and protests. At the same time, digital projects are archiving oral stories tied to specific trees, wells, and hills. This shows literature moving beyond books to keep ecological memory alive. This is why "roots and rhymes" matter. A rhyme about a peepal tree can keep the tree alive in mind even after it is cut. Literature becomes conservation.

**7. Comparative Understanding :** If we read these traditions together, patterns emerge. In English literature, nature moves from pastoral beauty to ecological witness. The memory is often personal or national trauma. In Indian literature, nature is sacred and cyclical. It is tied to ritual, season, and rasa. The memory is mythic and communal. In Indian English literature, nature is hybrid. It deals with postcolonial identity, migration, and environmental justice. The memory is of displacement and resistance. Despite differences, all three show that nature is never empty. It is full of law, story, and emotion. Indian aesthetics named this early through vibhava. English criticism reached it later through ecocriticism. Indian English writing bridges both.

**8. Conclusion :** "Roots and rhymes" names two actions. Roots are nature as origin and archive. Rhymes are literature as the rhythm that keeps those roots alive. English writing remembers empire and industry through nature. Indian writing remembers gods and seasons. Indian English writing remembers migration, hybridity, and ecological loss. In a time of climate crisis, literature must do more than describe. It must be remembered. To write a river is to refuse to forget it. To name a forest in a poem is to plant it again in the imagination. As Bharata said, without vibhava there is no rasa. Without nature, there is no feeling, no memory, no literature. In this sense, all literature is ultimately ecological.

Some poetic lines, **Roots and Rhymes**-

The tree remembers what we forget,
Its roots hold stories deep in the soil,
The river sings the names of those who've left,
And carries them on with a quiet toil.
A leaf falls down, and time writes it true,
Not on paper, but where the earth once grew.
We cut the forest and lose our words,
We dry the river and silence our birds.
Nature is not something far and away,
It lives in us, in the dusk and the day.
It's a mirror that shows the faces of old,

Of lives and lands and tales once told.
Poets listen and give it a voice,
Turning wind and rain into a choice.
In English fields and in Indian hills,
The same sky moves and the same heart thrills.
Memory lives in bark, in stone, in streams,
Not only in the books of our dreams.
So save a tree and you save a tale,
Write a poem and you help it prevail.
For roots keep us tied to where we began,
And rhymes keep alive the soul of man.

"Roots and rhymes" tells us two simple truths. Roots mean where we come from. Rhymes mean how we remember it. Nature is our first home. Before books, before cities, before names, we lived with trees, rivers, and seasons. Those things taught us patience, fear, joy, and care. When we write about them, we are not just describing. We are remembering who we are. English literature shows us nature as beauty and then as warning. Indian literature shows us nature as god and as teacher. Indian English literature shows us nature as home that we leave, return to, or fight for. Different voices, but the same truth: we are part of nature, not above it.

Today we face a big problem. Forests are cut. Rivers are dirty. The weather is changing. If nature dies, many memories will die with it. The story of a village by a river, the song about a monsoon, the name of a sacred hill — all of that can vanish. That is why literature matters now more than ever. A poem about a tree is a small act of saving it. A story about a river is a way of saying "this matters." When writers write about the earth, they keep the earth alive in our minds. Philosophy also tells us this. To live well means to live with balance. To take from nature, but also to give back. To remember that we are not the owners of the earth. We are its children.

So "roots" remind us to stay connected. And "rhymes" remind us to pass it on. If we forget nature, we forget ourselves. If we remember nature through words, we may still find a way to heal both the earth and ourselves.

**References :**

1. Assmann, J. (2011). Cultural memory and early civilization. Cambridge University Press.
2. Devi, M. (1997). The occupation of the forest. In G. C. Spivak (Trans.), Imaginary maps. Routledge.
3. Ghosh, A. (2004). The hungry tide. HarperCollins.
4. Ghosh, A. (2016). The great derangement: Climate change and the unthinkable. University of Chicago Press.
5. Glotfelty, C., & Fromm, H. (Eds.). (1996). The ecocriticism reader. University of Georgia Press.
6. Heaney, S. (1975). North. Faber and Faber.
7. Kalidasa. (2006). Meghaduta (A. K. Ramanujan, Trans.). Oxford University Press.
8. Kire, E. (2015). When the river sleeps. Zubaan.
9. Lahiri, J. (2003). The namesake. Houghton Mifflin.
10. Murugan, P. (2016). One part woman (A. Mahalingam, Trans.). Grove Press.
11. Narayan, R. K. (1958). The guide. Viking Press.
12. Oswald, A. (2002). Dart. Faber and Faber.
13. Roy, A. (1997). The god of small things. IndiaInk.
14. Shekhar, H. S. (2015). The merry virgins of Madhopur. Speaking Tiger.
15. Wordsworth, W. (1798). Lines composed a few miles above Tintern Abbey. In Lyrical ballads.
16. Kamlesh, Anju. (2025). Emotional intelligence: Crafting life's path. Self. ISBN: 978-93-344-3543-6.
17. Kamlesh, Anju. (2025). Release of emotions: Through and by literature. In R. Jutshi & S. Rani (Eds.), Education, literature and culture (Vol. 5, pp. 55–58). Sahitya Sanchay. ISBN: 978-93-89809-97-8.

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-129-133

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 129-133
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**Dr. Bhanupratap Sahoo**
Assistant Professor (Violin), Department of Indian Classical Music-Instrumental (Sitar-Violin), Faculty of Performing Arts, The Maharaja Sayajirao University of Baroda, Vadodara, Gujarat, India.

Corresponding Author :

**Dr. Bhanupratap Sahoo**
Assistant Professor (Violin), Department of Indian Classical Music-Instrumental (Sitar-Violin), Faculty of Performing Arts, The Maharaja Sayajirao University of Baroda, Vadodara, Gujarat, India.

# IPR and Cultural Sustainability : Protecting Indian Classical Musicians in the Digital Era

**Abstract :** Indian classical music is a living intangible cultural heritage sustained through performance, pedagogy, oral transmission and the guru–shishya parampara. Digital platforms have transformed its creation, recording, dissemination and consumption, creating challenges concerning copyright, performers' and moral rights, unauthorized recording, digital reproduction, streaming and artificial intelligence. This paper examines IPR's role in the cultural and professional sustainability of Indian classical musicians. Using a qualitative, interdisciplinary approach combining music studies and legal analysis, it explores how inadequate awareness and enforcement affect musicians' creative autonomy, economic interests, recognition and knowledge transmission. It argues that IPR should support not only economic protection but also the documentation, preservation and promotion of India's musical heritage. The paper recommends greater legal awareness, institutional support, improved digital rights management and appropriate policy interventions.

**Keywords :** Intellectual Property Rights, Indian Classical Music, Cultural Sustainability, Musicians' Rights, Copyright, Digital Era, Intangible Cultural Heritage.

**1. Introduction :** Indian classical music is not merely entertainment but a living cultural tradition transmitted across generations. Hindustani and Carnatic music involve complex systems of knowledge, including raga, tala, improvisation, composition, performance practice, pedagogy and oral transmission. Their continuity depends on musicians, teachers, performers, composers, researchers and cultural institutions.

The UNESCO Convention for the Safeguarding of the Intangible Cultural Heritage, 2003, recognizes performing arts, oral traditions, knowledge and skills as forms of intangible cultural heritage. Safeguarding includes their identification, documentation, research, preservation,

protection, promotion, transmission and revitalization. Indian classical music is therefore living heritage whose sustainability requires not only preserving musical knowledge but also protecting and recognizing the individuals and communities who sustain it.

Digital platforms have transformed the relationship between musicians and audiences. Performances once limited to concert halls can now be recorded and shared instantly through YouTube, Instagram and Facebook. While streaming and social media expand audience reach, they also create concerns regarding unauthorized recording, reproduction, distribution, attribution, monetization and modification.

Intellectual Property Rights therefore play an important role in creating a sustainable environment for musicians. The World Intellectual Property Organization recognizes copyright and related rights as central to the music ecosystem and emphasizes the need for performers and music professionals to understand and manage their intellectual property.

This paper examines IPR not merely as a legal mechanism but as an instrument for the long-term cultural and professional sustainability of Indian classical music and its communities.

**2. Research Objectives :** The major objectives of the study are:

- To examine the relationship between IPR and the sustainability of Indian classical music.
- To analyse legal protection available to musicians, particularly copyright, performers' rights and moral rights.
- To identify digital challenges, including unauthorized recording, online dissemination, streaming and reproduction.
- To examine the role of IPR in protecting musicians' economic and moral interests.
- To explore how legal protection can support the preservation and transmission of musical heritage.
- To suggest measures for improving IPR awareness and protection among Indian classical musicians.

**3. Research Methodology :** The study adopts a qualitative, interdisciplinary and doctrinal methodology, combining musicology, cultural studies and intellectual property law.

The legal analysis focuses on the Copyright Act, 1957, particularly Sections 38, 38A and 38B concerning performers' rights and moral rights, along with relevant international instruments administered by WIPO. The cultural analysis draws upon UNESCO's framework on intangible cultural heritage and safeguarding. The study also uses secondary literature, institutional publications and policy materials on copyright, digital music and performers' rights.

The research is primarily analytical rather than empirical. It examines how existing legal and institutional mechanisms can support the sustainability of Indian classical music and its practicing communities.

**4. Indian Classical Music as Intangible Cultural Heritage :** Cultural heritage extends beyond monuments, manuscripts and physical objects to include practices, expressions, knowledge and skills transmitted across generations. UNESCO recognizes performing arts as a major domain of intangible cultural heritage, making Indian classical music a natural example.

The guru–shishya parampara transmits musical knowledge through sustained teacher–student interaction. Similarly, a raga involves more than a collection of notes; it includes characteristic phrases, aesthetic principles, performance conventions, improvisation and stylistic interpretation.

Therefore, safeguarding Indian classical music cannot be limited to preserving recordings or written notation. It must ensure the continued transmission of knowledge, skills and cultural meaning without freezing the tradition in an unchanging form.

IPR policy should consequently avoid unnecessary barriers to traditional cultural expressions. Instead, it should ensure that musicians, composers, teachers and communities are recognized and treated fairly.

**5. Intellectual Property Rights and the Indian Musician :** The Copyright Act, 1957 protects various forms of creative expression and specifically includes musicians within the definition of performers. It defines performance as a live visual or acoustic presentation by one or more performers.

This is significant because a musician's contribution may extend beyond the underlying composition. For instance, a violinist performing a raga may create an individual interpretation through improvisation, ornamentation, phrasing and dynamics. The performance therefore has independent legal significance.

Section 38 provides performers' rights, while Section 38A grants rights relating to the recording, reproduction, communication and broadcasting of performances. Section 38B recognizes performers' moral rights, including identification as the performer and protection against prejudicial distortion, mutilation or modification, subject to the statutory framework.

These provisions establish that performers are not merely intermediaries between compositions and audiences but rights-bearing creative participants.

**6. The Digital Transformation of Indian Classical Music :** Digital technology has transformed the circulation, distribution and consumption of music. Classical performances can now be recorded, uploaded, streamed internationally, edited, remixed or monetized by others.

For Indian classical musicians, digital platforms offer opportunities to reach wider audiences, document performances, preserve rare traditions, support online teaching and create new revenue opportunities. However, these benefits also raise concerns regarding unauthorized use, licensing, attribution and fair remuneration. Thus, digital accessibility must be balanced with effective rights management.

**7. Unauthorized Recording and Dissemination :** Unauthorized recording is a significant challenge for performing musicians. Audience members may record and upload performances without permission, sometimes generating views or revenue while the artist receives neither compensation nor adequate attribution.

This issue is particularly important in classical music, where live improvisation and individual interpretation are central to the performance. The unauthorized recording of a unique rendition may therefore involve more than the duplication of a fixed musical work.

Although Indian law provides performers with rights concerning recording, reproduction, communication and broadcasting, practical challenges remain in awareness, enforcement and accessibility of these rights.

**8. Moral Rights and Recognition of Musicians :** Economic remuneration is only one aspect of cultural sustainability. Proper recognition is equally important, particularly for classical musicians whose professional identity is connected with artistic lineage, training, gharana, guru, repertoire and individual interpretation.

Section 38B of the Copyright Act recognizes performers' moral rights, including the right to claim identification as the performer and protection against certain prejudicial distortions or modifications.

Accordingly, legitimate online sharing of performances should include accurate attribution, such as:

Artist – Instrument – Composition/Raga – Accompanists – Venue – Date – Recording/Production Details

Proper attribution not only respects legal rights but also contributes to the documentation and preservation of musical heritage.

**9. IPR as a Tool for Cultural Sustainability :** IPR is not only a legal mechanism for commercial exploitation but also a means of supporting the long-term sustainability of creative communities. WIPO recognizes that copyright and related rights can help musicians generate income and build sustainable careers. For Indian classical musicians, IPR can contribute to sustainability in several ways:

Economic sustainability: Fair remuneration for performances, recordings, licensing and digital exploitation can improve financial security.

Professional sustainability: Proper attribution and recognition strengthen artists' professional identity.

Educational sustainability: Licensed recordings support teaching, research and the transmission of musical knowledge.

Cultural sustainability: Documentation and authorized dissemination help preserve and pass traditions to future generations.

Technological sustainability: Digital rights-management systems assist musicians in monitoring and controlling the use of their recordings.

Thus, IPR should be understood as part of a broader cultural ecosystem that supports artists, preserves heritage and encourages the continued transmission of musical traditions.

**10. Emerging Challenge: Artificial Intelligence :** Artificial intelligence presents new challenges for music and intellectual property. AI technologies can analyse, imitate, transform and generate music, raising questions about training data, authorization, attribution, ownership and the protection of artists' identities and styles.

For classical musicians, these concerns are particularly sensitive because their musical identity is closely connected with distinctive stylistic approaches developed over years of training. Future legal and policy frameworks should therefore address:

Permission: Whether recorded performances may be used to train AI systems without consent.

Compensation: Whether musicians should receive remuneration when their recordings contribute to commercial AI systems.

Unauthorized imitation: How to address AI-generated imitation of a performer's voice or musical performance.

Authenticity and attribution: How to maintain accurate recognition and attribution in AI-generated music.

These concerns demonstrate the growing importance of IPR in protecting both musicians' rights and cultural sustainability.

**11. Challenges in the Existing System :** Despite legal protection, musicians face several practical challenges:

- Lack of Awareness: Limited understanding of copyright and performers' rights.
- Informal Arrangements: Verbal agreements create uncertainty about recording, licensing and ownership.
- Weak Contracts: Artists may not clearly understand permitted uses, remuneration or future exploitation.
- Digital Enforcement: Rapid unauthorized online dissemination makes monitoring and enforcement difficult.
- Limited Institutional Support: Institutions often provide insufficient IPR education and legal guidance.

- Preservation–Ownership Conflict: Collective musical traditions raise complex questions about copyright, traditional repertoire and community rights.

**12. Recommendations :** The following measures can strengthen IPR protection and cultural sustainability:

- Introduce IPR education in music universities, academies and conservatories.
- Use clear performance agreements covering permission, ownership, duration, platforms, attribution, remuneration and future digital use.
- Improve awareness of platform licensing, monetization and copyright-claim procedures.
- Establish IPR support cells in universities and cultural institutions.
- Ensure accurate digital attribution of performers, repertoire and rights holders.
- Document and archive endangered traditions while protecting artists' and communities' rights.
- Promote collective licensing and monitoring mechanisms.
- Develop policies addressing AI-related recording, imitation, attribution, licensing and remuneration.

**13. Conclusion :** Indian classical music survives through continuous performance, teaching, interpretation and transmission. Its sustainability therefore depends on protecting living musicians, not merely preserving recordings or historical material.

Digital platforms offer global opportunities but also create challenges involving unauthorized recording, reproduction, distribution and artificial intelligence. Sections 38, 38A and 38B of the Copyright Act provide important protection for performers' economic and moral rights.

This paper argues that IPR should be viewed as an instrument of cultural sustainability. Protecting musicians' rights can encourage artistic creation, strengthen professional dignity, support knowledge transmission and preserve India's intangible musical heritage. The future of Indian classical music requires a balance between access and protection, tradition and innovation, and technological development and artists' rights.

**References :**

1. Copyright Act, 1957 (India). Government of India, Copyright Office. Particularly Sections 38, 38A and 38B concerning performers' rights and moral rights.
2. Copyright Office, Government of India. Handbook of Copyright Law. Government of India.
3. UNESCO. (2003). Convention for the Safeguarding of the Intangible Cultural Heritage. UNESCO, Paris.
4. UNESCO Intangible Cultural Heritage. What is Intangible Cultural Heritage? UNESCO.
5. World Intellectual Property Organization (WIPO). Intellectual Property and Music. WIPO.
6. World Intellectual Property Organization (WIPO). Copyright in the Digital Environment. WIPO.
7. World Intellectual Property Organization (WIPO). Summary of the WIPO Performances and Phonograms Treaty (WPPT), 1996. WIPO.
8. World Intellectual Property Organization (WIPO). Performers' Rights – Background Brief. WIPO.
9. World Intellectual Property Organization (WIPO). How to Make a Living from Music. WIPO.
10. World Intellectual Property Organization (WIPO). Copyright Licensing in the Digital Environment. WIPO.

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-134-139

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 134-139
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**Dr. Divya Jayantibhai Patel**
Assistant Professor, Department of Dance, Faculty of Performing Arts
The Maharaja Sayajirao University of Baroda, Vadodara, Gujarat (India)

Corresponding Author :

**Dr. Divya Jayantibhai Patel**
Assistant Professor, Department of Dance, Faculty of Performing Arts
The Maharaja Sayajirao University of Baroda, Vadodara, Gujarat (India)

# Sacred Masks and Embodied Narratives : A Comparative Study of Bhutanese Cham and Indian Chhau Dance

**Abstract :** Mask dance occupies a distinctive position within the traditional performing arts of both Bhutan and India, where the mask functions not merely as a visual or theatrical object but as a significant medium through which sacred narratives, cultural memory, collective identity and embodied knowledge are communicated. In Bhutan, *Cham* or masked dance forms an important part of Buddhist ritual and cultural practice. Performed in monastic and community contexts, Cham incorporates elaborate masks, costumes, music, movement and ritual symbolism to communicate religious narratives and ethical principles. In India, several traditional dance forms employ masks, among which Chhau particularly the traditions of Seraikella, Purulia and Mayurbhanj offers a compelling field for comparative study. Although these traditions developed within different historical, religious and socio-cultural contexts, both demonstrate the capacity of the masked body to transform narrative into embodied performance.

This paper undertakes a comparative exploration of Bhutanese Cham and Indian Chhau through the conceptual frameworks of mask, embodiment, ritual, narrative, movement, identity and cultural transmission. It examines how the mask alters the performer's body, how mythological and sacred narratives are communicated through movement, and how music, costume, spatial patterns and physical vocabulary contribute to the construction of meaning. Particular attention is given to the relationship between the visible masked body and the invisible cultural identity represented through it. The paper employs comparison as a methodological tool to understand how two culturally distinct traditions use the masked and embodied body to preserve, transmit and reinterpret narratives. It argues that the continuing

relevance of these traditions lies not only in the preservation of masks, costumes or choreographic structures, but in the preservation of the embodied knowledge and cultural contexts that give those artistic elements meaning.

**Keywords :** Bhutanese Cham, Chhau, Mask Dance, Embodiment, Ritual Performance, Cultural Memory, Sacred Narratives, Indian Dance, Intangible Cultural Heritage, Cultural Transmission.

**Introduction :** Within this broad field of traditional performance, mask dance occupies a particularly significant position. The mask introduces a transformation in the relationship between performer, body, character and audience. The performer's individual face disappears, while another identity emerges. The mask may represent a deity, demon, animal, mythical character, hero, spirit or symbolic being. Consequently, the performer does not merely enact a character; the body becomes a medium through which a culturally recognised identity is made visible.

Bhutanese *Cham* and Indian *Chhau* provide two important examples of this phenomenon. Both traditions employ masks in particular forms or contexts and integrate movement with music, costume, narrative and cultural symbolism. Yet they belong to different historical and cultural environments. Cham developed within the Buddhist ritual and monastic traditions of Bhutan and the wider Himalayan Buddhist world, while Chhau emerged within the cultural landscapes of eastern India and encompasses different regional traditions, particularly Seraikella, Purulia and Mayurbhanj.

The mask has a paradoxical function. It conceals and reveals simultaneously. At one level, the mask conceals the individual identity of the dancer. The face, which is ordinarily the most recognisable part of a performer, is replaced by an artificial or symbolic face. At another level, however, this concealment makes another identity visible. A masked performer may become a deity, demon, animal, warrior, mythological character or supernatural being. Thus, the mask creates a process of transformation. The performer begins with an individual human body but, through costume, mask, movement, music and performance context, becomes a culturally meaningful figure. The transformation is therefore not produced by the mask alone. It emerges through the relationship between the mask and the entire performative system. This is particularly important in dance. When the face is covered, the performer cannot depend upon ordinary facial expression to communicate emotion or character. The body must assume a greater communicative responsibility. Head movement, torso, shoulders, arms, legs, spatial direction, rhythm and dynamic variation become essential. The masked body therefore becomes an intensified body.

**Bhutanese Cham: Ritual, Sacredness and Embodied Narratives :** Bhutanese *Cham* represents one of the most important traditional masked dance practices associated with Bhutanese Buddhist culture. Cham is performed in religious and cultural contexts and is associated with the transmission of Buddhist teachings, narratives and ethical values. The dances may portray deities, protectors, animals, supernatural beings and other figures associated with Buddhist narratives and local traditions. Elaborate masks and costumes contribute significantly to the visual and symbolic vocabulary of the performance.

One of the defining characteristics of Cham is its relationship with ritual space. The performance is not simply an artistic presentation separated from religious life. In its traditional context, the dance participates in a larger ritual environment involving monks, communities, music, sacred spaces and religious narratives. The movement therefore has significance beyond aesthetic appreciation. The dancer's body becomes a vehicle through which a sacred narrative is enacted. The circular and spatial movement patterns, rhythmic structures, gestures, costume and

masks contribute to the construction of a ritual world.

An important example is the Mask Dance of the Drums from Drametse, recognised by UNESCO as an element of Bhutan's intangible cultural heritage. The tradition is associated with the Drametse community and is performed by masked dancers accompanied by drums and other musical elements. Its significance extends beyond performance technique to communal identity and cultural continuity. This illustrates an important principle: ritual dance cannot be completely understood by analysing movement independently of its cultural context.

If Cham is removed from its ritual environment and presented solely as a stage spectacle, its visual characteristics may remain, but aspects of its original cultural meaning can become altered.

**Indian Chhau: Mask, Myth and Physicality :** India's Chhau traditions provide a contrasting yet productive field for comparison. Chhau is associated particularly with eastern India and exists in different regional styles, most prominently Seraikella Chhau, Purulia Chhau and Mayurbhanj Chhau. The three traditions demonstrate considerable variation. Seraikella and Purulia prominently employ masks, whereas Mayurbhanj Chhau is generally performed without masks. This diversity itself demonstrates that Chhau should not be understood as a single uniform dance form. Chhau combines elements of dance, martial movement, theatre, music and mythology. Its repertoire includes stories and characters drawn from the *Ramayana*, *Mahabharata*, Puranic narratives, local traditions and other sources.

The body in Chhau is highly physical. Powerful movements, controlled stances, jumps, turns, rhythmic patterns and stylised gestures contribute to the characterisation of mythological and heroic figures. In Seraikella Chhau, the mask plays a particularly important role in character representation. The restrained facial mobility produced by the mask is compensated for by subtle but controlled bodily expression. In Purulia Chhau, masks are often visually elaborate and contribute strongly to the dramatic impact of the performance. The large-scale physical vocabulary, energetic movements and vibrant costumes create a powerful theatrical environment. Chhau therefore demonstrates how mythology can become embodied through physical vocabulary. The performer does not necessarily narrate the story through spoken language. Instead, the body, mask, rhythm, music and spatial movement collectively construct the narrative.

**Comparative Framework: Cham and Chhau :** A comparison of Cham and Chhau reveals both parallels and differences.

| **Aspect** | **Bhutanese Cham** | **Indian Chhau** |
|---|---|---|
| Cultural context | Primarily associated with Buddhist ritual and cultural traditions | Regional Indian folk/classical-theatrical traditions |
| Mask | Central in many Cham dances | Central particularly in Seraikella and Purulia |
| Narrative sources | Buddhist narratives, religious symbolism, local traditions | Epics, Puranic narratives, mythology and local traditions |
| Body | Ritualised and symbolic | Highly physical, martial and theatrical |
| Music | Traditional ritual musical accompaniment | Traditional percussion and musical accompaniment |

| Aspect | Bhutanese Cham | Indian Chhau |
|---|---|---|
| Performance space | Monastic, religious and community contexts | Village spaces, festivals, cultural stages and other performance contexts |
| Primary function | Religious, ritual, cultural and communal | Narrative, cultural, theatrical, ritual and community functions |
| Transmission | Guru/monastic and community-based traditions | Guru–disciple, hereditary and community-based transmission |
| Contemporary context | Preservation alongside changing cultural environments | Preservation alongside festivals, institutionalisation and stage presentation |

These similarities should not be interpreted as evidence of a common origin. Instead, they demonstrate that different societies have independently developed sophisticated ways of using the masked body to represent narratives and identities.

**The Mask and the Transformation of the Body :** One of the most interesting areas of comparison is the transformation produced by the mask.

A dancer without a mask communicates through facial expression as well as bodily movement. In a masked tradition, however, the performer must reconsider the relationship between face and body.The mask becomes a fixed face, while the body becomes the primary moving face.

This results in an interesting reversal. In ordinary human communication, facial expression may communicate subtle emotional changes. In mask dance, the mask's expression may remain visually constant, while movement produces variation. A particular mask may always appear fierce, compassionate, divine or grotesque. Yet the dancer's movement can communicate different states of energy, intention and narrative development.

**Ritual and Performance :** Another important point of comparison concerns the relationship between ritual and performance. Traditional dances often move between multiple contexts. A dance may originally belong to a ritual environment but later appear on a proscenium stage, cultural festival, tourism programme, university event or digital platform. This transformation raises questions about meaning. When a sacred dance is performed outside its original context, does it remain a ritual? Or does it become a representation of a ritual? The answer may not be absolute. Different communities and practitioners may negotiate these meanings differently. A performance can retain elements of sacred identity while simultaneously functioning as cultural representation.

The distinction is particularly important in an era of cultural tourism and international festivals.

For Bhutan and India, the challenge is therefore not simply to preserve the external appearance of traditional dance. Preservation must also consider context, knowledge systems, community ownership and transmission practices.

**Comparative Insights :** The comparison of Bhutanese Cham and Indian Chhau allows several broader observations.

- The mask is not merely a costume accessory. It is a symbolic and performative device that transforms identity.
- The body becomes more important when the face is concealed. Physical vocabulary, rhythm, posture and spatial movement assume increased expressive responsibility.

- Narrative can be embodied without speech. Mythological and sacred stories can be communicated through physical action.
- Ritual and performance cannot always be separated neatly. Traditional dances may simultaneously function as religious practice, cultural identity and artistic expression.
- Community and cultural memory are central to preservation. The survival of traditional dance depends not only on recording its visible elements but on maintaining the knowledge systems through which those elements are understood.

Finally, comparison demonstrates the value of looking beyond geographical boundaries while respecting cultural specificity.

Cham should be understood within Bhutanese Buddhist and cultural contexts, while Chhau should be understood through its regional Indian histories and diverse performance traditions. Comparison should create dialogue, not erase difference.

**Towards a Concept of the "Embodied Mask" :** The observations above suggest the possibility of conceptualising the mask not simply as an object but as an embodied interface.The mask stands between performer and character, between individual and collective identity, between visible form and invisible meaning.

It mediates several relationships:

Performer → Mask → Character →Movement → Narrative → Audience→Tradition → Body → Transmission

Through these relationships, the mask becomes part of a larger embodied knowledge system.

The performer does not merely wear the mask. The performer learns how to move as the mask.

This distinction is crucial. A person wearing a mask remains an individual outside performance. Within performance, however, movement, music, costume and cultural context transform the individual into a culturally meaningful figure. The mask therefore becomes effective only when animated by embodied knowledge.

**Conclusion :** Bhutanese Cham and Indian Chhau demonstrate the remarkable capacity of traditional dance to transform the human body into a vehicle of narrative, identity and cultural memory. Although these traditions developed in distinct historical, geographical and religious contexts, their comparative examination reveals a shared artistic principle: the masked body can communicate meanings that extend beyond the individual performer.

The mask conceals the personal face but reveals a cultural identity. It transforms the performer into a deity, mythological figure, animal, protector, warrior or symbolic character. Once the face is concealed, the body assumes greater expressive responsibility. Movement, rhythm, posture, spatial design, costume and music collectively become instruments of narrative.

In Bhutanese Cham, this transformation is closely connected with Buddhist ritual, sacred narratives and community identity. In Indian Chhau, particularly Seraikella and Purulia, the mask contributes to the embodiment of mythological and theatrical characters within distinctive regional performance traditions. These similarities do not establish a common origin; rather, they demonstrate how different cultural traditions have developed sophisticated embodied strategies for representing the sacred, the mythical and the symbolic.

The future of these traditions depends upon more than preserving masks, costumes or choreographic sequences. Their continuity requires the preservation of living knowledge—the relationships between movement and meaning, performer and community, ritual and performance, teacher and learner. In an age increasingly dominated by digital representation, the masked dancer offers an important reminder: cultural heritage does not exist only in objects or

archives. It lives in bodies. A mask can be preserved in a museum, photographed in an archive or reproduced digitally. But its cultural meaning comes alive only when it is embodied, interpreted and transmitted. Therefore, the sacred mask should not be understood merely as a covering of the face. It is a threshold between identities, a carrier of memory, and a medium through which cultural narratives continue to move from one generation to another.

The comparison of Bhutanese Cham and Indian Chhau ultimately reminds us that dance is not simply movement in space. It is knowledge in motion.

**Bibliography :**

1. Coomaraswamy, Ananda K. *The Mirror of Gesture: Being the Abhinaya Darpana of Nandikesvara*.
2. Ghosh, Manomohan, trans. *The Natyashastra*. Asiatic Society, Calcutta.
3. Schechner, Richard. *Performance Studies: An Introduction*. Routledge.
4. Taylor, Diana. *The Archive and the Repertoire: Performing Cultural Memory in the Americas*. Duke University Press.
5. Fischer-Lichte, Erika. *The Transformative Power of Performance: A New Aesthetics*. Routledge.
6. Phelan, Peggy. *Unmarked: The Politics of Performance*. Routledge.
7. UNESCO. *Chhau Dance* — Representative List of the Intangible Cultural Heritage of Humanity.
8. UNESCO. *Mask Dance of the Drums from Drametse* — Representative List of the Intangible Cultural Heritage of Humanity.

•

ज्ञानविविधा
कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 140-143
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**Dr. Ekta Gupta**
Assistant Professor, Arya Mahila P.G.College, Varanasi, Uttar Pradesh

Corresponding Author :

**Dr. Ekta Gupta**
Assistant Professor, Arya Mahila P.G.College, Varanasi, Uttar Pradesh

# National Education Policy 2020 : Features and Pattern for Better Future

**Abstract :** The **National Education Policy (NEP) 2020** was introduced by the Government of India on 29 July 2020 as a major reform in the field of education. It was brought in to replace the National Policy on Education, 1986, and to make the Indian education system more suitable for the requirements of the 21st century. Under NEP 2020, emphasis has been placed on providing **high-quality, inclusive, flexible, affordable and accessible education** to all students. The overall development of learners has been given importance, and education has been designed to include not only academic knowledge but also critical thinking, creativity, communication abilities, practical skills, values and life skills. Early childhood education has been included as an important part of the formal learning process, followed by primary, middle and secondary education. Greater importance has also been given to foundational literacy and numeracy, vocational education, multilingual learning, experiential education and the use of technology in teaching and learning. In the field of higher education, **multidisciplinary learning and greater flexibility in subject selection** have been promoted. Multiple entry and exit options have been provided, while academic credit transfer systems have also been introduced. Greater attention has been directed towards research and innovation in higher education. Overall, the education system has been aimed to be transformed through NEP 2020 so that **responsible, skilled, creative and knowledgeable citizens** can be developed. Through these reforms, learners are expected to be better prepared to contribute to the social, economic and overall development of the country

**Full Paper :** The global education development agenda reflected in the Goal 4 (SDG4) of the 2030 Agenda for Sustainable Development, adopted by India in 2015 - seeks to "ensure inclusive and equitable quality education and promote lifelong learning opportunities for all" by 2030. Such a lofty goal will require the entire education system to

be reconfigured to support and foster learning, so that all of the critical targets and goals (SDGs) of the 2030 Agenda for Sustainable Development can be achieved. This National Education Policy 2020 is the first education policy of the 21st century and aims to address the many growing developmental imperatives of our country. This Policy proposes the revision and revamping of all aspects of the education structure, including its regulation and governance, to create a new system that is aligned with the inspirational goals of 21st century education, including SDG4, while building upon India's traditions and value systems. The National Education Policy 2020 Education Policy lays particular emphasis on the development of the creative potential of each individual. It is based on the principle that education must develop not only cognitive capacities - both the ' foundational capacities 'of literacy and numeracy and 'higher-order' cognitive capacities, such as critical thinking and problem solving – but also social, ethical, and emotional capacities and dispositions.

The Vision of this Policy This National Education Policy envisions an education system rooted in Indian ethos that contributes directly to transforming India, that is Bharat, sustainably into an equitable and vibrant knowledge society, by providing high-quality education to all, and thereby making India a global knowledge superpower. The Policy envisages that the curriculum and pedagogy of our institutions must develop among the students a deep sense of respect towards the Fundamental Duties and Constitutional values, bonding with one's country, and a conscious awareness of one's roles and responsibilities in a changing world. Some of the silent features of the national education policy 2020 can be seen below:

**1. Early Childhood Care and Education :** Over 85% of a child's cumulative brain development occurs prior to the age of 6, indicating the critical importance of appropriate care and stimulation of the brain in the early years in order to ensure healthy brain development and growth. Presently, quality ECCE is not available to crores of young children, particularly children from socio-economically disadvantaged backgrounds. Strong investment in ECCE has the potential to give all young children such access, enabling them to participate and flourish in the educational system throughout their lives. Universal provisioning of quality early childhood development, care, and education must thus be achieved as soon as possible, and no later than 2030, to ensure that all students entering Grade 1 are school ready. 1.2. ECCE ideally consists of flexible, multi-faceted, multi-level, play-based, activity-based, and inquiry-based learning, comprising of alphabets, languages, numbers, counting, colours, shapes, indoor and outdoor play, puzzles and logical thinking, problem-solving, drawing, painting and other visual art, craft, drama and puppetry, music and movement. It also includes a focus on developing social capacities, sensitivity, good behaviour, courtesy, ethics, personal and public cleanliness, teamwork, and cooperation. The overall aim of ECCE will be to attain optimal outcomes in the domains of: physical and motor development, cognitive development, socio-emotional-ethical development, cultural/artistic development, and the development of communication and early language, literacy, and numeracy.

**2. Foundational Literacy and Numeracy :** The ability to read and write, and perform basic operations with numbers, is a necessary foundation and an indispensable prerequisite for all future schooling and lifelong learning. However, various governmental, as well as non-governmental surveys, indicate that we are currently in a learning crisis: a large proportion of students currently in elementary school - estimated to be over 5 crore in number - have not attained foundational literacy and numeracy, i.e., the ability to read and comprehend basic text and the ability to carry out basic addition and subtraction with Indian numerals.

**3. Universal Access to Education at All Levels :** One of the primary goals of the schooling system must be to ensure that children are enrolled in and are attending school. Through initiatives such as the Sarva Shiksha Abhiyan (now the Samagra Shiksha) and the Right to

Education Act, India has made remarkable strides in recent years in attaining near-universal enrolment in elementary education. However, the data for later grades indicates some serious issues in retaining children in the schooling system. The GER for Grades 6-8 was 90.9%, while for Grades 9-10 and 11-12 it was only 79.3% and 56.5%, respectively - indicating that a significant proportion of enrolled students drop out after Grade 5 and especially after Grade 8. As per the 75th round household survey by NSSO in 2017-18, the number of out of school children in the age group of 6 to 17 years is 3.22 crore. It will be a top priority to bring these children back into the educational fold as early as possible, and to prevent further students from dropping out, with a goal to achieve 100% Gross Enrolment Ratio in preschool to secondary level by 2030. A concerted national effort will be made to ensure universal access and afford opportunity to all children of the country to obtain quality holistic education–including vocational education - from pre-school to Grade 12.

**4. Curriculum and Pedagogy in Schools :** Learning Should be Holistic, Integrated, Enjoyable, and Engaging Restructuring school curriculum and pedagogy in a new 5+3+3+4 design 4.1. The curricular and pedagogical structure of school education will be reconfigured to make it responsive and relevant to the developmental needs and interests of learners at different stages of their development, corresponding to the age ranges of 3-8, 8-11, 11-14, and 14-18 years, respectively. The curricular and pedagogical structure and the curricular framework for school education will therefore be guided by a 5+3+3+4 design, consisting of the Foundational Stage (in two parts, that is, 3 years of Anganwadi/pre-school + 2 years in primary school in Grades 1-2; both together covering ages 3-8), Preparatory Stage (Grades 3-5, covering ages 8-11), Middle Stage (Grades 6-8, covering ages 11-14), and Secondary Stage (Grades 9-12 in two phases, i.e., 9 and 10 in the first and 11 and 12 in the second, covering ages 14-18).

**5. Holistic development of learners :** The key overall thrust of curriculum and pedagogy reform across all stages will be to move the education system towards real understanding and towards learning how to learn - and away from the culture of rote learning as is largely present today. The aim of education will not only be cognitive development, but also building character and creating holistic and well-rounded individuals equipped with the key 21st century skills. Ultimately, knowledge is a deep-seated treasure and education helps in its manifestation as the perfection which is already within an individual. All aspects of curriculum and pedagogy will be reoriented and revamped to attain these critical goals. Specific sets of skills and values across domains will be identified for integration and incorporation at each stage of learning, from pre-school to higher education. Curriculum frameworks and transaction mechanisms will be developed for ensuring that these skills and values are imbibed through engaging processes of teaching and learning. NCERT will identify these required skill sets and include mechanisms for their transaction in the National Curriculum Framework for early childhood and school education. Reduce curriculum content to enhance essential learning and critical thinking

**6.** Curriculum content will be reduced in each subject to its core essentials, to make space for critical thinking and more holistic, inquiry-based, discovery-based, discussion-based, and analysis based learning. The mandated content will focus on key concepts, ideas, applications, and problem solving. Teaching and learning will be conducted in a more interactive manner; questions will be encouraged, and classroom sessions will regularly contain more fun, creative, collaborative, and exploratory activities for students for deeper and more experiential learning.

**7. Experiential learning :** In all stages, experiential learning will be adopted, including hands-on learning, arts-integrated and sports-integrated education, story-telling-based pedagogy, among others, as standard pedagogy within each subject, and with explorations of relations among different subjects. To close the gap in achievement of learning outcomes, classroom transactions will shift, towards competency-based learning and education. The assessment tools (including

assessment "as", "of", and "for" learning) will also be aligned with the learning outcomes, capabilities, and dispositions as specified for each subject of a given class.

**8. Empower students through flexibility in course choices :** Students will be given increased flexibility and choice of subjects to study, particularly in secondary school - including subjects in physical education, the arts and crafts, and vocational skills – so that they can design their own paths of study and life plans. Holistic development and a wide choice of subjects and courses year to year will be the new distinguishing feature of secondary school education. There will be no hard separation among 'curricular', 'extracurricular ' , or 'co-curricular', among 'arts', 'humanities', and 'sciences', or between 'vocational' or 'academic' streams. Subjects such as physical education, the arts and crafts, and vocational skills, in addition to science, humanities, and mathematics, will be incorporated throughout the school curriculum, with a consideration for what is interesting and safe at each age

**9. Multilingualism and the power of language :** It is well understood that young children learn and grasp nontrivial concepts more quickly in their home language/mother tongue. Home language is usually the same language as the mother tongue or that which is spoken by local communities. However, at times in multi-lingual families, there can be a home language spoken by other family members which may sometimes be different from mother tongue or local language. Wherever possible, the medium of instruction until at least Grade 5, but preferably till Grade 8 and beyond, will be the home language/mother tongue/local language/regional language. Thereafter, the home/local language shall continue to be taught as a language wherever possible. This will be followed by both public and private schools. High-quality textbooks, including in science, will be made available in home languages/mother tongue. All efforts will be made early on to ensure that any gaps that exist between the language spoken by the child and the medium of teaching are bridged. In cases where home language/mother tongue textbook material is not available, the language of transaction between teachers and students will still remain the home language/mother tongue wherever possible. Teachers will be encouraged to use a bilingual approach, including bilingual teaching-learning materials, with those students whose home language may be different from the medium of instruction. All languages will be taught with high quality to all students; a language does not need to be the medium of instruction for it to be taught and learned well.

**10. Curricular Integration of Essential Subjects, Skills, and Capacities :** While students must have a large amount of flexibility in choosing their individual curricula, certain subjects, skills, and capacities should be learned by all students to become good, successful, innovative, adaptable, and productive human beings in today's rapidly changing world. In addition to proficiency in languages, these skills include: scientific temper and evidence-based thinking; creativity and innovativeness; sense of aesthetics and art; oral and written communication; health and nutrition; physical education, fitness, wellness, and sports; collaboration and teamwork; problem solving and logical reasoning; vocational exposure and skills; digital literacy, coding, and computational thinking; ethical and moral reasoning; knowledge and practice of human and Constitutional values; gender sensitivity; Fundamental Duties; citizenship skills and values; knowledge of India; environmental awareness including water and resource conservation, sanitation and hygiene; and current affairs and knowledge of critical issues facing local communities, States, the country, and the world.

As a conclusion we can say that this Policy is to instill among the learners a deep-rooted pride in being Indian, not only in thought, but also in spirit, intellect, and deeds, as well as to develop knowledge, skills, values, and dispositions that support responsible commitment to human rights, sustainable development and living, and global well-being, thereby reflecting a truly global citizen.

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-144-148

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 144-148
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**Ishan Ghosh**
Research Scholar, Department of Vocal Music, Faculty of Performing arts, Banaras Hindu University

**Research Supervisor :**

**Prof. Ramshankar**
Professor, Department of Vocal Music, Faculty of Performing arts, Banaras Hindu University

Corresponding Author :

**Ishan Ghosh**
Research Scholar, Department of Vocal Music, Faculty of Performing arts, Banaras Hindu University

# The Role and Significance of Svara Samūha in Hindustānī Classical Music : A Study of Rāga Formation, Rāgāṅga Classification, Aesthetics and Elaboration

**Abstract :** North Indian Classical Music is an age old tradition and a highly elaborative and improvisational art form. Unlike Western music, which is primarily scale based, Indian Classical Music involves deeper concepts of how the notes within a scale are implemented and rendered through Svara Lagāva. These subtle variations in the treatment, movement, and duration of notes create different flavours and personalities of Rāgas having similar or identical notes. These characteristic phrases, referred to as Svara Samūhas, form one of the basic building blocks of Indian Music.

In contemporary practice, the significance of Svara Samūhas is largely limited to the identification of Rāgas, while their wider role in the Rāga system remains relatively unexplored. This paper aims to examine the broader significance of Svara Samūhas through five major aspects: classification of Rāgas, creation of new Rāgas, aesthetics, elaboration of Rāgas, and the quality of bandiśes.

The study establishes that Svara Samūha is an underlying concept through which various aspects of the Rāga system are structured, understood, and applied. It also provides artists with a broader perspective for approaching Rāgas, thereby enhancing their improvisational capabilities and overall repertoire.

**Keywords :** Rāga, Svara Samūhas, Rāgāṅga, bandiśa, Rāga Elaboration.

**1. Introduction :** Music is a universal phenomenon in our society and exists in some form or another, regardless of local culture, geography, or language. Although music across cultures uses the same seven basic notes, whether they are referred to as Do Re Mi Fa So La Si, C D E F G A B, or Sa Re Ga Ma Pa Dha Ni, each culture has developed its music with certain special characteristics of its own. This has resulted in music becoming diverse and distinct

from one place to another.

The modern-day Khayāl and the Dhrupad styles of music of the Indian subcontinent, having their roots in Vedic chants, developed their own characteristics over the years of evolution. They are significantly different from other musical forms of the world, as these forms are largely improvisational, with only a very small part of the entire recital being fixed. Another important distinction between Indian music and much of the rest of the world's music is that, unlike its Western counterpart, Indian music is not completely scale-based. A scale is a collection of five, six, or seven notes.

Indian music, particularly Hindustani Classical Music, is primarily based on rāgas. A rāga itself is not completely defined by a scale, but rather depends heavily on the implementation and rendition of the notes. This results in a very unique characteristic of Hindustani Classical Music, where two different rāgas using the same set of notes can have very different personalities or flavours because of the difference in the usage of those notes. For example, Rāga Bhūpālī and Rāga Deśakār use the same notes but are considered different rāgas. The difference may lie in several factors, such as the touch notes or Kaṇ Svara, pauses on notes or Nyāsa Svara, or the notes occurring in between a Mīṇḍ. For instance, the Mīṇḍ from Sa to Dha in Bhūpālī and Rāga Śuddha Kalyāṇa is different, thus contributing to the distinct identity of the two rāgas.

This creates unique musical phrases that are exclusive to a particular Rāga and help in identifying it when the Rāga is being rendered. These phrases are called Svara Samūhas. However, in today's times, it is of utmost importance that the significance of such phrases is properly taught to the younger generation of musicians, as the role of these Svara Samūhas is much deeper than merely helping in the identification of Rāgas, although this remains one of their major utilities. Overlooking such important roles of these phrases may lead to an unfortunate loss of the purity and distinct identity of the Rāgas of Indian music.

**2. Research Methodology :** The methodology used in this paper is analytical, descriptive, and comparative in nature. Various Rāga-related literature, including texts and scholarly works discussing the structure, characteristics, and rendition of different Rāgas, have been studied and analyzed. Along with these literary sources, presentations and musical renditions by established artists have also been observed to understand the practical application of Svara Samūhas in the rendering of different Rāgas. The information gathered from these sources has been described and compared to identify the various usage of Svara Samūhas and its significance in Hindustānī Classical Music.

**3. Importance of Svara Samūhas :** Apart from their basic role as identifying characteristics of a Rāga, Svara Samūhas serve five other major functions, each of which is discussed in the following sections.

**3.1 Classification of Rāgas :** In Hindustānī Classical Music, there is an abundance of Rāgas. To study them properly, it is essential to classify them. Since classification is the systematic arrangement of information into groups and categories based on shared characteristics, it becomes simpler to study or analyze. Throughout history, there have several Rāga classification systems like Grāma-rāga Deśī rāga classification, Mela rāga system, Rāga Rāgiṇī system, Śuddha Chāyālaga Saṅkīrṇa classification, Thāṭ rāga classification and the Rāgāṅga rāga classification.

Among these, the most modern system is the Rāgāṅga rāga classification system conceptualised by Pt. Nārāyaṇa Moreśvara Khare. It emerges as the most Foolproof way of classifying where it rarely feels like a rāga is forcly being classified into a category, which is common in other classifications e.g Rāga Madhuvaṃtī is kept in Ṭoḍī Ṭhāṭ although it uses the Śuddha Ṛṣabha and Śuddha Dhaivata.

This system uses Rāgāṅgas as the basis of classification. Rāgāṅga are a characteristic

melodic phrase / Svara Samūha derived from a principal rāga, which becomes the identifying feature of other rāgas belonging to that aṅga, e.g : Ga Ma Re Sa, is a phrase of Bhairav and all Rāgas using this phrase are chatacterized under Bhairav aṅga rāgas. There are around 28 Such phrases or Rāgāṅgas that are used to classify all the Rāgas into various aṅgas.

Thus it can be said Svara Samūhas play an important role in classification of rāgas as it forms the very base of the most efficient method of classification, the Rāgāṅga rāga classification.

**3.2 Creation of new Rāgas :** Since, the number of notes are fixed, the number of possible ragas derived from them can be mathematically calculated, However the actual number of Rāgas can be much higher than the achieved number. This is ṗosṡible because of further addition or removal of some Svara Samūhas from the existing rāga, e.g Rāmakalī is a popular example, it was born from Bhairav simply by adding the phrase Ma Pa Dha Ni Dha Pa. Simlarly Rāga Devagiri Bilāval was formed by adding phrases of Śuddha Kalyāṇa like Sa Dha Pa Ga to Bilāval. Apart from this entire family of Rāgas like Malhār & Kānharā were made by mixing their phrases ( Re Pa of Malhār and Ga Ma Re Sa of Kānharā ) to already existing rāgas.

Similarly, instead of adding, omitting Svara Samūhas also results in the birth of new rāgas, e.g omitting Ga Ma Re Sa from Kauśika Kānharā births the rāga Kaunsī.

In this manner, an artist's creative vision and individual approach to the exploration and organization of Svara Samūhas can give rise to numerous new and aesthetically compelling Rāgas. Thus, Svara Samūha plays a significant role not only in the identification and elaboration of existing Rāgas, but also in the creative process of developing and shaping new Rāgas.

**3.3 Aesthetics of Rāgas :** Music can neither be seen nor touched, then why do human beings perceive it as beautiful and pleasurable? The American physicist Alan Lightman, in his book The Accidental Universe: The World You Thought You Knew, states, "The search for symmetry, and the emotional pleasure we derive when we find it, must help us make sense of the world around us, just as we find satisfaction in the repetition of the seasons and the reliability of friendships. Symmetry is also economy. Symmetry is simplicity. Symmetry is elegance." The essence of the above statement is that human beings naturally search for patterns and symmetry everywhere and perceive them as beautiful. Living in nature, human beings developed the instinct to identify fruit bearing trees and to understand changes in seasons in order to seek suitable shelter. Everything in nature whether the human body, flowers, leaves, starfish in the sea, or birds flying in the sky, is formed with symmetry and proportion. Even the changing seasons follow a certain pattern. In nature, from human DNA and facial structures to flower petals, pine cones, nautilus shells, and many other forms, humans find a particular pattern in their formation, commonly referred to as the Golden Ratio. Therefore, the human brain attempts to recognize symmetry in every aspect of life because it is associated with the instinct of survival, and when such symmetry is perceived, human beings find it aesthetically pleasing as they subconsciously associate it with the order and harmony found in nature.

In the fine arts also, the element of beauty arises from the human ability to recognize symmetry within artistic creations. Hence, it is often said that "beauty lies in the eye of the beholder." This principle becomes even more evident when we look at the field of painting. The presence of the Golden Ratio can be observed in several paintings, such as Leonardo da Vinci's The Annunciation, Katsushika Hokusai's The Great Wave off Kanagawa, and Piet Mondrian's Tableau.

If the presentation of a Rāga, or Rāga expansion, in North Indian classical music is examined from this perspective, it can be concluded that the sense of symmetry discussed above is created in Rāga music through the Svara Samūhas employed within the Rāga. For example, in Rāga Yaman, the two Svara Samūhas Ni Re Ga Re Ni Re Sa and Ma Dha Ni Dha Ma Dha Pa are

frequently employed. However, when examined more deeply, these can be understood as manifestations of a single Svara Samūha derived from the Sa–Pa consonance (Ṣaḍja–Pañcama Saṃvāda). Similarly, in Rāga Desi, the Svara Samūha Pa Dha Ma Pa Re Ga Sa Re Ni Sa contains the phrases Pa Dha Ma Pa and Sa Re Ni Sa, which, when viewed through the relationship of Ṣaḍja and Pañcama, can be understood as deriving from the same underlying Svara Samūha, connected through the Svara Re and Ga.

The use of such Svara Samūhas during the expansion of a Rāga creates a sense of symmetry and coherence for the listener. This perception of symmetry enhances the beauty and aesthetic appeal of the Rāga and allows its musical structure to unfold in a more organized and compelling manner. Thus, Svara Samūha not only serves as an important component in the expansion and identification of a Rāga, but also plays a significant role in establishing its aesthetic character and beauty.

**3.4 Elaboration of Rāgas :** Hindustānī Classical Music has traditionally been a guru mukhī vidyā, where a student surrenders himself/herself completely to the guru and undergoes rigorous tālīm by observing, listening to, and following the musical approach of the guru.

Through this process, the student gradually learns the different phrases, and movements of a Rāga, and continues to develop an understanding of its musical structure until he/she becomes capable of elaborating the Rāga independently.

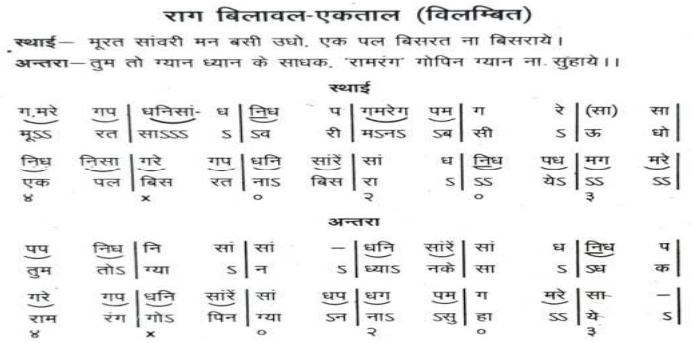
However, considering the vast number of Rāgas present in Indian Classical Music, it is not practically possible for a student to learn each and every Rāga directly from the guru. At a certain stage, it becomes necessary for an artist to explore and learn some Rāgas independently, after acquiring a strong foundation in the basic Rāgas from the guru. Such Rāgas can be explored and elaborated effectively with the help of Svara Samūhas.

Even when the āroh avroh, vādi saṃvādi, and nyāsa svara of a Rāga are unknown to the learner, what remains readily available to them are its bandiśa. These bandiśa serve as a strong and reliable source for understanding the basic structure and movement of the Rāga. The learner can deconstruct the bandiśa and extract the significant Svara Samūhas present within it. These Svara Samūhas can then be analysed and used as the basis for further elaboration of the Rāga. By connecting these phrases with other suitable svaras and Svara Samūhas, and by applying their own artistic understanding along with their knowledge of basic and allied Rāgas, the learner can gradually develop and explore the Rāga independently.

Thus, Svara Samūhas play an important role in the elaboration and development of Rāgas, providing a structural basis for their exploration and expansion.

**3.5 Benchmark for quality of bandiśes :** It can be said from the previous point that Svara Samūhas play an important role in the elaboration of a Rāga, similarly, their presence and organization within a bandiś also contribute significantly to the quality of the composition. A bandiś is often considered a gateway to understanding the structure of a Rāga, as it encapsulates the essential characteristics and musical identity of the Rāga within a concise and structured composition. The ability of a bandiś to effectively portray the Rāga and establish its identity can therefore be considered an important criterion for evaluating its quality. A well-composed bandiś generally incorporates the characteristic movements, important Svara Samūhas, and distinctive phrases of the Rāga, enabling the listener to perceive its Rāga-svarūpa even within the limited framework of the composition. Thus, the presence of significant and representative Svara Samūhas in a bandiś can be argued to be an important parameter in determining its effectiveness, musical richness, and overall quality.

Lets take the following bandiśa of Bilāval composed by Pt Rāmāśraya Jhā for an example




If we analyse the *sthāyī* of this *bandiś*, the following *Svara Samūhas* can be extracted:

1. Ga $^{Ma}$ Re Ga Pa
2. Sa Ni Dha Ni Dha Pa
3. Ma Ga Ma Re
4. Ni Dha Ni Sa

All these Svara Samūhas represent important and characteristic phrases of Rāga Bilāwal. Their presence within the *bandiś* allows several important movements and pathways of the Rāga to emerge from a relatively concise composition. Therefore, this *bandiś* can be considered an example of a well-composed *bandiś* in Rāga Bilāwal, as its Svara Samūhas provide the performer with several routes through which the Rāga can be explored and elaborated.

**4. Conclusion :** The present study establishes that Svara Samūha is not merely a tool for identifying a Rāga, but one of the fundamental underlying concepts through which various aspects of the Rāga system are structured, understood, and applied. The analysis presented in this paper demonstrates the significance of Svara Samūha in five important areas beyond Rāga identification, namely Rāga classification, creation of new Rāgas, aesthetics, Rāga elaboration, and the evaluation of the quality of a bandiśa. In the context of Rāga classification, characteristic Svara Samūhas provide a basis for understanding the similarities and relationships among different Rāgas and their association with particular Rāgāṅgas. Similarly, the study shows that the creative organisation of Svara Samūhas can contribute to the formation of new Rāgas, providing artists with possibilities for exploring new melodic structures. From an aesthetic perspective, Svara Samūhas contribute to the balance, symmetry, identity, and beauty perceived within a Rāga. They also provide a structural foundation for Rāga elaboration, enabling the artist to explore different melodic pathways while maintaining the essential character of the Rāga. Furthermore, the presence and effective organisation of important Svara Samūhas within a bandiś can serve as an important parameter for assessing its musical quality and effectiveness in representing the Rāga.

Thus, this viewpoint proves the profound significance of Svara Samūha in Indian music and demonstrates its impact on deep concepts such as Rāga structure and aesthetics. It also broadens the artist's perspective towards understanding and approaching Rāgas, thereby enhancing their improvisational capabilities and contributing to the development of their overall repertoire. The study therefore suggests that Svara Samūha deserves greater attention as an independent and fundamental concept in the study, teaching, performance, and creative development of Hindustānī music.

**5. References :**

1. Jhā, Rāmāśraya. *Abhinav Gītāñjali*. Vols. 1–5. Allahabad: Saṅgīta Sadana Prakāśana..
2. Ṭhākur, Oṃkāranātha. *Saṅgītāñjali*. Vols. 1–7. Varanasi: Saṅgīta Kalā Bhāratī.
3. Banerjee, Gītā. *Rāga Malhār Darśan*. Delhi: Pratibha Prakāśan.
4. Paṭwardhan, Viṣṇu Nārāyaṇa. *Rāg Vijñān*. Vols. 1–5. Pune: M. V. Paṭwardhan.
5. Deodhar, B. R. *Rāga Bodh*. Vols. 1–4. Mumbai: C. Deodhar.

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-149-153

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 149-153
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**आराधना विश्वकर्मा**

शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

**शोध निर्देशक :**

**प्रो. के. ए. चंचल**

आचार्य, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Corresponding Author :

**आराधना विश्वकर्मा**

शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

## काशी की संगीत परम्परा में युगल गायकों का अमूल्य योगदान

**सारांश :** काशी भारत की अति प्राचीनतम नगरी है।काशी का अस्तित्व कई वेदों, पुराणों एवं अन्य ग्रन्थों में मिलता है। कई महान ब्राह्मण, कवि, साहित्यकार व संगीताचार्य यहां जन्मे व जिनका जन्म स्थान काशी नहीं था वह भी अपने जीवन के अंतिम दिनों में काशी में आ कर बसे व अंत तक काशी के ही होकर रह गये।

उत्तर वाहिनी मां गंगा के तट पर बसी महादेव की अति प्रिय नगरी काशी धर्म, शास्त्र, संस्कृति एवं ललित कलाओं आदि का उद्भव स्थल मानी जाती है और ललित कलाओं में संगीत का स्थान सर्वोच्च है। अतः काशी और संगीत एक दूसरे से पृथक नहीं है। काशी में संगीत का उद्भव पौराणिक काल से ही माना जाता है। काशी ने संगीत की तीनों ही विधाओं(गायन वादन एवं नृत्य) को जीवंत रूप में संजोया है व उनकी उपविधाओं को अपने में समाहित किए हुए है। काशी में संगीत केवल लोक रंजन या मनोरंजन के लिए नहीं अपितु आध्यात्म, भक्ति, साधना आदि के परिप्रेक्ष्य में भी सहायक रहा है।

काशी अर्थात् बनारस में शास्त्रीय गायन का वृहद क्षेत्र रहा तथा उपशास्त्रीय गायन में भी अत्यधिक सुदृढ़ रहा है। यहां ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी, दादरा, होरी, चैती, कजरी आदि गायन की कई विधाएं गाई जाती है।

**युगल गायकी : एक परंपरा :** युगल गायकी की बनारस में प्राचीन परंपरा रही है यह पं. दिलाराम एवं पं. चिन्तामणि मिश्र जी से आरंभ हुआ था, जिन्होंने साक्षात "हित हरिवंश जी" से संगीत की शिक्षा प्राप्त की व संगीत का प्रचार प्रसार करने हेतु चिन्तामणि जी बहादुर शाह ज़फ़र के दरबार में दिल्ली चले गए और वहां से कुछ वर्ष बाद वह छत्रपति शिवाजी के पास पहुंचे। इधर दिलाराम जी काशी की ओर प्रस्थान कर दिए। उसके पश्चात प्रसिद्ध- मनोहर मिश्र, शिवा-पशुपति मिश्र, रामकृष्ण-भवानी मिश्र, अमरनाथ-पशुपतिनाथ मिश्र, राजन-साजन मिश्र, रितेश-रजनीश मिश्र आदि कई मूर्धन्य जोड़ियां का काशी की भूमि पर उदय

हुआ। काशी व संगीत अपने आप में एक ही है यह दोनों पृथक नहीं कहे जा सकते शोधार्थिनी ने 'काशी के संगीत परंपरा में युगल गायको के अमूल्य योगदान' पर संज्ञान कराने का प्रयास किया है।

युगल गायकी अर्थात दो लोगों का एक संयुक्त समायोजन गायन है, जो मुख्यतः दो भाईयों के बीच होता है इन्हें जोड़ी गायक भी कहते हैं। युगल गायकी की परम्परा, उसकी अदाएगी, उसकी सभ्यता आदि स्वतंत्र एकल गायन से काफी अलग होता है। इसमें एक - दूसरे को पूर्ण करने की भाव रहता है। दोनों की सोच एक होती है।

सर्वप्रथम दोनों व्यक्तियों का प्रशिक्षण एक गुरु के सानिध्य में होता है। जिससे दोनों व्यक्तियों में सम भाव एक होता है। राग व बंदिशों के प्रति दृष्टिकोण भी एक होता है

बनारस से युगल गायन के क्षेत्र में कई जोड़ियां विश्व पटल तक विख्यात हुई हैं जिन्होंने अपने कुशल प्रतिभावान गायकी से संगीत सुधी जनों के मानस पटल पर कुशल छाप छोड़ी है।

**मुख्य शब्द** : काशी, बनारस घराना, संगीत, शास्त्र, युगल गायक आदि।

**युगल जोड़ियां** :

**पं. प्रसिद्धु - पं. मनोहर मिश्रा** : श्री ठाकुर दयाल मिश्र जी बनारस के सुयोग्य एवं उत्कृष्ट गायक थे। आपके तीन पुत्र हुए जिनमें मनोहर मिश्र (ज्येष्ठ), हरप्रसाद मिश्र (प्रसिद्धु जी) मंझले एवं विश्वेश्वर मिश्र जी(कनिष्ठ)थे। इनमें प्रसिद्धू - मनोहर मिश्र जी की जोड़ी गायन के क्षेत्र में अति विख्यात हुई तथा विश्वेश्वर मिश्र जी ने मुगल बादशाह बहादुर शाह ज़फ़र के दरबार के श्रेष्ठ तंत्रीवादक उस्ताद रजा खां का शिष्यत्व प्राप्त कर उत्तम सितार वादक बन काशी को गौरवान्वित किया। प्रसिद्धु जी का जन्म 1802 ई. एवं मनोहर जी का जन्म 1794 ई. में हुआ।[1] आपके पिता ठाकुर दयाल मिश्र जी ने आरंभ से ही आपमें नित्य प्रतिदिन कठोरता के साथ अभ्यास की आदत का बीज बोया जो आगे चलकर अंकुरित व संचित हो विशाल रुप में सामने आया। आपके प्रतिभा की चर्चाएं शीघ्र ही समाज में होने लगी जिसे सुनकर मुगल सम्राट बहादुर शाह ज़फ़र ने आप लोगों को दिल्ली दरबार में बुलाया व अत्यंत विशेष सम्मान में तीनों भाइयों को तीन गांव - शिवपुर, जुड़पुर एवं परमपुर की जागीर भेंट कर गौरवान्वित किया। साथ ही साथ स्वयं प्रसिद्धु जी से संगीत की शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा जाहिर की एवं अपने राज्य का कलावंत नियुक्त किया। आपकी प्रसिद्ध जब अन्य राज्यों तक पहुंची तो वह सब भी अपने अपने राज्यों से निमंत्रण भेज आपको बुलाने हेतु अनुरोध करने लगे। अयोध्या (फैजाबाद) के नवाब सादक अली खां ने आपको अपना दरबारी गायक नियुक्त किया जहां उस समय टप्पा के आविष्कारक शोरी मियां भी दरबारी कलावंत थे जिसे आपने 7 वर्षों तक टप्पे की तालीम प्राप्त की।[2] आप दोनों अनेक मुगल दरबारों एवं उनके रियासतों में अपने गायकी की अप्रतिम छाप छोड़ते हुए दरबार से प्राप्त जागीर व ज़मींदारी का उत्तरदायित्व अपने अनुज विशेश्वर मिश्र को सौंप कर आप काशी आ गए।

एक बार पटियाला नरेश महाराजा महेंद्र प्रताप सिंह जी ने 40 दिनों तक चलने वाला एक विशाल संगीत समारोह का आयोजन किया। जिसमें भारत के लगभग 1400 मूर्धन्य कलाकारों ने शिरकत किया था जहां प्रसिद्धु एवं मनोहर जी सर्वश्रेष्ठ गायक के रूप में घोषित किए गए थे। किवदंती है कि बनारस शैली की हृदय स्पर्शी गायकी से आप लोगों ने वहां पर उपस्थित सभी संगीत समुदाय को मंत्र मुक्त कर दिया था।[3] जिससे प्रभावित होकर स्वयं महाराज महेंद्र प्रताप सिंह ने आपकी शिष्यता ग्रहण की व बाद में गुरु - दक्षिणा के रूप में आपको सवा लाख रुपए नगद एवं कीमती रत्न आभूषण भी प्रदान किए थे।

जब आपकी कल चरम सीमा को स्पर्श कर रही थी तब आप नेपाल जाकर वहां के दरबारी गायक के रूप में शोभायमान रहे। श्री मनोहर मिश्र जी काशी में सन् 1846 ई. में तथा प्रसिद्धु मिश्र जी सन् 1868 ई. में काशी में दिव्यांगत हुए।[4]

**पं अमरनाथ मिश्र - पं पशुपति नाथ मिश्र** : बनारस के सुविख्यात ठुमरी सम्राट पंडित महादेव प्रसाद मिश्र के बड़े

भ्राता पंडित बद्रीनाथ मिश्र जी के पुत्र पं अमरनाथ मिश्र जी का जन्म 1938 - 39 ई तथा पं पशुपति नाथ मिश्र जी का 1940 - 41ई. के आसपास बनारस के रामापुरा मोहल्ले में हुआ था।[5] आपका जन्म एक सांगीतिक परिवेश में होने के कारण आपके पिता पंडित बद्रीनाथ जी एवं मुख्य गुरु रूप से आपके चाचा पंडित महादेव प्रसाद मिश्र जी का सानिध्य प्राप्त हुआ। बाल्यकाल से ही आपकी संगीत की शिक्षा आरंभ हो गई आप दोनों भाई कुशल व जिज्ञासु थे आपके कठिन परिश्रम व 8 से 10 घंटे के दैनिक अभ्यास व अनुपम गायकी से आपको संगीत जगत में शीघ्र ही ख्याति प्राप्त होने लगी। स्वर, लय, तान, पलटा, गमक, मींड, मुर्की व चमत्कारिक उपज आदि के प्रयोग से आप प्रभावशाली प्रस्तुतियां देते थे। पंडित अमरनाथ मिश्र 14 वर्ष की आयु में ही आकाशवाणी के इलाहाबाद केंद्र से प्रथम श्रेणी के कलाकार[6] तथा पंडित पशुपतिनाथ मिश्रा 13 वर्ष की आयु में आकाशवाणी के इलाहाबाद केंद्र के उच्च श्रेणी के कलाकार हो गए थे। उस समय बनारस में आकाशवाणी केंद्र ही नहीं था।[7] आप अपने गुरु एवं चाचा पंडित महादेव प्रसाद मिश्र के साथ काशी के विभिन्न देवालय एवं मंदिरों के संगीत कार्यक्रमों में जाते थें व विभिन्न विद्वानों के समक्ष प्रस्तुतियां करते-करते आपकी प्रतिभा और निखरती गई। आप दोनों अत्यंत कम समय में ही संगीत संगोष्ठियों में आकर्षण का केंद्र बनने लगे थे।

अपने चाचा पंडित महादेव मिश्र की इच्छा पर आप गायनाचार्य पंडित बड़े रामदास मिश्र का शिष्यत्व ग्रहण करने व उनका वरदहस्त स्नेह प्राप्त करने उनके पास पहुंचे।[8] आप दो-दो घंटे तक ख्याल गायकी का ऐसा अनूठा व अद्भुत प्रस्तुतिकरण करते थे जिससे जनमानस मंत्रमुग्ध हो सराहते थे। आप "मिश्र बन्धु" के नाम से विख्यात होते गए। जिससे स्वत: आपको विभिन्न कार्यक्रमों के लिए निमंत्रण आने लगे। अपने जम्मू, जालंधर, अमृतसर, मुंबई, पुणे, कोल्हापुर, ग्वालियर, हैदराबाद, मद्रास, गया, पटना, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, रामपुर, दिल्ली, कोलकाता, मोतिहारी, कटिहार, दरभंगा, भागलपुर, मुंगेर, मुजफ्फरपुर, बरौनी, समस्तीपुर, छपरा आदि कई संगीत समारोह में सफल प्रस्तुतियां देखकर कलाकारों के बीच अपना विशेष स्थान बनाया।[9] आपके कुछ संगीत कार्यक्रम निम्नवत हैं-
1. तानसेन संगीत समारोह, कोलकाता, 2. स्वामी हरिदास संगीत समारोह, मुंबई, 3. हरि बल्लभ संगीत समारोह, जालंध, 4. शारदाभवन गणेशोत्सव, वाराणसी, 5. श्री संकट मोचन संगीत समारोह, वाराणसी, 6. पंडित विष्णु दिगंबर जन्म वार्षिकी संगीत सभा, पुणे, 7. शंकर लाल संगीत समारोह, दिल्ली, 8. होली के अवसर पर राज सम्मेलन, अमृतसर।[10]

इधर भारत में आपकी ख्याति अपने शिखर पर थी और अन्य जगहों पर युगल गायकी की अन्य जोड़ियां भी अपने प्रस्तुतियों के माध्यम से समाज में अपनी सुगंधियां फैला रही थी। एक यादगार जुगलबंदी कार्यक्रम जो आप दोनों भाइयों एवं पाकिस्तान के नजाकत अली एवं सलामत अली के समक्ष हुआ था। जिसकी चर्चाएं अति विख्यात हुई जिसमें आप दोनों भाइयों ने अविस्मरणीय प्रस्तुति दी।

पंडित अमरनाथ मिश्र जी के दो पुत्र हुए ।बटुक नाथ मिश्र (सितारवादक) एवं पंडित बलराम मिश्र तथा पंडित पशुपतिनाथ मिश्रा जी के पांच पुत्र व दो पुत्रियां हुई। जिनमें कुबेर मिश्र जी (तबलावादक) अति व्याख्यात रहे।

**राजन - साजन मिश्र** : बनारस के ख्याति अग्रसर करने हेतु अति गुणी सारंगी वादक पं. हनुमान प्रसाद मिश्र जी के बड़े पुत्र पं. राजन मिश्र का जन्म 1951 ई. तथा छोटे पुत्र पं. साजन मिश्र का जन्म 1956 ई. में हुआ। आप दोनों ने अपने सांगीतिक जीवन का आरंभ अपने पिता द्वारा दिए गए मार्गदर्शन से किया एवं आपके गुरु के रूप में भी आपके पिता पं. हनुमान प्रसाद मिश्र एवं चाचा पं. गोपाल मिश्र ने ही आप दोनों को संगीत में प्रशस्त किया। कुछ समय पश्चात् आप गायनाचार्य पं. बड़े रामदास जी के पास जाकर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। कुशाग्र बुद्धि वह सरल स्वभाव के साथ आपकी संगीत शिक्षा का आरंभ हुआ व आप दोनों को गायकी की सभी विधाओं की शिक्षा मिलती रही जिनमें ख्याल व टप्पा अंग की गायकी, कहन का अंदाज मुख्य रूप से था। संगीत के शिक्षा के साथ-साथ विद्यालय शिक्षा भी आपने प्राप्त की जिसमें पं. राजन मिश्र ने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से समाजशास्त्र में स्नातकोत्तर तथा पं. साजन मिश्र ने

स्नातक तक की शिक्षा पूर्ण की। कुछ समय पश्चात आपके चाचा की इच्छा पर आप दिल्ली चले गए। वहां आपको प्रतिष्ठित कार्यक्रमों को सुनने व खुद को सिद्ध करने का अवसर प्राप्त हुआ आप वहां अपने भावपूर्ण गायन से सबके हृदय में अपना स्थान बनते चले गए कुछ समय पश्चात् आपकी गायकी के प्रतिभाओं का अभिव्यक्तीकरण जब दक्षिण भारत तक पहुंचा तो वहां भारत के प्रसिद्ध निर्माता के. विश्वनाथ तक पहुंचा और उन्होंने दक्षिण भारत में ही निर्मित एक चलचित्र 'शंकर भरण' को हिंदी भाषा में 'सुर संगम' के नाम से पुनर्निमित करने का निश्चय किया जिसके मुख्य अभिनेता के स्वर के रूप में आप दोनों जोड़ियां का चयन किया गया। यह चित्र की देश के संगीत प्रेमियों के बीच अपार लोकप्रियता की सार्थकता सिद्ध की।*जिसके फल स्वरुप भारत के कोने कोने में बसे राष्ट्रीय संगीत प्रेमियों तक आपके चर्चे होने लगे।

आप दोनों ने न केवल अपने देश अपितु विदेशों में भी बनारस घराने का वर्चस्व ख्याल गायन में पुनः स्थापित किया। आपने अनेको देश में शास्त्रीय संगीत की प्रस्तुतियां दी। भारत के अतिरिक्त अपने श्रीलंका, नेपाल, अमेरिका, सोवियत रूस, इंग्लैंड इत्यादि देशों में शास्त्रीय प्रस्तुतियां दी हैं। आप बनारस के होकर भी ठुमरी न गाकर सिर्फ शास्त्रीय गायन टप्पा भजन के प्रभावशाली गायन से श्रोताओं के मानसपटल पर छाए रहे।आपको अनेकों पुरस्कारों से सम्मानित किया गया जिसमें भारत सरकार द्वारा "पद्मभूषण" भी सम्मिलित हैं। पंडित राजन मिश्रा जी द्वारा स्वरचित कई रचनाएं संगीत मनीषियों द्वारा सराही गई जिनका श्रवण लोग आज भी बड़े प्रेम से करते हैं। आप काशी के गौरव है आप अपने सरल स्वभाव व उत्तम गायन से काशी वासियों के लिए स्नेहास्पद बन गए।

**रितेश - रजनीश मिश्र** : पं. राजन मिश्र जी के सुपुत्र पं. रितेश - रजनीश मिश्र आप दोनों ही अपने परिवार की छठी पीढ़ी है जिनका जीवन संगीत को समर्पित है व बनारस घराने से जुड़े हुए हैं। आप दोनों को गुरु रूप में अपने पिता पं. राजन मिश्र व चाचा पं. साजन मिश्र जी का सानिध्य प्राप्त हुआ। घर से ही संगीत का मार्गदर्शन प्राप्त होने में जिम्मेदारियां भी रहती हैं, कि आप किसी गायन घराने या किसी कुशल गायक के वंशज हैं तो आपकी गायकी उत्कृष्ट हो व संगीत में बारिकियां, ठहराव व उत्तम प्रस्तुतीकरण हो। जिसे आप दोनों ने बखूबी निभाया व अपने हृदय स्पर्शी गायन से सभी के बीच अपना विशेष स्थान बनाया।

आपके गायन से पूर्व रितेश मिश्र ने पं. किशन महाराज जी से गंडा बंधन करा तबले की शिक्षा लेना आरंभ कर दिया था, किन्तु अपने पिता के आदेश पर आप दोनों ने गायन की ओर अपना रुख किया और आज आप दोनों प्रतिष्ठित जोड़ी गायक के रूप में बनारस घराने का नेतृत्व कर रहे हैं। आपने कई एल्बम में भी अपनी आवाज़ दी हैं जिनमें पं.रवि शंकर जी की पुत्री 'अनुष्का शंकर जी' के साथ 'राइस' नामक एक एल्बम बनाया।जो विख्यात हुआ साथ ही साथ ग्रैमी अवार्ड के लिए भी नामांकित हुआ। आप दोनों पिता की तरह देश-विदेशों में संगीत के प्रतिभावान प्रस्तुतियां दी हैं व कई उत्तम पुरस्कार को अपने नाम किया।

जिम 1999 में युवा रत्न अवार्ड, 2007 में भविष्य ज्योति अवार्ड, 2008 में संगीत नाटक अकादमी अवार्ड, 2010 में संगीत समृद्धि अवार्ड, और 2015 में सरगम कला ग्रुप द्वारा 'डायनेमिक वाकलिस्ट डूवा अवार्ड भी शामिल है।

अपने दूर देश में बीबीसी फॉर्म्स एट अल्बर्ट हॉल, लंदन, लिंकन सेंटर, यूएसए, कॉमनवेल्थ गेम्स के समापन समारोह में, 2002 में मैनचेस्टर में तथा यूके आदि कई विदेशी प्रस्तुतियां देखकर काशी को गौरवांवित किया है।[11] आप दोनों भाइयों का जीवन संगीत के प्रति समर्पित है।

**प्रकाश - दीपक मिश्र** : आप दोनों काशी के ही 'पं. छोटे रामदास जी' की परम्परा से आते है आपके पिता व गुरु पं मोहन लाल मिश्र जी जिनकी गायकी अप्रतिम थी। उन्होंने न सिर्फ पूर्व की अपितु स्वरचित कई नवीन रचनाएं भी आपको सिखाया एवं चाचा जी सोहन लाल मिश्र जी जो तबले से होने के बाद भी गायकी में निपुण थें। उनसे भी आप दोनों को काफी कुछ प्राप्त हुआ। आपकी सांकेतिक शिक्षा गुरु शिष्य परंपरा के तहत हुई। स्वरों पर भरपूर नियंत्रण

उत्तम बंदिशों का संग्रह व उत्कृष्ट प्रस्तुतीकरण आपकी गायकी में शुमार है। आप आकाशवाणी से ग्रेडेड आर्टिस्ट है व एक कुशल गुरु भी हैं।

आप दोनों ने देश विदेशों में शास्त्रीय व उपशास्त्रीय गायन में ख्याल, ठुमरी, दादरा, भजन आदि की भावपूर्ण प्रस्तुतियां दे रहे हैं।[12] आप दोनों भाई संगीत की सेवा में अनवरत लगे हुए हैं।

**निष्कर्ष** : वस्तुतः बनारस अर्थात् काशी में भक्ति व संगीत दोनों ही विख्यात है। काशी संगीत की तीनों रुप 'गायन वादन एवं नृत्य' में शोभायमान रही है। बनारस की जमीं पर अनेक मूर्धन्य कलाकारों का जन्म हुआ। युगल गायकी स्वतंत्र एकल गायन से अलग है किन्तु यह भी अपने आप में परिपूर्ण है बनारस में आरंभ से ही युगल गायन का क्षेत्र रहा है जिसमें कई युगल गायकों ने अपनी अमिट छाप छोड़ी हैं, केवल बनारस ही नहीं अपितु अन्य जगहों पर भी युगल गायकों ने जनमानस को अपने गायकी से विभोर किया है।

अतः कहा जा सकता है कि जिस प्रकार युगल गायकी पूर्व व वर्तमान में व्याप्त रहा है तथा यह भविष्य में भी लोगों को पुष्पित व पल्लवित करता रहेगा।

**संदर्भ** :

पंडित प्रसिद्धू मनोहर मिश्र जी

1. डॉ.जोहरी रेनू, भारतीय संगीत जगत में वाराणसी का योगदान, पृष्ठ सं. 53
2. पं. मिश्र कामेश्वर नाथ, काशी की संगीत-परंपरा एवं संगीत जगत को काशी का योगदान, पृष्ठ सं.79
3. वही, पृष्ठ सं.80
4. वही, पृष्ठ सं.81

पंडित अमरनाथ एवं पशुपतिनाथ मिश्र जी

5. पं मिश्र कामेश्वर नाथ, काशी की संगीत-परंपरा एवं संगीत जगत को काशी का योगदान, पृष्ठ सं 125
6. वही, पृष्ठ सं 125
7. डॉ गोस्वामी तन्वी, पद कमल वन्द् यौ (बनारस घराने के महान गायक पंडित पशुपतिनाथ मिश्रा जी के जीवन चरित पर आधारित), पृष्ठ सं 41
8. डॉ जोहरी रेनू, भारतीय संगीत जगत में वाराणसी का योगदान, पृष्ठ सं 67
9. पं मिश्र कामेश्वर नाथ, काशी की संगीत-परंपरा एवं संगीत जगत को काशी का योगदान, पृष्ठ सं 125
10. डॉ गोस्वामी तन्वी, पद कमल वन्द् यौ (बनारस घराने के महान गायक पंडित पशुपतिनाथ मिश्रा जी के जीवन चरित पर आधारित), पृष्ठ सं 42
11. www.chhandayan.org http://chhandayan.org/ calendar/2017/5/21
12. Indianvocalduo.com

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-154-156

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 154-156
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**खुशी वशिष्ठ**
शोधार्थी, हिन्दी विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, जयपुर (राजस्थान)
**शोध निर्देशिका :**
**डॉ. पिंकी पारीक**
हिंदी विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, जयपुर (राजस्थान)

Corresponding Author :

**खुशी वशिष्ठ**
शोधार्थी, हिन्दी विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, जयपुर (राजस्थान)

## सुदर्शन प्रियदर्शिनी की कहानी – संग्रहों में पितृसत्तात्मक मानसिकता और पुरुष उच्छृंखलता का चित्रण

**सारांश :** सुदर्शन प्रियदर्शिनी के कहानियों में पितृसत्तात्मक मानसिकता और पुरुषों की उच्छृंखलता का प्रभाव स्त्री के व्यक्तिगत, वैवाहिक और सामाजिक जीवन के विभिन्न स्तरों पर दिखाई देता है। लेखिका ने मरीचिका, खली हथेली, सब कुछ होते हुए, मृगतृष्णा, निशांक, सावित्री नं. 3, तुम्हारी आयाशा, घर दर घर और पाखी जैसी कहानियों के माध्यम से पुरुष – वर्चस्व, स्त्री की स्वतंत्रता पर नियंत्रण, मानसिक उत्पीड़न, देह – केंद्रति दृष्टि, विवोहतर संबंध तथा स्त्री – पुरुष के लिए अलग – अलग नैतिक मानदंडों को अभिव्यक्त किया है। उनकी कहानियों में पुरुष की उच्छृंखलता और स्त्री पर नियंत्रण पितृसत्तात्मक व्यवस्था के परस्पर जुड़े हुए पक्षों के रुप में जीवन – शैली अपनाने के बावजूद स्त्री से पारंपरिक भूमिकाओं और नैतिक मर्यादाओं की अपेक्षा करता है। इस प्रकार सुदर्शन प्रियदर्शिनी की कहानियों में स्त्री – शोषण के साथ – साथ उसके पीछे कार्यरत सामाजिक एवं मानसिक संरचनाओं को उजागर करता है तथा स्त्री की स्वतंत्रता, अस्मिता और समानता के प्रश्न को प्रमुखता प्रदान करता है।

**मुख्य शब्द :** पितृसत्तात्मक मानसिकता, पुरुषों की उच्छृंखलता, स्त्री अस्मिता, स्त्री शोषण, पुरुष वर्चस्व, लैगिक असमानता, मानसिक उत्पीड़न, दोहरे मानदंड, प्रवासी हिन्दी साहित्य।

**पितृसत्तात्मक समाज की मानसिकता :** "पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना की ऐसी व्यवस्था है जिसमें पुरुष, महिला पर अपना प्रभुत्व जमाता है, उसका दमन करता है और उसका शोषण हैं।"[1]

सुदर्शन प्रियदर्शिनी की कहानियों में पितृसत्तात्मक मानसिकता केवल पुरुष के स्त्री पर प्रत्यक्ष नियंत्रण तक सीमित नहीं है बल्कि यह परिवार, विवाह, नैतिकता और सामाजिक मर्यादाओं के माध्यम से स्त्री के व्यक्तित्व को नियंत्रित करने वाली व्यापक सामाजिक मर्यादाओं के माध्यम से स्त्री के व्यक्तित्व को नियंत्रित करने वाली व्यापक सामाजिक संरचना के रुप में सामने आती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में पुरुष को परिवार का प्रमुख तथा निर्णयकर्ता माना जाता है जबकि स्त्री से आज्ञाकारिता, त्याग, सहनशीलता और मर्यादा का पालन अपक्षित रहता है। इस व्यवस्था में स्त्री की स्वतंत्र इच्छा और व्यक्तिगत आकांक्षाएँ पुरुष के अधीन कर दी जाती हैं। सुदर्शन प्रियदर्शिनी अपने कथा – पात्रों के माध्यम से इसी सत्ता – संबंध को उजागर करती है।

सुदर्शन प्रियदर्शिनी की **'मरीचिका'** कहानी में मालवीय का चरित्र पितृसत्ताम्मक पुरुष मानसिकता का प्रतिनिधित्व करता है। कहानी की नायिका अपना व अपने परिवार के भरण पोषण के लिए एक फैक्ट्री में स्टेनो की नौकरी करती है। वह अपनी लगन व निष्ठापूर्ण कार्य से सभी पुरुषों को पटखनी देने लगती है। साथ ही दबंग होने के कारण अपना हक छीनकर ले लेती है। यही बात फैक्ट्री के मालिक मालवीय का अच्छी नहीं लगती और वह उसका जीवन बर्बाद करने को आतुर हो जाता है। वह स्वंय शादीशुदा

होते हुए भी उससे शादी कर लेती है और जीवन भर उसका अपमान करता है। वह मालवीय से पूछती है कि –"मुझसे शादी ही क्यों की आपने, आपके पास सब कुछ तो था पहले से। मालवीय कहता है – तुम्हारी हेकड़ी तोड़ने के लिए.....क्योंकि हेकड़ी जितनी बुलंद होती है, उतना ही उसे तोड़ने में आनंद मिलता है। तुम्हारी बुलंद हेकड़ी को ही मैं मसलना चाहता था, वही मैंने किया।"[2]

यहाँ लेखिका यह स्पष्ट करती हैं कि पितृसत्ता स्त्री की स्वतंत्र पहचान को चुनौती मानती है और उसे अपने अनुकूल ढालने का प्रयास करती है।

ठस पितृसत्ता समाज के अहं को ललकारती सुदर्शन जी की **'खाली हथेली'** कहानी में स्त्री के संवेदनशील मन की छटपटाहट को उजागर करती है। कहानी का नायक, स्त्रियों के प्रति वितृष्णा का भाव रखता है। उसे कॉलेज के दिनों में एक लड़की पसंद आती है जोकि पढ़ने में अव्वल व अत्यंत सुंदर होती है। उस पर कॉलेज के सभी लड़के मरते हैं। स्त्री को परिन्दे की तरह उड़ता देख, कहानी नायक उसके पंख कुतरने को आतुर हो जाता है। वह उसे अपने प्रेम जाल में फँसाकर विवाह कर लेता है यानि कि आज़ाद चिड़िया को पिंजरें में कैद कर लेता है। कैद करने के बाद प्रताड़ना का दौर शुरु हो जाता है। नायक द्वारा उसकी हर वो चीज़ को नकार दिया जाता है, जिसे वह पसंद करती है जैसे – बाहर खाना, सिनेमा देखना, शादी व पार्टिया में जाना। इतनी नकार के बाद भी नायक को चैन नहीं आता है, तब वह उसके हर काम में कमियाँ निकालना शुरु कर देता है। उसके बनाए हुए खाने में कभी मिर्च ज्यादा कहकर, उसकी हर समय तिरस्कार किया करता है। दुनिया की नज़रों में वह एक अच्छा पति है। लेकिन असल में एक राक्षसी प्रवृति का जानवर रूपी पति है, जिसने अपनी पत्नी का जीवन नरक बनाकर रख दिया है। उसने अपनी पत्नी की मुस्कान छीन ली और उसे पल – पल मरने के लिए छोड़ दिया। इतना सब सहते – सहते वह जीवन जीने की आस खो देती है। उधर डॉक्टरों ने भी उसे ब्रेन टयूमर बताकर उसके पति को आगाह किया कि इनकी ज़िन्दगी के ज्यादा दिन नहीं बचे हैं। ऐसी हृदयविदारक खबर सुनकर भी पति अपनी राक्षसी प्रवृत्ति को नहीं छोड़ता है। कुछ समय बाद पत्नी की सांसे साथ छोड़ना शुरु कर देती हैं, तब कहानी का नायक अपने द्वारा किए गए दुर्व्यवहार पर पश्चाताप करता है। उसे आत्मग्लानि होती है। वह अपने गुनाहों की माँफी माँगना चाहता है लेकिन अपने अहं के कारण वह झुक नहीं पाता हैं। लेखिका बड़े ही तीखे स्वर में कहती हैं कि – "नारी पुरुष से किसी पैमाने से कमतर नहीं है, फिर भी वह उपेक्षित और प्रताड़ित ही रही क्योंकि उसने स्वयं होने दिया और सदैव पुरुष की स्वाधीनता ही स्वीकार की।"[3]

**'सब कुछ होते हुए'** कहानी में भी पुरुष की दोहरे मानदंड वाली मानसिकता दिखाई देती है। पुरुष अपने लिए एक से अधिक संबंधों को स्वीकार्य मानता है लेकिन स्त्री से नैतिकता, निष्ठा और मर्यादा की अपेक्षा करता है। इस प्रकार पुरुष के लिए स्वतंत्रता और स्त्री के लिए नियंत्रण रखना, यह विरोधाभास पितृसत्तात्मक समाज की लैगिक असमानता को स्पष्ट करता है। पुरुषों के लिए लेखिका कहती है कि "पुरुष तो चोर की वह बिसात है कि माल चाहे हाथ न लगे पर मुँह की चाट को वह नहीं रोक सकता....हर आदमी में औरत को तोड़ने की एक आदिम शक्ति होती है जिससे वह सुनार की ठुक – ठुक से उसे तोड़ता और अपने अनुरूप तराशता चलता है अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप।"[4]

**पुरुषों की उच्छृंखलता का स्वरुप :** सुदर्शन प्रियदर्शिनी की कहानीयों में पितृसत्तात्मक सत्ता का दूसरा पक्ष पुरुषों की उच्छृंखलता है। जब सामाजिक व्यवस्था पुरुष को अधिक स्वतंत्रता प्रदान करती है और उसके व्यवहार पर नैतिक कम होता है, तब वह स्वतंत्रता कई बार स्त्री के शोषण और उसके अधिकारों के उल्लंघन में परिवर्तित हो जाती है। लेखिका इसी दोहरे नैतिक व्यवहार को अपने पात्रों के माध्यम से सामने लाती हैं।

**'मृगतृष्णा'** कहानी में चालीस वर्षीय पुरुष का एक कम उम्र की छात्रा के प्रति आकर्षण उसकी काम – केंद्रित मानसिकता को उजागर करता है। विवाहित और संतानवान होने के बावजूद वह अपने आकर्षण को उचित ठहराने का प्रयास करता है–"घर की दाल में यहाँ – वहाँ के मसाले का तड़का न लगे तो मुँह का ज़याका मर जाता है। यौवन में मस्त भरपूर जवानी को देखकर कैसे अंग – अंग फड़फड़ाने लगता है। जीने की इच्छा दोगुनी हो जाती है। इसमें सोचिए – हर्ज भी क्या है?"[5]

यहाँ लेखिका पुरुष की उस मानसिकता को सामने लाती हैं जिसमें स्त्री को उसके व्यक्तित्व के बजाय उसकी देह और यौव्न के आधार पर देखा जाता है। इस प्रकार स्त्री की देह पुरुष की इच्छा और उपभोग की वस्तु में बदल जाती है।

**'निशंक'** में राजीव के चरित्र के माध्यम से वैवाहिक संबंध और पुरुष की निजी इच्छाओं के बीच का विरोधाभास सामने आता है। वह पारिवारिक जीवन और पत्नी के प्रति अपने दायित्वों को बनाए रखते हुए अन्य स्त्रियों के साथ संबंध स्थापित करता है। लेकिन धीरे – धीरे राजीव दो भागों में बँटता चला जाता है। राजीव का बर्ताव सुनंदा के प्रति बदलने लगता है। सुनंदा के माध्यम से लेखिका कहती है –"आदमी जात अंदर से इतना घटिया क्यों हो जाता है? घर में बरतन साफ करने वाली, जमादारिन, पड़ोसन या किसी भी औरत से आँख मटक्के से लेकर शारीरिक सम्बन्ध की फिसलन तक वह कितनी आसानी से पहुँच जाता है। उसकी गिलाज़त की कोई सीमा नहीं है।"[6]

इससे पुरुष के सामाजिक और निजी व्यक्तित्व के द्वंद्व को समझा जा सकता है। वह समाज में एक जिम्मेदार पति की भूमिका निभाता हुआ दिखाई देता है, किंतु निजी स्तर पर अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए वैवाहिक मर्यादाओं का उल्लघंन करता है। लेखिका ने लिखा भी है कि –"आदिम काल से आज तक आदमी की फितरत में कोई अंतर नहीं आया। आदिम – जंगली आदमी अपनी भूख खुलेआम, सरेआम मिटाता था। वह आज भी वही करता है। केवल सभ्यता का ओढ़न – ओढ़कर लुक छिपकर सभ्यता के नये आवरण में वह जंगलों और कबीलों से उठकर होटलों में आ गया है।"[7]

लेखिका **'नागपाश'** कहानी में पुरुषों की दरिन्दगी के बारे में विस्तार से चर्चा करती हैं। यह कहानी अमेरिका में रह

रहे प्रवासी भारतीय दम्पत्ति अरुण और मृदुला की है। अरुण अपनी पत्नी की असहमति के बाद भी उसके साथ सहवास करता है, जिस कारण वह गर्भवती हो जाती है। इससे पहले वह तीन बच्चों को जन्म दे चुकी है और इस बार वह चौथी बार प्रसूता बनी है। डॉक्टरों ने उसके ऑप्रेशन पर टिप्पणी कर दी है कि उसके प्राण संकट में हैं। जब से मृदुला को डॉक्टरों की टिप्पणी के बारे में पता चलता है, तबसे उसके मन में कई प्रश्न ले लेते हैं जैसे वह बच्चो को दुबारा देख पाएगी? क्या वह जीवित बचेगी? इन्हें प्रश्नों से जूझते हुए वह अरुण से कहती है कि अगर मैं प्रसव के दैरान मृत घोषित कर दी जाऊँ तो तुम दूसरी शादी मत करना। भले ही नौकरानी रख लेना क्योंकि बच्चे बिखर जायेगें। तुम उनकों संभाल लेना। मृदुला एक असहाय की तरह अपने पति से बच्चों के लिए भीख माँगती है। स्त्री को ऐसी दयनीय स्थिति तक पहुँचाने वाला पुरुष चैन से जीवन जीता है, उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। वह स्त्री की मन : स्थिति को समझना नहीं चाहता है। लेखिका ने कहानी में एक जगह लिखा भी है कि –"तुम आदमी जात इतने जाहिल और खुदगर्ज हो कि अपनी बेलौस हवस के समक्ष कुछ दिखाई ही नहीं देता।"[8]

**'सावित्री नं. 3'** में प्रभुदयाल का चरित्र भी इसी पुरुष मानसिकता को व्यक्त करता है। वह अपनी पत्नी के अतिरिक्त दूसरी स्त्री से संबंध रखता है, लेकिन अपनी पत्नी पर ही चरित्रहीनता का आरोप लगाता है और उसे नियंत्रित करती है। इससे स्पष्ट होता है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था में पुरुष अपने आचरण के लिए जिस स्वतंत्रता को स्वाभाविक मानता है, वही स्वतंत्रता स्त्री को देने के लिए तैयार नहीं होता।

**'तुम्हारी आयशा'**कहानी में विदेश में रहने वाला भारतीय पुरुष आधुनिक परिवेश और जीवन शैली को स्वीकार करता है, लेकिन अपनी पत्नी से पारंपरिक स्त्री की अपेक्षाएँ रखता है –

"उन्हें वही सत्ती – सावित्री, पति – परायण, सहिन्द्र, दंड भोगती, कपड़े धोने वाली, खाना पकाने वाली, सफाई करने वाली आज्ञाकारिणी पत्नी की माँग होती है।"[9]

यहाँ भौगोलिक परिर्वतन और मानसिक परिर्वतन के बीच का अंतर स्पष्ट होता है। पुरुष विदेश की आधुनिक जीपन – शैली को अपनाने में सहज है, लेकिन स्त्री के संदर्भ में पारंपरिक लैंगिक भूमिकाओं का बनाए रखना चाहता है।

**'घर दर घर' और 'पाखी'** जैसी कहानियों में भी पुरुष – अहं, कामेच्छा और स्त्री पर नियंत्रण की प्रवृत्ति को रेखांकित किया गया है। इन कहानियों में पुरुष अपनी इच्छाओं की पूर्ति न होने पर स्त्री के प्रति मानसिक अथवा शारीरिक आक्रोश व्यक्त करता है। इसके विपरीत स्त्री से अपेक्षा की जाती है िकवह परिस्थितियों को सहन करे। इस प्रकार स्त्री की सहनशीलता को उसका गुण और पुरुष की उच्छृंखलता को उसकी स्वाभविक स्वतंत्रता मानने वाली सामाजिक सोच पर लेखिका प्रश्न उठाती हैं।

**निष्कर्ष :** सुदर्शन प्रियदर्शिनी की कहानियों में पितृसत्तात्मक मानसिकता और पुरुषों की उच्छृंखलता एक – दूसरे से जुड़ी हुई दिखाई देती हैं। पितृसत्ता पुरुष को निर्णय लेने और स्त्री को नियंत्रित करने का अधिकार देती है, जबकि पुरुष की उच्छृंखलता उसी सत्ता से प्राप्त आसमान स्वतंत्रता का परिणाम बनती है। लेखिका ने मरीचिका, खाली हथेली, मृगतृष्णा, निशंक, सावित्री नं. 3, तुम्हारी आयाशा, घर दर घर और पाखी जैसी कहानियों में माध्यम से स्त्री के शोषण, मानसिक उत्पीड़न, देह – केंद्रित दृष्टि, वैवाहिक असमानता और दोहरे नैतिक मानदंडों को अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार उनकी कहानियों में स्त्री को केवल पीड़ित के रुप में प्रस्तुत नहीं करती, बल्कि पितृसत्तामक व्यवस्था की उन संरचनाओं को भी सामने लाता है,जिनके कारण स्त्री की स्वतंत्रता और अस्मिता लगातार प्रभावित होती है।

**संदर्भ ग्रंथ :**


1. गुंजन राजवंशी, पितृसत्तात्मक संरचना में पुरुष, महिला पर प्रभुत्व जमाता है, उसका शोषण करता है, यूथ की आवाज़, 11 फरवरी 2020, http://wwwyouthkiawaaz.com/2020/02/exploitation-of-women-in-patriarchal-structure-hindi-article/
2. सुदर्शन प्रियदर्शिनी, मरीचिका कहानी – उत्तराण, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण – प्रथम, 2009, पृष्ठ संख्या – 239
3. सुदर्शन प्रियदर्शिनी, खाली हथेली कहानी – खाली हथेली, बोधि प्रकाशन, जयपुर, संस्करण प्रथम, 2015, पृष्ठ संख्या – 55
4. सुदर्शन प्रियदर्शिनी, सब कुछ होते हुए कहानी – आर न पार, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण – प्रथम 2021, पृष्ठ संख्या – 31 – 32
5. सुदर्शन प्रियदर्शिनी, मृगतृष्णा कहानी – उत्तरायण, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण – प्रथम, 2012, पृष्ठ संख्या – 59
6. सुदर्शन प्रियदर्शिनी, निशंक कहानी – उत्तरायण, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण – प्रथम, 2012, पृष्ठ संख्या – 42
7. सुदर्शन प्रियदर्शिनी, निशंक कहानी – उत्तरायण, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण – प्रथम, 2012, पृष्ठ संख्या – 45
8. सुदर्शन प्रियदर्शिनी, नागपाश कहानी – उत्तरायण, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण – प्रथम, 2012, पृष्ठ संख्या – 34
9. सुदर्शन प्रियदर्शिनी, तुम्हारी आयशा कहानी – खाली हथेली, बोधि प्रकाशन, जयपुर, संस्करण – प्रथम, 2015, पृष्ठ संख्या – 57


•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-157-160

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 157-160
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. रेनू चौधरी**

सहायक आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग, सी. एम्. पी. कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

Corresponding Author :

**डॉ. रेनू चौधरी**

सहायक आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग, सी. एम्. पी. कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

# अहिंसा और सत्य का विश्लेष्णात्मक अध्ययन (महात्मा गांधी के विशेष संदर्भ में)

मानव सभ्यता की प्रगति का इतिहास केवल विज्ञान, तकनीक और आर्थिक विकास का इतिहास नहीं है, बल्कि यह मनुष्य के नैतिक विकास का भी इतिहास है। वैज्ञानिक उपलब्धियों ने मनुष्य को प्रकृति पर अभूतपूर्व नियंत्रण प्रदान किया है, किंतु इस शक्ति का उपयोग किस नैतिक दिशा में किया जाए, यह प्रश्न आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। युद्ध, आतंकवाद, सामाजिक ध्रुवीकरण, धार्मिक एवं जातीय संघर्ष, डिजिटल घृणा, दुष्प्रचार, आर्थिक असमानता और पर्यावरणीय संकट जैसी समस्याएँ आधुनिक मानवता के सामने गंभीर चुनौतियाँ प्रस्तुत करती हैं। ऐसी परिस्थितियों में यह विचार करना आवश्यक है कि नैतिक मूल्य केवल व्यक्तिगत आचरण तक सीमित रहें अथवा सामाजिक परिवर्तन का आधार भी बन सकते हैं।

इसी संदर्भ में महात्मा गांधी का सत्य और अहिंसा संबंधी चिंतन विशेष महत्त्व रखता है। महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को केवल उपदेशात्मक आदर्शों के रूप में नहीं, बल्कि जीवन में प्रयोग किए जाने वाले सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किया। *सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा* में उन्होंने अपने जीवन को सत्य की खोज के प्रयोगों के रूप में देखा (गाँधी , 1993)। उनके लिए सत्य कोई अंतिम बौद्धिक निष्कर्ष नहीं था, बल्कि निरन्तर खोज और आत्मपरीक्षण की प्रक्रिया था। सत्य की इस खोज को अहिंसा के माध्यम से ही सार्थक बनाया जा सकता है। इस शोध का उद्देश्य महात्मा गांधी के सत्य और अहिंसा संबंधी चिंतन का दार्शनिक विश्लेषण करते हुए उसकी समकालीन सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक और पर्यावरणीय प्रासंगिकता को स्पष्ट करना है।

**भारतीय दार्शनिक परम्परा का सत्य-अहिंसा चिंतन :** महात्मा गांधी का सत्य और अहिंसा संबंधी विचार भारतीय दार्शनिक परम्परा से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। पतञ्जलि के *योगसूत्र* में अहिंसा और सत्य को पाँच यमों में क्रमशः प्रथम और द्वितीय स्थान दिया गया है,

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" (योगसूत्र 2.30)। अहिंसा की दृढ़ प्रतिष्ठा के परिणामस्वरूप वैर का त्याग होता है, "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" (योगसूत्र 2.35)। सत्य के संबंध में कहा गया है, "सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्" (योगसूत्र 2.36)। इससे स्पष्ट है कि योग-दर्शन में सत्य और अहिंसा केवल सामाजिक व्यवहार के नियम नहीं, बल्कि आत्मानुशासन और चित्तशुद्धि के साधन हैं।

*भगवद्गीता* में भी अहिंसा और सत्य को दैवी सम्पदाओं में सम्मिलित किया गया है, "अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्..." (गीता 16.2)। शंकराचार्य अहिंसा को प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाने और सत्य को वस्तुस्थिति के अनुरूप कथन से सम्बद्ध करते हैं। जैन दर्शन ने अहिंसा को अत्यन्त व्यापक नैतिक सिद्धान्त के रूप में विकसित किया, जबकि बौद्ध दर्शन में करुणा और मैत्री ने हिंसा-विरोधी नैतिकता को नया आयाम प्रदान किया। महात्मा गांधी ने इन परम्पराओं से प्रेरणा ग्रहण करते हुए सत्य और अहिंसा को आधुनिक सामाजिक एवं राजनीतिक संघर्ष की पद्धति में रूपान्तरित किया।

**महात्मा गांधी के दर्शन में सत्य और अहिंसा :** महात्मा गांधी के सत्य-विचार को नैतिक और दार्शनिक दोनों स्तरों पर समझा जा सकता है। सामान्य अर्थ में सत्य का सम्बन्ध मन, वचन और कर्म की ईमानदारी से है। व्यापक दार्शनिक अर्थ में सत्य परम वास्तविकता की खोज है। महात्मा गांधी के आध्यात्मिक विकास में "ईश्वर सत्य है" से "सत्य ही ईश्वर है" की ओर संक्रमण महत्त्वपूर्ण है (गाँधी, 1993)। इससे सत्य किसी विशेष धार्मिक विश्वास तक सीमित न रहकर सार्वभौमिक नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य बन जाता है।

महात्मा गांधी स्वयं को सत्य का पूर्ण ज्ञाता नहीं, बल्कि सत्य का साधक मानते थे। सत्य की खोज में अपनी सीमाओं और त्रुटियों को स्वीकार करना आवश्यक है। इस दृष्टि का सामाजिक महत्त्व भी है। यदि व्यक्ति यह स्वीकार करता है कि उसका ज्ञान अपूर्ण हो सकता है, तो वह अपने मत को अंतिम सत्य मानकर दूसरे पर उसे बलपूर्वक थोपने की प्रवृत्ति से बच सकता है। अतः महात्मा गांधी का सत्य-दर्शन सत्य बोलने की अपेक्षा अधिक व्यापक है; यह आत्मपरीक्षण, बौद्धिक विनम्रता और निरन्तर सत्य-अन्वेषण की जीवन-पद्धति है।

महात्मा गांधी की अहिंसा भी केवल शारीरिक हिंसा से बचने तक सीमित नहीं है। इसे शारीरिक, वाचिक और मानसिक स्तरों पर समझा जा सकता है। किसी व्यक्ति को शारीरिक क्षति न पहुँचाना शारीरिक अहिंसा है; अपमान, घृणा, असत्य और उत्तेजक भाषा से बचना वाचिक अहिंसा है; तथा द्वेष, प्रतिशोध और घृणा से मुक्त होने का प्रयास मानसिक अहिंसा है। इसलिए अहिंसा निष्क्रियता अथवा अन्याय को स्वीकार करना नहीं है। गांधी के लिए अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध आवश्यक है, किंतु प्रतिरोध में विरोधी के प्रति घृणा का स्थान नहीं होना चाहिए। इसी कारण उन्होंने अहिंसा को साहस और आत्मबल से जोड़ा तथा कायरता को अहिंसा से अलग माना।

**सत्याग्रह और साधन-साध्य की नैतिकता :** महात्मा गांधी के दर्शन का विशिष्ट योगदान सत्याग्रह है। सत्याग्रह केवल राजनीतिक प्रदर्शन या आंदोलन नहीं, बल्कि सत्य के प्रति आग्रह और अन्याय के विरुद्ध अहिंसक प्रतिरोध की नैतिक पद्धति है। इसके प्रमुख तत्व सत्य, अहिंसा, आत्मबल, आत्मानुशासन, स्वेच्छा से कष्ट सहने की तत्परता, विरोधी के प्रति घृणा का अभाव तथा संवाद की संभावना को बनाए रखना हैं। सत्याग्रह का उद्देश्य विरोधी का विनाश नहीं, बल्कि अन्यायपूर्ण व्यवहार या व्यवस्था में परिवर्तन लाना है।

सत्याग्रह बाहरी संघर्ष के साथ आन्तरिक संघर्ष को भी महत्त्व देता है। सत्याग्रही को पहले अपने भीतर के भय, क्रोध और प्रतिशोध की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण का प्रयास करना होता है। इसीलिए महात्मा गांधी के यहाँ आत्मबल राजनीतिक संघर्ष का नैतिक आधार बनता है। इसी संदर्भ में साधन और साध्य का प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महात्मा गांधी के अनुसार अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गलत साधनों को उचित नहीं ठहराया जा सकता। साधन और साध्य के संबंध को उन्होंने बीज और वृक्ष के उदाहरण से समझाया। जिस प्रकार का बीज होगा, उसी प्रकार का

वृक्ष विकसित होगा। यदि न्याय प्राप्त करने के लिए असत्य, हिंसा और घृणा को स्वीकार किया जाए, तो उससे उत्पन्न सामाजिक व्यवस्था में भी हिंसा और अविश्वास के संस्कार बने रह सकते हैं। इसलिए महात्मा गांधी राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ नैतिक स्वराज को भी आवश्यक मानते हैं।

**स्वराज, सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक संवाद :** महात्मा गांधी का स्वराज केवल विदेशी शासन से मुक्ति नहीं था। *हिन्द स्वराज* में उन्होंने आधुनिक सभ्यता की उस धारणा की आलोचना की जिसमें भौतिक प्रगति को ही मानव उन्नति का प्रमुख मापदण्ड माना जाता है (गाँधी, 1997)। उनके लिए वास्तविक स्वराज आत्मशासन, आत्मसंयम और नैतिक स्वतंत्रता से सम्बद्ध था। ऐसा व्यक्ति अपनी इच्छाओं, लोभ, क्रोध और भय का दास नहीं होता।

अहिंसा का सामाजिक पक्ष भी इसी स्वराज की अवधारणा से जुड़ता है। अस्पृश्यता, सामाजिक भेदभाव, साम्प्रदायिक घृणा और आर्थिक शोषण के विरुद्ध संघर्ष महात्मा गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम का हिस्सा था। साम्प्रदायिक एकता, अस्पृश्यता-निवारण, खादी, ग्रामोद्योग, स्वच्छता, शिक्षा, महिला-उत्थान और आर्थिक समानता जैसे कार्यक्रमों के माध्यम से उन्होंने अहिंसा को सामाजिक पुनर्निर्माण से जोड़ा।

लोकतांत्रिक जीवन में भी महात्मा गांधी की अहिंसा उपयोगी नैतिक आधार प्रदान करती है। लोकतंत्र केवल मतदान की व्यवस्था नहीं, बल्कि असहमति के सम्मान की संस्कृति भी है। किसी विचार का विरोध करते हुए व्यक्ति की मानवीय गरिमा को स्वीकार करना गांधीवादी दृष्टि का महत्त्वपूर्ण तत्व है। वर्तमान राजनीतिक और सामाजिक संवाद में जहाँ वैचारिक मतभेद कई बार व्यक्तिगत शत्रुता में बदल जाते हैं, वहाँ महात्मा गांधी का सत्याग्रह संवाद, आत्मसंयम और सम्मानजनक असहमति का आधार प्रस्तुत करता है।

**डिजिटल युग, शिक्षा और पर्यावरण के संदर्भ में प्रासंगिकता :** डिजिटल युग में सत्य की चुनौती नई प्रकृति ग्रहण कर चुकी है। सोशल मीडिया के माध्यम से सूचना अत्यन्त तीव्र गति से फैलती है और सत्य, असत्य, भ्रामक तथा संदर्भ-विहीन सामग्री एक साथ प्रसारित हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में गांधी का सत्य-विचार केवल झूठ न बोलने तक सीमित नहीं रह सकता। सूचना साझा करने से पूर्व स्रोत की विश्वसनीयता जाँचना, अनिश्चित सूचना को निश्चित तथ्य के रूप में प्रस्तुत न करना और अपनी भूल स्वीकार करना आधुनिक सत्य-अनुशासन के रूप में देखा जा सकता है।

इसी प्रकार डिजिटल माध्यमों में घृणात्मक भाषा भी सामाजिक हिंसा को बढ़ा सकती है। किसी व्यक्ति या समुदाय को अपमानित अथवा अमानवीय रूप में प्रस्तुत करने वाली भाषा सामाजिक दूरी और संघर्ष को बढ़ाती है। गांधीवादी अहिंसा इस संदर्भ में भाषायी संयम, संवाद और दूसरे की मानवीय गरिमा के सम्मान का नैतिक आधार प्रदान करती है।

शिक्षा के क्षेत्र में महात्मा गांधी का सत्य और अहिंसा संबंधी चिंतन विशेष महत्त्व रखता है। शिक्षा का उद्देश्य केवल रोजगार या परीक्षा में सफलता प्राप्त करना नहीं, बल्कि उत्तरदायी और नैतिक नागरिक का निर्माण भी है। महात्मा गांधी की बुनियादी शिक्षा में श्रम, आत्मनिर्भरता, नैतिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व को महत्त्व दिया गया था। समकालीन शान्ति-शिक्षा में भी सहानुभूति, मानवाधिकार, संघर्ष-समाधान और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व जैसे मूल्यों पर बल दिया जाता है। पर्यावरणीय संकट के संदर्भ में भी महात्मा गांधी का सीमित उपभोग और आवश्यकता तथा लालच के बीच अन्तर करने का विचार महत्त्वपूर्ण है। प्रकृति का असीमित दोहन वर्तमान और भावी पीढ़ियों के जीवन को प्रभावित करता है। इस दृष्टि से अहिंसा को मानव-मानव सम्बन्धों से आगे बढ़ाकर प्रकृति के प्रति उत्तरदायित्व से भी जोड़ा जा सकता है। महात्मा गांधी का स्वावलम्बन, संयमित उपभोग और ग्राम-केंद्रित अर्थव्यवस्था का विचार आज सतत् विकास और पर्यावरणीय नैतिकता के साथ संवाद स्थापित करता है।

आर्थिक क्षेत्र में उनका ट्रस्टीशिप सिद्धान्त संपत्ति को सामाजिक उत्तरदायित्व से जोड़ता है। आर्थिक शक्ति का

उद्देश्य केवल व्यक्तिगत संचय न होकर व्यापक सामाजिक कल्याण से सम्बद्ध होना चाहिए। इस प्रकार अहिंसा का व्यापक अर्थ शारीरिक क्षति से बचने के साथ-साथ मानवीय गरिमा, सामाजिक न्याय और प्रकृति के प्रति उत्तरदायित्व को स्वीकार करना भी है।

**गांधीवादी अहिंसा की सीमाएँ और आलोचनात्मक मूल्यांकन :** महात्मा गांधी की अहिंसा के समक्ष यह प्रश्न उठता है कि अत्यन्त हिंसक परिस्थितियों में अहिंसक प्रतिरोध कितना प्रभावी हो सकता है। क्या प्रत्येक राजनीतिक सत्ता नैतिक अपील से प्रभावित होगी? क्या स्वैच्छिक कष्ट का नैतिक प्रभाव सभी परिस्थितियों में समान होगा? ये प्रश्न गांधीवादी पद्धति की व्यावहारिक सीमाओं की ओर संकेत करते हैं। अहिंसा की प्रभावशीलता सामाजिक परिस्थिति, संस्थागत संरचना, नेतृत्व, सामूहिक अनुशासन और संघर्ष के स्वरूप पर निर्भर कर सकती है।

अतः गांधीवाद को न तो प्रत्येक समस्या का स्वतः समाधान मानना उचित है और न केवल ऐतिहासिक आन्दोलन की पद्धति के रूप में सीमित करना। इसका अधिक सार्थक पुनर्पाठ सत्य, अहिंसा, आत्मानुशासन, संवाद और न्यायपूर्ण सामाजिक परिवर्तन के परस्पर सम्बन्धों के रूप में किया जा सकता है।

**निष्कर्ष :** महात्मा गांधी के दर्शन में सत्य और अहिंसा दो पृथक नैतिक मूल्य न होकर परस्पर पूरक जीवन-सिद्धान्त हैं। सत्य मनुष्य को सत्य-अन्वेषण, आत्मपरीक्षण और अपनी सीमाओं के बोध की दिशा देता है, जबकि अहिंसा दूसरे मनुष्य की गरिमा का सम्मान करते हुए उस सत्य की ओर बढ़ने की पद्धति प्रदान करती है। सत्याग्रह इन दोनों को सामाजिक परिवर्तन की सक्रिय नैतिक शक्ति में रूपान्तरित करता है। महात्मा गांधी के लिए अहिंसा कायरता नहीं, बल्कि आत्मबल और साहस का स्वरूप है तथा सत्य केवल तथ्य-कथन नहीं, बल्कि निरन्तर खोज की प्रक्रिया है। इसी प्रकार स्वराज केवल राजनीतिक सत्ता परिवर्तन नहीं, बल्कि आत्मशासन, सामाजिक न्याय और नैतिक स्वतंत्रता की स्थापना है। आज के डिजिटल युग में सत्य का अर्थ तथ्य-जाँच, आत्मालोचन और बौद्धिक विनम्रता से जुड़ सकता है; अहिंसा संवाद, करुणा और न्यायपूर्ण प्रतिरोध का आधार बन सकती है। शिक्षा, लोकतांत्रिक संवाद, सामाजिक न्याय, पर्यावरणीय उत्तरदायित्व और वैश्विक शान्ति जैसे क्षेत्रों में महात्मा गांधी का चिंतन समकालीन नैतिक प्रश्नों के साथ सार्थक संवाद स्थापित करता है।

अन्ततः महात्मा गांधी के दर्शन का मूल प्रश्न आज भी प्रासंगिक है, मनुष्य सत्य की खोज करते हुए दूसरे मनुष्य की गरिमा को कैसे सुरक्षित रखे? गांधीवादी दृष्टि में इसका उत्तर सत्य, अहिंसा, आत्मानुशासन, संवाद और सेवा के समन्वय में निहित है। इस अर्थ में महात्मा गांधी का दर्शन अतीत का स्मारक नहीं, बल्कि वर्तमान की जटिल नैतिक चुनौतियों पर विचार करने वाली जीवंत दार्शनिक पद्धति है।

**संदर्भ-सूची :**


1. गांधी, एम. के. (1927/1993), *एन ऑटोबायोग्राफी: द स्टोरी ऑफ माई एक्सपेरिमेंट्स विद ट्रुथ*, बीकन प्रेस।
2. गांधी, एम. के. (1909/1997), *हिंद स्वराज एंड अदर राइटिंग्स*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. गांधी, एम. के. (1928/1999), *सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका*, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस।
4. गांधी, एम. के. (1948), *नॉन-वायलेंस इन पीस एंड वॉर* (खंड 1), नवजीवन पब्लिशिंग हाउस।
5. गाल्टुंग, जे. (1969) "वायलेंस, पीस, एंड पीस रिसर्च" *जर्नल ऑफ पीस रिसर्च*, 6(3), 167–191।
6. अय्यर, आर. एन. (1973) *द मॉरल एंड पॉलिटिकल थॉट ऑफ महात्मा गांधी* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
7. जुएर्गेन्समेयर, एम.(2003), *गांधी'ज़ वे: ए हैंडबुक ऑफ कॉन्फ्लिक्ट रिज़ॉल्यूशन*, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस।
8. पारेख, बी. (1989), *गांधी'ज़ पॉलिटिकल फिलॉसफी: ए क्रिटिकल एग्ज़ामिनेशन*, मैकमिलन।
9. शर्मा, ए. (2015), *गांधी: ए स्पिरिचुअल बायोग्राफी*, येल यूनिवर्सिटी प्रेस।

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-161-166

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 161-166
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. साकेत कुमार पाठक**

सहायक शिक्षक, अन्नदा उच्च विद्यालय,
हज़ारीबाग, झारखण्ड

Corresponding Author :

**डॉ. साकेत कुमार पाठक**

सहायक शिक्षक, अन्नदा उच्च विद्यालय,
हज़ारीबाग, झारखण्ड

# साहित्य : स्वरूप, संवेदना और समकालीन प्रासंगिकता — एक आलोचनात्मक अध्ययन

**शोध-सारांश :** साहित्य मानव जीवन की अनुभूतियों, संवेदनाओं, विचारों, कल्पनाओं और सामाजिक यथार्थ की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। यह केवल मनोरंजन अथवा सौंदर्याभिव्यक्ति का माध्यम न होकर व्यक्ति, समाज और संस्कृति के बीच संवाद स्थापित करने वाली महत्वपूर्ण वैचारिक शक्ति है। प्रस्तुत शोध-आलेख में साहित्य की संकल्पना, स्वरूप, प्रयोजन तथा उसकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक भूमिका का आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। अध्ययन में भारतीय काव्यशास्त्रीय परंपरा के रस, ध्वनि और सौंदर्यबोध संबंधी सिद्धांतों के साथ आधुनिक हिंदी आलोचना में साहित्य और समाज के अंतर्संबंध को आधार बनाया गया है। साहित्य अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है, किंतु वह केवल उनका प्रतिबिंब प्रस्तुत करने तक सीमित नहीं रहता, वह सामाजिक विसंगतियों पर प्रश्न उठाने तथा वैकल्पिक मानवीय दृष्टि विकसित करने का कार्य भी करता है। हिंदी साहित्य के विकासक्रम में भक्ति आंदोलन की सामाजिक चेतना, आधुनिक युग की राष्ट्रीय भावना, प्रेमचंद के साहित्य में सामाजिक यथार्थ तथा समकालीन साहित्य में स्त्री, दलित और आदिवासी विमर्श इसके उदाहरण हैं। वर्तमान वैश्वीकरण और डिजिटल तकनीक के दौर में साहित्य के माध्यम, भाषा और पाठकीय संस्कृति में उल्लेखनीय परिवर्तन आया है। इसके बावजूद साहित्य की मूल मानवीय आवश्यकता समाप्त नहीं हुई है। वह आज भी संवेदना, आलोचनात्मक विवेक, मानवीय मूल्य और सामाजिक उत्तरदायित्व को विकसित करने का सशक्त माध्यम है।

**बीज शब्द :** साहित्य, संवेदना, समाज, संस्कृति, सौंदर्यबोध, सामाजिक चेतना, मानवीय मूल्य, साहित्यिक विमर्श, समकालीन साहित्य।

**1. प्रस्तावना :** साहित्य मानव सभ्यता के विकास के साथ निरंतर विकसित होने वाली सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। मनुष्य अपने अनुभवों,

भावनाओं और विचारों को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है; किंतु जब यह अभिव्यक्ति कलात्मकता, कल्पना और संवेदना से संयुक्त होती है, तब वह साहित्य का स्वरूप ग्रहण करती है। इस दृष्टि से साहित्य को मनुष्य के बाह्य जीवन के साथ-साथ उसके अंतर्मन की भी अभिव्यक्ति माना जा सकता है। साहित्य का संबंध जीवन से अविच्छिन्न है। साहित्यकार जिस समाज में रहता है, उसकी सामाजिक संरचना, राजनीतिक परिस्थितियाँ, आर्थिक विषमताएँ, सांस्कृतिक परंपराएँ और मानवीय संबंध उसकी रचना-दृष्टि को प्रभावित करते हैं। इसी कारण प्रत्येक युग के साहित्य में उस युग की विशिष्ट चेतना और जीवन-दृष्टि का प्रभाव दिखाई देता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास को तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों और जनता की चित्तवृत्तियों से जोड़कर देखने का प्रयास किया। उनके साहित्येतिहास में साहित्य को सामाजिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों में समझने की महत्वपूर्ण दृष्टि प्राप्त होती है। प्रेमचंद ने साहित्य के उद्देश्य पर विचार करते हुए साहित्य को जीवन और समाज से जोड़ने वाली दृष्टि विकसित की। उनके अनुसार साहित्य का संबंध मनुष्य के जीवन-संघर्षों और सामाजिक चेतना से होना चाहिए। इस दृष्टि से साहित्य केवल मनोरंजन का साधन न होकर समाज की चेतना को प्रभावित करने वाली रचनात्मक शक्ति बन जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में साहित्य के सौंदर्यात्मक पक्ष पर भी व्यापक विचार हुआ है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित रस-सिद्धांत भारतीय काव्यचिंतन की आधारभूत अवधारणाओं में से एक है। आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक ने साहित्यिक अर्थ की सूक्ष्मता और व्यंजना को केंद्र में रखा। इस प्रकार भारतीय साहित्यिक चिंतन में साहित्य के सौंदर्य, भाव और अर्थ की बहुस्तरीयता पर गंभीर विचार मिलता है।

आधुनिक साहित्यिक अध्ययन ने इन सौंदर्यात्मक पक्षों के साथ-साथ साहित्य के सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संदर्भों को भी महत्व दिया है। प्रस्तुत शोध-आलेख इसी व्यापक परिप्रेक्ष्य में साहित्य के स्वरूप और समकालीन प्रासंगिकता को समझने का प्रयास है।

**2. साहित्य की संकल्पना :** साहित्य की संकल्पना को किसी एक परिभाषा में सीमित करना कठिन है। साहित्य में जीवन के विविध अनुभव, भावनाएँ, विचार और कल्पनाएँ कलात्मक भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं। इसीलिए साहित्य का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। साहित्य जीवन का यांत्रिक अनुकरण नहीं करता। साहित्यकार जीवन से सामग्री ग्रहण करता है और उसे अपनी अनुभूति, कल्पना तथा रचनात्मक दृष्टि से नया रूप प्रदान करता है। परिणामतः साहित्य में जीवन का बाहरी यथार्थ और उसका आंतरिक अर्थ दोनों उपस्थित होते हैं। भारतीय काव्यशास्त्रीय परंपरा में साहित्य के सौंदर्य और प्रभाव को समझने के लिए विभिन्न सिद्धांत विकसित हुए। भरतमुनि का रस-सिद्धांत साहित्यिक अनुभूति के भावात्मक पक्ष को महत्व देता है, जबकि आनंदवर्धन का ध्वनि-सिद्धांत काव्य में प्रत्यक्ष कथन से परे निहित अर्थ की ओर संकेत करता है। आधुनिक दृष्टि से साहित्य को केवल सौंदर्य की वस्तु मानना पर्याप्त नहीं है। साहित्य में सामाजिक यथार्थ, व्यक्ति की चेतना और ऐतिहासिक अनुभव भी अभिव्यक्त होते हैं। इसीलिए साहित्य का अध्ययन बहुआयामी दृष्टिकोण की अपेक्षा करता है।

**3. साहित्य और जीवन का अंतर्संबंध :** साहित्य और जीवन का संबंध अत्यंत गहरा है। जीवन साहित्य को विषयवस्तु प्रदान करता है और साहित्य जीवन को समझने की दृष्टि प्रदान करता है। मनुष्य के निजी अनुभव साहित्य में प्रवेश करके व्यापक मानवीय अनुभव का रूप ग्रहण कर सकते हैं। किसी व्यक्ति का दुःख निजी घटना हो सकता है, लेकिन जब वही दुःख कविता या कहानी में कलात्मक रूप प्राप्त करता है तो पाठक उसे अपने जीवन के अनुभवों से जोड़ सकता है। साहित्य की यही क्षमता व्यक्तिगत अनुभूति को सार्वभौमिक संवेदना में परिवर्तित करती है। रामचंद्र शुक्ल की साहित्य-दृष्टि में साहित्य और जनता की चित्तवृत्तियों के बीच संबंध को विशेष महत्व प्राप्त है। यह दृष्टि साहित्य को सामाजिक जीवन की व्यापक प्रक्रिया से जोड़ती है। प्रेमचंद के कथा-साहित्य में जीवन और साहित्य के इस संबंध को अत्यंत स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। किसान, मजदूर, स्त्री, निर्धन व्यक्ति और सामाजिक रूप से

वंचित वर्ग उनके साहित्य में केवल पात्र नहीं हैं, बल्कि सामाजिक यथार्थ के प्रतिनिधि बनकर उपस्थित होते हैं। गोदान, कफन, पूस की रात जैसी रचनाओं में जीवन की आर्थिक एवं सामाजिक विडंबनाएँ प्रभावशाली रूप में सामने आती हैं। इस प्रकार साहित्य जीवन को केवल चित्रित नहीं करता, बल्कि उसकी अंतर्वस्तु और अंतर्विरोधों की व्याख्या भी करता है।

**4. साहित्य और समाज :** साहित्य समाज से अलग कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। साहित्यकार सामाजिक प्राणी है और उसकी संवेदना सामाजिक परिवेश से निर्मित होती है। इसलिए सामाजिक परिवर्तन साहित्य के विषय, भाषा और दृष्टि को प्रभावित करते हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास में विभिन्न युगों की सामाजिक चेतना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। भक्तिकाल में धार्मिक रूढ़ियों, सामाजिक विभाजन और बाह्य आडंबर के विरुद्ध अनेक संत कवियों ने अपनी आवाज उठाई। कबीर की रचनाओं में सामाजिक पाखंड और रूढ़िवाद की आलोचना इसका प्रमुख उदाहरण है। आधुनिक युग में साहित्य में राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक सुधार की भावना विकसित हुई। भारतेंदु हरिश्चंद्र के साहित्य में आधुनिक चेतना और राष्ट्रीय भावना के प्रारंभिक रूप दिखाई देते हैं। द्विवेदी युग में भाषा, समाज-सुधार और राष्ट्रीय भावना के प्रश्नों को महत्व मिला। प्रेमचंद के साहित्य ने सामाजिक यथार्थ को हिंदी कथा साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया। बाद में प्रगतिशील साहित्य ने वर्गीय विषमता और आर्थिक शोषण को साहित्यिक विमर्श का विषय बनाया। इस प्रकार साहित्य समाज के यथार्थ को अभिव्यक्त करने के साथ-साथ उसकी आलोचना भी करता है।

**5. साहित्य और संस्कृति :** साहित्य किसी समाज की सांस्कृतिक स्मृति का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। संस्कृति में भाषा, परंपरा, लोकाचार, धार्मिक विश्वास, जीवन-मूल्य, लोककला और सामूहिक स्मृतियाँ शामिल होती हैं। साहित्य इन सभी को अभिव्यक्ति देता है। लोकगीत, लोककथाएँ, आख्यान और लोकनाट्य किसी समाज की सामूहिक चेतना को समझने के महत्वपूर्ण माध्यम हैं। इनके माध्यम से सामाजिक संबंधों, जीवन-मूल्यों और लोकविश्वासों की जानकारी प्राप्त होती है। भारतीय साहित्य की विशेषता इसकी बहुलता और विविधता है। विभिन्न भाषाओं और क्षेत्रीय परंपराओं ने भारतीय साहित्य को समृद्ध किया है। हिंदी साहित्य का विकास भी विभिन्न लोकभाषाओं और क्षेत्रीय सांस्कृतिक परंपराओं से प्रभावित रहा है। साहित्य संस्कृति का संरक्षण करता है, लेकिन वह संस्कृति की आलोचना भी कर सकता है। ऐसी परंपराएँ जो मनुष्य की स्वतंत्रता और समानता के विरुद्ध होती हैं, साहित्य उन्हें प्रश्नांकित करता है। इस प्रकार साहित्य संस्कृति का संरक्षक होने के साथ-साथ उसका आलोचनात्मक विवेक भी है।

**6. साहित्य और मानवीय मूल्य :** साहित्य का एक महत्वपूर्ण कार्य मानवीय मूल्यों की स्थापना और पुनर्व्याख्या है। प्रेम, करुणा, न्याय, समानता, स्वतंत्रता, सह-अस्तित्व और सहिष्णुता जैसे मूल्य साहित्य में विविध रूपों में अभिव्यक्त होते रहे हैं। साहित्य पाठक को दूसरे मनुष्य के अनुभव से जोड़ता है। जब पाठक किसी पीड़ित, उपेक्षित या संघर्षरत पात्र की जीवन-स्थितियों को समझता है, तब उसके भीतर सहानुभूति और संवेदना का विकास हो सकता है। इस संदर्भ में साहित्य की भूमिका शिक्षा से भी जुड़ जाती है। साहित्य पाठक में केवल भाषिक दक्षता ही नहीं, बल्कि कल्पनाशीलता और आलोचनात्मक दृष्टि का विकास भी करता है।

**7. साहित्य और सामाजिक परिवर्तन :** साहित्य सामाजिक परिवर्तन का प्रत्यक्ष राजनीतिक साधन न होते हुए भी चेतना-निर्माण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। साहित्यकार जब सामाजिक अन्याय और असमानता को रचना का विषय बनाता है तो वह पाठक को उस समस्या के मानवीय पक्ष से परिचित कराता है। प्रेमचंद का साहित्य सामाजिक यथार्थ के इसी पक्ष को सामने लाता है। गोदान में किसान जीवन और आर्थिक व्यवस्था के अंतर्विरोधों का चित्रण मिलता है। इसी प्रकार उनकी अनेक कहानियों में सामाजिक असमानता और मानवीय संघर्ष दिखाई देते हैं। प्रगतिशील साहित्य ने साहित्य को सामाजिक परिवर्तन और वर्गीय चेतना से जोड़ा। बाद के दौर में विभिन्न विमर्शों ने साहित्य के सामाजिक सरोकार को और व्यापक बनाया। इस दृष्टि से साहित्य सामाजिक परिवर्तन

का आधारभूत कार्य—अर्थात् चेतना और प्रश्नाकुलता का निर्माण—कर सकता है।

**8. स्त्री-विमर्श और साहित्य :** समकालीन साहित्य में स्त्री-विमर्श ने साहित्य की दृष्टि और विषयवस्तु दोनों को प्रभावित किया है। स्त्री लेखन ने स्त्री के अनुभवों को स्वयं उसकी दृष्टि से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। स्त्री की शिक्षा, स्वतंत्रता, विवाह संस्था, परिवार, रोजगार, लैंगिक असमानता और आत्मनिर्णय जैसे प्रश्न आधुनिक साहित्य में महत्वपूर्ण बने हैं। स्त्री-विमर्श ने यह स्थापित किया कि निजी जीवन भी सामाजिक और राजनीतिक संरचनाओं से जुड़ा हुआ है। हिंदी साहित्य में कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग और मैत्रेयी पुष्पा जैसी रचनाकारों ने स्त्री जीवन के विभिन्न आयामों को अभिव्यक्ति दी। इनके साहित्य में स्त्री की आत्मचेतना, सामाजिक बंधनों और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के प्रश्न प्रमुखता से सामने आते हैं।

**9. दलित साहित्य और सामाजिक न्याय :** दलित साहित्य ने आधुनिक भारतीय साहित्य में सामाजिक न्याय और समानता के प्रश्न को नई वैचारिक शक्ति प्रदान की है। इस साहित्य में जातिगत भेदभाव, सामाजिक बहिष्कार, अपमान और संघर्ष के अनुभवों को अभिव्यक्ति मिलती है। दलित साहित्य का महत्व इस बात में भी है कि इसमें वंचित समुदाय स्वयं अपने अनुभवों का कथाकार बनता है। इस कारण अनुभव की प्रामाणिकता और सामाजिक प्रतिरोध इसकी महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। हिंदी दलित साहित्य में ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें जातिगत भेदभाव और सामाजिक अपमान के व्यक्तिगत अनुभव के माध्यम से व्यापक सामाजिक संरचना पर प्रश्न उठाया गया है। दलित साहित्य साहित्यिक लोकतंत्र के प्रश्न को भी सामने लाता है अर्थात् साहित्य में किन अनुभवों और किन आवाजों को स्थान प्राप्त होता है।

**10. आदिवासी साहित्य और प्रकृति :** आदिवासी साहित्य में प्रकृति, समुदाय, जंगल, जमीन, विस्थापन और सांस्कृतिक पहचान जैसे प्रश्न महत्वपूर्ण हैं। आदिवासी जीवन में प्रकृति का संबंध केवल संसाधन के रूप में नहीं, बल्कि जीवन और संस्कृति के आधार के रूप में भी देखा जाता है। विकास, औद्योगीकरण और विस्थापन की प्रक्रियाओं ने आदिवासी समुदायों के जीवन को प्रभावित किया है। समकालीन आदिवासी साहित्य इन अनुभवों को अभिव्यक्ति देता है और मुख्यधारा के विकास मॉडल पर प्रश्न उठाता है। आदिवासी विमर्श साहित्य के दायरे को व्यापक बनाते हुए प्रकृति और मनुष्य के संबंध को नए संदर्भ में देखने की दृष्टि प्रदान करता है।

**11. साहित्य और राष्ट्रीय चेतना :** भारतीय आधुनिक साहित्य के विकास में राष्ट्रीय चेतना की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। औपनिवेशिक शासन के दौर में साहित्य ने स्वाधीनता, आत्मसम्मान और सामाजिक जागरण की भावना को अभिव्यक्ति दी।

भारतेंदु युग से लेकर स्वतंत्रता आंदोलन तक हिंदी साहित्य में राष्ट्र, भाषा और सामाजिक जागरण से संबंधित विषय दिखाई देते हैं। कविता, नाटक, पत्रकारिता और कथा-साहित्य ने जनचेतना के निर्माण में योगदान दिया। राष्ट्रीय चेतना को केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित नहीं किया जा सकता। इसमें सामाजिक एकता, सांस्कृतिक आत्मबोध और नागरिक उत्तरदायित्व भी सम्मिलित हैं।

**12. साहित्य और शिक्षा :** साहित्य शिक्षा के मानवीय पक्ष को मजबूत करता है। शिक्षा का उद्देश्य केवल सूचना प्रदान करना नहीं, बल्कि व्यक्ति के बौद्धिक, भावनात्मक और नैतिक विकास में योगदान देना भी है। कहानी, कविता, उपन्यास और नाटक विद्यार्थियों को विभिन्न जीवन-अनुभवों से परिचित कराते हैं। साहित्य पढ़ने से भाषा-ज्ञान के साथ-साथ कल्पनाशीलता, आलोचनात्मक सोच और संवेदनशीलता का विकास होता है। इस दृष्टि से साहित्य शिक्षा को केवल परीक्षा-केंद्रित प्रक्रिया से निकालकर जीवन-केंद्रित बनाने में सहायक हो सकता है।

**13. साहित्य और डिजिटल युग :** इक्कीसवीं सदी में डिजिटल तकनीक ने साहित्य के स्वरूप और प्रसार को प्रभावित किया है। ई-पुस्तक, ब्लॉग, ऑनलाइन पत्रिकाएँ, ऑडियोबुक और डिजिटल पुस्तकालय साहित्य के नए माध्यम बन

चुके हैं। डिजिटल माध्यम ने साहित्य की पहुँच को भौगोलिक सीमाओं से बाहर कर दिया है। पाठक अब मोबाइल और इंटरनेट के माध्यम से विभिन्न भाषाओं और देशों के साहित्य तक पहुँच सकता है। हालाँकि डिजिटल साहित्य के साथ मौलिकता, कॉपीराइट, स्रोत-विश्वसनीयता और साहित्यिक गुणवत्ता जैसे प्रश्न भी जुड़े हैं। इसलिए डिजिटल साहित्य का मूल्यांकन भी आलोचनात्मक दृष्टि से आवश्यक है।

**14. साहित्य और वैश्वीकरण :** वैश्वीकरण ने साहित्य के उत्पादन, वितरण और पाठन की प्रक्रिया को प्रभावित किया है। अनुवाद के विस्तार से विभिन्न भाषाओं के साहित्य के बीच संवाद बढ़ा है। आज साहित्य में स्थानीय पहचान और वैश्विक अनुभव दोनों साथ-साथ उपस्थित हैं। विस्थापन, प्रवास, पर्यावरण संकट, युद्ध, आर्थिक असमानता और सांस्कृतिक पहचान जैसे विषय राष्ट्रीय सीमाओं से आगे बढ़कर वैश्विक साहित्यिक विमर्श का हिस्सा बन चुके हैं। वैश्वीकरण ने एक ओर साहित्य को व्यापक पाठक वर्ग दिया है, तो दूसरी ओर बाजार और उपभोक्तावाद के प्रभाव से साहित्य की स्वतंत्रता और मूल्यबोध के संबंध में नए प्रश्न भी उत्पन्न किए हैं।

**15. साहित्यिक शोध : स्वरूप और आवश्यकता :** साहित्य के गंभीर और व्यवस्थित अध्ययन के लिए शोध की आवश्यकता होती है। शोध का उद्देश्य किसी विषय के संबंध में उपलब्ध सामग्री का व्यवस्थित अध्ययन, आलोचनात्मक परीक्षण और नवीन निष्कर्ष तक पहुँचना है। साहित्यिक शोध में विषय-चयन, शोध-समस्या का निर्धारण, पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन, सामग्री-संग्रह, विश्लेषण, व्याख्या और निष्कर्ष प्रमुख चरण हैं। शोध-प्रविधि संबंधी विश्वविद्यालयीय अध्ययन-सामग्री में भी शोध को व्यवस्थित एवं प्रमाण-आधारित अध्ययन की प्रक्रिया के रूप में समझाया गया है। साहित्यिक शोध में केवल तथ्य-संग्रह पर्याप्त नहीं है। शोधार्थी को स्रोतों की विश्वसनीयता की जाँच करनी होती है और प्राप्त सामग्री का आलोचनात्मक विश्लेषण करना होता है। आधुनिक साहित्यिक शोध में ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, मनोविश्लेषणात्मक, मार्क्सवादी, स्त्रीवादी, दलित, उत्तर-औपनिवेशिक और सांस्कृतिक अध्ययन जैसी दृष्टियों का प्रयोग किया जाता है। इससे साहित्य के अध्ययन का क्षेत्र अधिक व्यापक हुआ है।

**16. समकालीन समय में साहित्य की प्रासंगिकता :** आज का समाज तीव्र तकनीकी और सामाजिक परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। सूचना-प्रौद्योगिकी ने जीवन को सुविधाजनक बनाया है, लेकिन इसके साथ मनुष्य के सामने नए मानसिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रश्न भी उपस्थित हुए हैं। ऐसे समय में साहित्य मनुष्य को रुककर सोचने और अनुभव करने का अवसर प्रदान करता है। साहित्य सूचना से आगे जाकर अनुभव और संवेदना की दुनिया निर्मित करता है। सामाजिक असमानता, लैंगिक भेदभाव, जातिगत अन्याय, विस्थापन, पर्यावरण संकट और सांस्कृतिक पहचान जैसे प्रश्न आज भी साहित्य में महत्वपूर्ण हैं। साहित्य इन प्रश्नों के निश्चित समाधान देने का दावा नहीं करता, लेकिन वह उनके मानवीय और नैतिक पक्ष को सामने लाकर सामाजिक विमर्श को प्रभावित कर सकता है। इसलिए तकनीकी परिवर्तन के बावजूद साहित्य की प्रासंगिकता कम नहीं हुई है।

**17. शोध-पद्धति :** प्रस्तुत शोध-आलेख में वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है। साहित्य की संकल्पना और भारतीय साहित्यिक चिंतन को समझने के लिए प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का सैद्धांतिक आधार लिया गया है। हिंदी साहित्य और समाज के संबंध को समझने के लिए साहित्येतिहास एवं आधुनिक हिंदी आलोचना की दृष्टियों का उपयोग किया गया है। आलेख में प्राथमिक साहित्यिक कृतियों तथा द्वितीयक आलोचनात्मक सामग्री के आधार पर साहित्य की सामाजिक, सांस्कृतिक और समकालीन भूमिका का विश्लेषण किया गया है। यहाँ प्रयुक्त संदर्भों का उद्देश्य संबंधित विचारों की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करना है। आलेख के विश्लेषणात्मक निष्कर्ष शोधार्थी की स्वतंत्र व्याख्या के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।

**18. निष्कर्ष :** साहित्य मानव जीवन की सृजनात्मक अभिव्यक्ति होने के साथ-साथ समाज की चेतना और संस्कृति की स्मृति का महत्वपूर्ण माध्यम है। साहित्य में मनुष्य अपने समय की परिस्थितियों, अपने अंतर्मन की अनुभूतियों और

भविष्य की संभावनाओं को अभिव्यक्त करता है। भारतीय काव्यशास्त्र ने साहित्य के सौंदर्यात्मक और भावात्मक पक्ष को गहराई प्रदान की, जबकि आधुनिक हिंदी आलोचना ने साहित्य को सामाजिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों में देखने की दृष्टि विकसित की। हिंदी साहित्य का विकास इस बात का प्रमाण है कि साहित्य अपने समय की सामाजिक परिस्थितियों से निरंतर संवाद करता है। भक्तिकाल की सामाजिक चेतना, आधुनिक युग की राष्ट्रीय भावना, प्रेमचंद का सामाजिक यथार्थ तथा समकालीन स्त्री, दलित और आदिवासी विमर्श साहित्य की इसी परिवर्तनशील प्रकृति को स्पष्ट करते हैं। साहित्य का महत्व केवल इस बात में नहीं है कि वह पाठक को आनंद प्रदान करता है। उसकी वास्तविक शक्ति मनुष्य में संवेदना और आलोचनात्मक विवेक उत्पन्न करने में है। वह हमें अपने से भिन्न मनुष्य के अनुभव को समझने की क्षमता प्रदान करता है। डिजिटल युग में साहित्य के माध्यम बदल रहे हैं, लेकिन उसकी मूल आवश्यकता समाप्त नहीं हुई है। जब तक मनुष्य अनुभव करता रहेगा, प्रश्न उठाता रहेगा और अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने की आवश्यकता महसूस करता रहेगा, तब तक साहित्य प्रासंगिक रहेगा। अतः साहित्य को मानव सभ्यता की संवेदनात्मक स्मृति, सामाजिक चेतना और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के रूप में देखा जा सकता है। साहित्य मनुष्य को केवल अपने समय को समझने में सहायता नहीं करता, बल्कि उसे बेहतर और अधिक मानवीय भविष्य की कल्पना करने की क्षमता भी प्रदान करता है।

**19. संदर्भ-सूची :**


1. शुक्ल, रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी। — इसमें साहित्य और जनता/समाज की चित्तवृत्तियों के संबंध तथा साहित्येतिहास की सामाजिक दृष्टि।
2. प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, विभिन्न संकलित संस्करण। — इसमें साहित्य के उद्देश्य और साहित्य के जीवन-संबंधी सरोकारों की वैचारिक पृष्ठभूमि।
3. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, रस-सिद्धांत संबंधी प्रकरण। — इसमें रस और साहित्यिक अनुभूति की भारतीय काव्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि।
4. आनंदवर्धन, ध्वन्यालोक, ध्वनि-सिद्धांत संबंधी विवेचन। — इसमें ध्वनि एवं व्यंजना के माध्यम से साहित्यिक अर्थ की गहराई की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि।
5. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास। — इसमें हिंदी साहित्य के विकास और विभिन्न साहित्यिक कालों की पृष्ठभूमि।
6. मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, शोध-प्रविधि संबंधी अध्ययन-सामग्री। — इसमें शोध की प्रक्रिया, शोध-समस्या, सामग्री-संग्रह और विश्लेषण की पद्धति।
7. नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ। — इसमें आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियों को समझने की आलोचनात्मक पृष्ठभूमि।
8. शर्मा, रामविलास, साहित्य और समाज। — इसमें साहित्य को सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भ में देखने की दृष्टि।
9. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, जूठन। — इसमें दलित जीवन और जातिगत अनुभवों के साहित्यिक संदर्भ के लिए जूठन।


•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-167-170

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 167-170
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**
**डॉ. श्रेया पाण्डेय**
अध्यापक, गायन विभाग,
Banyan Tree School, Jaipur

Corresponding Author :
**डॉ. श्रेया पाण्डेय**
अध्यापक, गायन विभाग,
Banyan Tree School, Jaipur

# लोक संगीत में प्रकृति–बोध और सांस्कृतिक चेतना

**सारांश :** भारतीय लोक संगीत लोकजीवन और प्रकृति के गहरे संबंधों की सहज अभिव्यक्ति है। लोकगीतों में ऋतुओं, वर्षा, कृषि, नदियों, पर्वतों, वनस्पतियों और पशु–पक्षियों का चित्रण लोकसमुदाय की जीवन–पद्धति, आस्था और सामूहिक स्मृति से जुड़ा है। विभिन्न क्षेत्रों के लोकगीत स्थानीय भूगोल, ऋतुचक्र, कृषि और सामाजिक परंपराओं को प्रतिबिंबित करते हैं। शहरीकरण और बदलती जीवन–शैली से प्रकृति तथा लोकपरंपराओं से मनुष्य का संबंध कमजोर हो रहा है। शिक्षा के माध्यम से लोक संगीत, साहित्य और स्थानीय परंपराओं को जोड़कर विद्यार्थियों में प्रकृति–संवेदना और सांस्कृतिक चेतना विकसित की जा सकती है। यह अध्ययन भारतीय लोक संगीत में निहित प्रकृति–बोध का विश्लेषण करते हुए उसके प्रकृति, साहित्य, संस्कृति और शिक्षा के बीच सेतु तथा पर्यावरणीय और सांस्कृतिक चेतना के माध्यम के रूप में योगदान को स्पष्ट करता है।

**सूचक शब्द :** लोक संगीत, प्रकृति–बोध, सांस्कृतिक चेतना, लोक साहित्य, लोक परंपरा, प्रकृति–संवेदना, पर्यावरणीय चेतना, शिक्षा।

**भूमिका :** मनुष्य और प्रकृति का संबंध उतना ही पुराना है जितना स्वयं मानव सभ्यता का इतिहास। मानव जीवन की उत्पत्ति, विकास और निरंतरता प्रकृति के साथ उसके सह–अस्तित्व पर निर्भर रही है। जल, वायु, भूमि, वनस्पति, नदियाँ, पर्वत, ऋतुएँ और जीव–जगत केवल मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले तत्व नहीं हैं, बल्कि मानव के सामाजिक, सांस्कृतिक और भावनात्मक जीवन को भी गहराई से प्रभावित करते हैं। मनुष्य ने अपने अनुभवों, संवेदनाओं और जीवन–संघर्षों को विभिन्न कलात्मक माध्यमों के द्वारा अभिव्यक्त किया और इसी प्रक्रिया में साहित्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला तथा लोककलाओं का विकास हुआ। इस प्रकार प्रकृति मानव की सृजनात्मक चेतना की एक महत्वपूर्ण प्रेरणास्रोत रही है। भारतीय परंपरा में प्रकृति को मानव जीवन से पृथक सत्ता के रूप में देखने के बजाय उसे जीवन के व्यापक स्वरूप का अभिन्न अंग माना गया है। विशेष रूप से लोक साहित्य में प्रकृति का स्वरूप अधिक सहज, आत्मीय और जीवनपरक दिखाई देता है, क्योंकि लोकजीवन का प्रत्यक्ष संबंध अपने स्थानीय प्राकृतिक परिवेश से रहा है। इसी लोक–संवेदना की सबसे प्रभावशाली अभिव्यक्तियों में लोक संगीत का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। लोक संगीत किसी विशेष वर्ग या प्रशिक्षित कलाकार तक सीमित नहीं होता, बल्कि यह सामान्य जनजीवन के अनुभवों और सामूहिक स्मृतियों से निर्मित होता है। लोकगीतों में जन्म, विवाह, त्योहार, कृषि, श्रम, प्रेम, विरह, सामाजिक संबंधों और धार्मिक आस्थाओं के साथ–साथ प्रकृति के विविध रूपों की अभिव्यक्ति भी मिलती है। लोक संगीत इसलिए केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि लोकसमुदाय के जीवन–दर्शन और सांस्कृतिक अनुभवों का मौखिक दस्तावेज भी है। भारतीय लोक संगीत में प्रकृति–बोध अनेक स्तरों पर दिखाई देता है। वर्षा के आगमन की प्रतीक्षा, बादलों का वर्णन, खेतों में फसल का लहराना, वसंत का आगमन, शीत ऋतु की अनुभूति, नदियों और तालाबों का उल्लेख तथा पक्षियों और

वनस्पतियों के माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति लोकगीतों की सामान्य विशेषताएँ हैं। प्रकृति के ये चित्रण केवल बाहरी सौंदर्य के वर्णन तक सीमित नहीं रहते, बल्कि वे लोकजीवन की आशाओं, आकांक्षाओं, सुख–दुःख और सामाजिक अनुभवों से जुड़ जाते हैं। इस प्रकार लोक संगीत में प्रकृति और मनुष्य के बीच एक आत्मीय एवं भावात्मक संबंध स्थापित होता है। प्रकृति और लोक संगीत का संबंध विशेष रूप से कृषि–प्रधान भारतीय समाज में अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। कृषि की सफलता वर्षा, ऋतु और भूमि की उर्वरता पर निर्भर रही है। इसलिए किसान समुदाय के जीवन में वर्षा, फसल और ऋतु–परिवर्तन का विशेष महत्व रहा है। खेतों में कार्य करते समय, फसल कटाई के अवसर पर, वर्षा के स्वागत में तथा विभिन्न कृषि पर्वों पर गाए जाने वाले गीत इस प्रकृति–निर्भर जीवन–पद्धति को स्वर प्रदान करते हैं। इन गीतों में श्रम और उत्सव के साथ प्रकृति के प्रति आशा, निर्भरता और कृतज्ञता की भावना भी अभिव्यक्त होती है। लोक संगीत का एक महत्वपूर्ण पक्ष उसका सांस्कृतिक संरक्षण भी है। लोकगीतों में किसी क्षेत्र की भाषा, बोली, रीति–रिवाज, लोकविश्वास, पर्व–त्योहार, पारिवारिक संबंध, सामाजिक मूल्य और स्थानीय जीवन–पद्धति सुरक्षित रहती है।

**लोक संगीत : स्वरूप एवं अवधारणा :** लोक संगीत भारतीय संगीत परंपरा का वह स्वरूप है, जिसका निर्माण और विकास सामान्य जनजीवन के अनुभवों, सामाजिक परिस्थितियों, स्थानीय परिवेश तथा सामुदायिक परंपराओं के बीच हुआ है। यह किसी एक व्यक्ति या किसी निश्चित कालखंड की रचना न होकर लंबे समय से चली आ रही सामूहिक सृजन–प्रक्रिया का परिणाम है। लोक संगीत में किसी क्षेत्र विशेष की भाषा, बोली, जीवन–पद्धति, सामाजिक संबंध, आस्था, रीति–रिवाज, श्रम, उत्सव और प्राकृतिक परिवेश की सहज अभिव्यक्ति दिखाई देती है। यही कारण है कि लोक संगीत को किसी समाज की सांस्कृतिक चेतना का जीवंत स्वर कहा जा सकता है। 'लोक' शब्द अपने भीतर व्यापक जनसमुदाय की अवधारणा को समाहित करता है। लोक का संबंध केवल ग्रामीण समाज से नहीं, बल्कि उस सामूहिक जीवन से है जिसमें परंपराएँ अनुभव और व्यवहार के माध्यम से विकसित होती हैं। इसी प्रकार लोक संगीत भी किसी निर्धारित शास्त्रीय नियमावली तक सीमित न होकर लोकानुभवों और सामुदायिक आवश्यकताओं के अनुरूप अपना स्वरूप ग्रहण करता है। इसकी धुनें, लय, भाषा और प्रस्तुति स्थानीय परिवेश के अनुसार अलग–अलग रूप धारण करती हैं। भारत की भाषाई और भौगोलिक विविधता के कारण यहाँ लोक संगीत के असंख्य रूप विकसित हुए हैं। लोक संगीत की सबसे महत्वपूर्ण विशेषताओं में उसकी सहजता और जीवन से निकटता है। लोकगीत जीवन के विभिन्न अवसरों पर स्वाभाविक रूप से गाए जाते हैं। जन्म, विवाह, पर्व–त्योहार, धार्मिक अनुष्ठान, कृषि कार्य, श्रम, ऋतु–परिवर्तन, सामाजिक उत्सव तथा व्यक्तिगत सुख–दुःख सभी अवसरों पर लोक संगीत की उपस्थिति दिखाई देती है। इस कारण लोक संगीत जीवन से अलग किसी मंचीय कला के रूप में नहीं, बल्कि जीवन–प्रक्रिया के साथ निरंतर चलने वाली अभिव्यक्ति के रूप में सामने आता है। लोक संगीत की एक अन्य प्रमुख विशेषता उसकी मौखिक परंपरा है। लंबे समय तक लोकगीतों का संरक्षण लिखित माध्यम के बजाय स्मृति और श्रुति के माध्यम से हुआ। एक पीढ़ी गीत को दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाती रही और इस प्रक्रिया में गीतों में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन भी होते रहे। यही कारण है कि एक ही लोकगीत की अलग–अलग क्षेत्रों में भिन्न धुनें, शब्द या प्रस्तुति मिल सकती हैं। यह परिवर्तनशीलता लोक संगीत की कमजोरी नहीं, बल्कि उसकी जीवंतता का प्रमाण है।

**लोक संगीत में प्रकृति–बोध :** भारतीय लोक संगीत में प्रकृति–बोध अत्यंत व्यापक और बहुआयामी रूप में अभिव्यक्त हुआ है। लोकसमुदाय का जीवन अपने आसपास के प्राकृतिक परिवेश से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा रहा है। इसलिए लोकगीतों में प्रकृति का प्रवेश किसी बाहरी विषय के रूप में नहीं, बल्कि दैनिक जीवन के सहज अनुभव के रूप में हुआ है। आकाश, बादल, वर्षा, सूर्य, चंद्रमा, नदी, पर्वत, वन, खेत, पेड़–पौधे, पशु–पक्षी और ऋतुएँ लोकगीतों के कथ्य एवं प्रतीक–लोक का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। इन प्राकृतिक तत्वों के माध्यम से लोकसमाज ने अपने सुख–दुःख, आशा–निराशा, प्रेम–विरह और सामाजिक अनुभवों को स्वर प्रदान किया है। प्रकृति और लोक संगीत का संबंध भारतीय जीवन की ऋतु–चेतना में विशेष रूप से दिखाई देता है। भारतीय समाज में ऋतुओं का प्रभाव केवल जलवायु या कृषि तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उसने सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को भी प्रभावित किया। वसंत के आगमन के साथ उल्लास और नवजीवन की अनुभूति, ग्रीष्म में तपन और प्रतीक्षा, वर्षा में उमंग तथा मिलन की आकांक्षा और शीत ऋतु में घरेलू एवं सामुदायिक जीवन की विशेष गतिविधियाँ लोकगीतों में अभिव्यक्त होती रही हैं। इस प्रकार ऋतु लोक संगीत में केवल समय का संकेत नहीं देती, बल्कि विशिष्ट भावनात्मक एवं सांस्कृतिक अनुभव को जन्म देती है।

**ऋतु और लोकगीत :** भारतीय लोक परंपरा में सावन और वर्षा का विशेष महत्व है। वर्षा कृषि–प्रधान समाज के लिए जीवन और समृद्धि का संकेत रही है। सूखी धरती पर वर्षा की पहली बूँद केवल प्राकृतिक घटना नहीं, बल्कि किसान के लिए आशा और भविष्य की संभावनाओं का संदेश होती है। इसलिए सावन और वर्षा से संबंधित लोकगीतों में बादल, बिजली, झूले, हरियाली, कोयल और वर्षा की फुहारों के साथ मानवीय भावनाओं का भी गहरा संबंध दिखाई देता है। वर्षा–गीतों में प्रकृति और मानवीय संवेदना एक–दूसरे में घुल जाती हैं। बादलों का आना प्रिय के आगमन की आशा से जुड़ सकता है, वर्षा विरहिणी के मन में मिलन की आकांक्षा उत्पन्न कर सकती है और हरियाली जीवन में नवीनता का प्रतीक बन सकती है। इस प्रकार प्राकृतिक परिवर्तन लोकमानस के भावनात्मक परिवर्तन का भी माध्यम बन जाता है। वसंत से जुड़े लोकगीतों में भी प्रकृति और मानव जीवन का सुंदर समन्वय दिखाई देता है। पेड़ों पर नए पत्ते, पुष्पों का खिलना, कोयल की कूक और वातावरण में उल्लास लोकगीतों में प्रेम, सौंदर्य और नवजीवन की अनुभूति से जुड़ते हैं। वसंत का आगमन प्रकृति के पुनर्जीवन के साथ–साथ मानवीय मन में भी उत्साह और सृजन की भावना को जागृत करता है।

**पशु–पक्षी और लोक संगीत :** लोकगीतों में पशु–पक्षियों का प्रयोग प्रकृति के प्रति लोकसमाज की संवेदनशीलता को व्यक्त

करता है।कोयल, मोर, पपीहा, चिड़िया आदि पक्षियों की ध्वनियाँ और व्यवहार लोकगीतों में भावनात्मक प्रतीकों के रूप में आते हैं। मोर का नृत्य वर्षा के आगमन का संकेत बनता है, कोयल की कूक वसंत और प्रेम की अनुभूति से जुड़ती है तथा पपीहे की पुकार प्रतीक्षा और विरह को अभिव्यक्त करती है। यहाँ यह महत्वपूर्ण है कि लोकगीतों में पशु–पक्षी केवल सजावटी तत्व नहीं होते। लोकसमुदाय ने उनके व्यवहार और प्राकृतिक संकेतों को अपने जीवन के अनुभवों से जोड़कर समझा। इस प्रकार लोक संगीत में प्रकृति के सूक्ष्म अवलोकन और स्थानीय पर्यावरणीय ज्ञान की झलक भी मिलती है।

**प्रकृति–बोध से सांस्कृतिक चेतना तक :** लोक संगीत में प्रकृति का निरंतर और आत्मीय चित्रण धीरे–धीरे सांस्कृतिक चेतना का रूप ग्रहण करता है। जब किसी समाज की पीढ़ियाँ एक ही नदी, पर्वत, खेत, वन, ऋतु या स्थानीय प्राकृतिक परिवेश से संबंधित गीत गाती हैं, तो वह प्राकृतिक परिवेश उनकी सामूहिक स्मृति और पहचान का हिस्सा बन जाता है। इस प्रकार प्रकृति केवल भौतिक परिवेश न रहकर सांस्कृतिक विरासत में परिवर्तित हो जाती है। लोक संगीत इस विरासत को मौखिक और श्रव्य परंपरा के माध्यम से पीढ़ी–दर–पीढ़ी आगे बढ़ाता है। परिणामस्वरूप लोकगीतों में संरक्षित प्रकृति–बोध वर्तमान पीढ़ी को उसके अतीत, परिवेश और सांस्कृतिक मूल्यों से जोड़ता है। यही प्रक्रिया आगे चलकर सांस्कृतिक चेतना को मजबूत करती है।

**पर्व–त्योहार और प्रकृति :** भारतीय लोक संस्कृति में अनेक पर्व और त्योहार प्रकृति एवं ऋतुचक्र से गहरे रूप से जुड़े रहे हैं। फसल, वर्षा, वसंत, सूर्य, चंद्रमा, जल और कृषि–चक्र से संबंधित उत्सवों में लोक संगीत की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ऐसे अवसरों पर गाए जाने वाले गीत मनुष्य की प्रकृति के प्रति कृतज्ञता, आशा और सामुदायिक उल्लास को अभिव्यक्त करते हैं।

**लोकभाषा और सांस्कृतिक पहचान :** लोक संगीत का एक महत्वपूर्ण पक्ष लोकभाषाओं और बोलियों का संरक्षण है। किसी क्षेत्र के लोकगीतों में वहाँ की विशिष्ट भाषा, उच्चारण, शब्दावली और मुहावरों का प्रयोग होता है। अनेक ऐसे शब्द और लोकप्रयोग जो औपचारिक या मानक भाषा में धीरे–धीरे कम होते जा रहे हैं, वे लोकगीतों में आज भी जीवित हैं।

**स्त्री और लोक संगीत :** भारतीय लोक संगीत की परंपरा में स्त्रियों का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा है। घरेलू कार्यों, विवाह–संस्कारों, पर्व–त्योहारों, कृषि–श्रम और पारिवारिक अवसरों पर स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले गीतों में उनके व्यक्तिगत एवं सामूहिक अनुभवों की अभिव्यक्ति मिलती है। इन गीतों में प्रकृति, परिवार, प्रेम, विरह, मातृत्व, सामाजिक संबंध और जीवन की अनेक परिस्थितियाँ सहज रूप से व्यक्त होती हैं। लोकगीतों ने स्त्रियों को अपनी भावनाओं और अनुभवों को अभिव्यक्त करने का एक सांस्कृतिक माध्यम प्रदान किया। इस दृष्टि से लोक संगीत केवल सांस्कृतिक परंपरा का संरक्षण नहीं करता, बल्कि समाज के उन अनुभवों को भी स्वर देता है जो औपचारिक इतिहास या साहित्य में अपेक्षाकृत कम दिखाई देते हैं।

**लोक संगीत : सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण :** आधुनिकता और वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में सांस्कृतिक विविधता के सामने अनेक चुनौतियाँ उपस्थित हैं। जीवन–शैली में परिवर्तन, शहरीकरण, पारंपरिक सामुदायिक संरचनाओं का कमजोर होना और लोकप्रिय मनोरंजन के नए माध्यमों ने लोक संगीत के पारंपरिक स्वरूपों को प्रभावित किया है। अनेक लोकगीत अब अपने मूल सामाजिक और प्राकृतिक संदर्भ से अलग होकर मंचीय या व्यावसायिक प्रस्तुतियों तक सीमित होते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में लोक संगीत का संरक्षण केवल पुराने गीतों को संग्रहित करने तक सीमित नहीं होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि लोक संगीत को उसके स्थानीय समुदाय, भाषा, परिवेश और सांस्कृतिक संदर्भ के साथ समझा और संरक्षित किया जाए। लोक कलाकारों और समुदायों की सक्रिय भागीदारी के बिना लोक परंपराओं का संरक्षण अधूरा रहेगा।

**शिक्षा और सांस्कृतिक चेतना :** लोक संगीत को शिक्षा से जोड़ना सांस्कृतिक चेतना के विकास की दिशा में महत्वपूर्ण कदम हो सकता है। विद्यालयों और उच्च शिक्षण संस्थानों में स्थानीय लोकगीतों, लोकधुनों और लोकपरंपराओं का परिचय विद्यार्थियों को अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जोड़ सकता है। इससे उनमें अपनी स्थानीय भाषा, परंपरा और प्राकृतिक परिवेश के प्रति सम्मान विकसित किया जा सकता है। लोक संगीत आधारित शिक्षा विद्यार्थियों में केवल संगीत संबंधी रुचि विकसित नहीं करती, बल्कि सामूहिकता, संवेदनशीलता, सहयोग, सांस्कृतिक सम्मान और प्रकृति के प्रति उत्तरदायित्व जैसे मूल्यों को भी विकसित कर सकती है। इस प्रकार लोक संगीत शिक्षा को केवल कलात्मक प्रशिक्षण के स्तर से आगे ले जाकर मूल्यपरक और सांस्कृतिक शिक्षा का माध्यम बना सकता है।

**लोक संगीत : संरक्षण की चुनौतियाँ और संभावनाएँ :** आधुनिकता और बदलती जीवन–शैली के कारण लोक संगीत की अनेक परंपराएँ धीरे–धीरे सीमित होती जा रही हैं। पारंपरिक लोकगीतों का अपने सामाजिक एवं प्राकृतिक संदर्भ से दूर होना, नई पीढ़ी में लोक परंपराओं के प्रति घटती रुचि तथा लोक कलाकारों के सामने आर्थिक और सामाजिक चुनौतियाँ इसके संरक्षण में बाधक हैं। इसके साथ ही लोक संगीत के व्यावसायीकरण के कारण उसके मूल स्वरूप में भी परिवर्तन दिखाई देता है। इन चुनौतियों के बावजूद लोक संगीत के संरक्षण की अनेक संभावनाएँ मौजूद हैं। विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में लोक संगीत के अध्ययन को प्रोत्साहित करना, स्थानीय कलाकारों को शैक्षिक गतिविधियों से जोड़ना तथा लोकगीतों का डिजिटल दस्तावेजीकरण करना प्रभावी कदम हो सकते हैं। शोध के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों की विलुप्त होती लोक परंपराओं का संकलन एवं विश्लेषण भी आवश्यक है।

**निष्कर्ष :** लोक संगीत भारतीय लोकजीवन की ऐसी जीवंत अभिव्यक्ति है, जिसमें प्रकृति, साहित्य और संस्कृति का सहज समन्वय दिखाई देता है। ऋतु, वर्षा, कृषि, नदी, पर्वत, वनस्पति और पशु–पक्षियों से जुड़े लोकगीत यह स्पष्ट करते हैं कि प्रकृति लोकसमाज के लिए केवल बाहरी परिवेश नहीं, बल्कि जीवन और संवेदना का अभिन्न हिस्सा रही है। लोक संगीत के माध्यम से प्रकृति से जुड़ी अनुभूतियाँ, लोकज्ञान, परंपराएँ और सांस्कृतिक मूल्य पीढ़ी–दर–पीढ़ी संप्रेषित होते रहे हैं। इसलिए

लोक संगीत को सांस्कृतिक स्मृति और प्रकृति–बोध के महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में देखा जा सकता है। वर्तमान समय में जब मनुष्य प्रकृति से दूर होता जा रहा है और पर्यावरणीय चुनौतियाँ बढ़ रही हैं, तब लोक संगीत में निहित प्रकृति–संवेदना विशेष रूप से प्रासंगिक हो जाती है। शिक्षा के माध्यम से लोक संगीत को नई पीढ़ी से जोड़कर प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता तथा सांस्कृतिक उत्तरदायित्व विकसित किया जा सकता है।अतः लोक संगीत का संरक्षण केवल हमारी सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखना नहीं है, बल्कि प्रकृति, संस्कृति और मानवीय संवेदना के उस संबंध को जीवित रखना है, जो भारतीय लोकजीवन की मूल चेतना का महत्वपूर्ण आधार रहा है।

**संदर्भ सूची :**


1. जैन, शांति. लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, द्वितीय संस्करण, वाराणसीः विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2019.
2. नायर, सोभना. Bhatkhande's Contribution to Music: A Historical Perspective. प्रथम संस्करण. मुंबईः Popular Prakashan, 1989.
3. द्विवेदी, हजारीप्रसाद. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 1952.
4. अग्रवाल, वासुदेवशरण. लोक जीवन और संस्कृति, वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन.
5. उपाध्याय, बलदेव. भारतीय साहित्यशास्त्र. वाराणसीः नंदकिशोर एंड संस.
6. भातखंडे, विष्णु नारायण. हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति : क्रमिक पुस्तक मालिका, हाथरसरू संगीत कार्यालय.
7. रानाडे, अशोक दामोदर. Hindi Film Song: Music Beyond Boundaries. नई दिल्लीः Promilla & Co. 2006.


•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-171-177

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 171-177
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. श्याम रस्तोगी**

सहायक आचार्य (सितार), राजा मानसिंह तोमर संगीत एवं कला विश्वविद्यालय, ग्वालियर

Corresponding Author :

**डॉ. श्याम रस्तोगी**

सहायक आचार्य (सितार), राजा मानसिंह तोमर संगीत एवं कला विश्वविद्यालय, ग्वालियर

# हिंदी और संस्कृत साहित्य के छंद : ऐतिहासिक विकास, लयात्मक संरचना और संगीतात्मक पुनर्संगठन का सिद्धांत

**सारांश :** संस्कृत और हिंदी काव्य की परंपरा में छंद का अध्ययन सामान्यतः वर्ण, मात्रा, गुरु-लघु, गण, यति और पाद-विन्यास के आधार पर किया जाता है, जबकि संगीत में काल-संगठन का प्रमुख आधार ताल और लय माने जाते हैं। दोनों क्षेत्रों में 'मात्रा', 'लय', 'यति' और अनुक्रम जैसे शब्दों की उपस्थिति के कारण छंद और ताल को कभी-कभी एक ही प्रकार की काल-व्यवस्था मान लिया जाता है। वस्तुतः दोनों की संरचनात्मक भूमिकाएँ भिन्न हैं। छंद काव्य-पंक्ति में वर्णों अथवा मात्राओं के क्रम, भार, यति, पाद और पुनरावृत्ति को व्यवस्थित करता है; ताल संगीत-काल को मात्रा, विभाग, ताली-खाली, सम और आवर्तन के माध्यम से संगठित करता है। इनके अतिरिक्त एक तीसरा स्तर श्रव्य काल का है, जिसमें वास्तविक उच्चारण-अवधि, स्वर-दीर्घता, विराम और ध्वनि की गति अनुभव होती है।

प्रस्तुत लेख में 'छंदीय काल-सामर्थ्य' तथा 'सीमा-संरेखण' दो विश्लेषणात्मक अवधारणाएँ प्रस्तावित की गई हैं। 'छंदीय काल-सामर्थ्य' से आशय छंद की उस संरचनात्मक क्षमता से है जिसके कारण काव्य-ध्वनि का क्रम, भार, सीमा और पुनरावृत्ति पहले से विन्यस्त रहती है। 'सीमा-संरेखण' से आशय पाद, यति और पादांत जैसी छंदीय सीमाओं तथा सम, विभाग और आवर्तन जैसी संगीतात्मक सीमाओं के बीच बनने वाले संबंध से है। कालिदास के वसंततिलका, रहीम के दोहे, प्राकृत पैंगलम् के छप्पय, नाभादास के छप्पय और रसखान के मत्तगयंद के उदाहरणों तथा शार्ङ्गदेव के संगीतरत्नाकर के अक्षर, गीत, ताल, यति और लय संबंधी विवेचन के आधार पर लेख यह प्रतिपादित करता है कि छंद संगीत को कोई निश्चित 'समय' प्रदान नहीं करता; वह उसे समय को संगठित करने योग्य एक पूर्वविन्यस्त संरचना उपलब्ध कराता है। संगीत उस संरचना को ताल, लय, स्वर-विस्तार और विराम के माध्यम से श्रव्य काल में पुनर्संगठित करता है।

**प्रस्तावना :** भारतीय काव्यपरंपरा में छंद केवल शब्दों की सज्जा या काव्य-सौंदर्य का उपकरण नहीं है। वह काव्य-पंक्ति की ऐसी औपचारिक व्यवस्था है जिसमें ध्वनि, भार, गति, पुनरावृत्ति और सीमा का अनुशासन निहित रहता है। वैदिक परंपरा में छंद का स्थान वेदाङ्ग के रूप में निश्चित किया गया। पाणिनीयशिक्षा में—

"छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥"[1]

यहाँ छंद की प्रतिष्ठा वैदिक पाठ-व्यवस्था के एक अनिवार्य अंग के रूप में है। इन श्लोकों का उपयोग छंद की वेदाङ्गीय स्थिति के प्रमाण के रूप में किया जाना चाहिए, छंद और ताल के प्रत्यक्ष सिद्धांत के रूप में नहीं।

छंद को संगीत से जोड़ने पर मूल समस्या यहीं से उत्पन्न होती है। एक ही पद्य अलग-अलग संगीतात्मक रूपों में गाया जा सकता है। उसके लिए अलग लय अपनाई जा सकती है, स्वर-विस्तार किया जा सकता है, पाद के भीतर विराम बदला जा सकता है और ताल का चयन भी अलग हो सकता है। यदि छंद स्वयं ताल या वास्तविक संगीत-काल निर्धारित करता, तो ऐसी विविधता सीमित होनी चाहिए थी। अनुभव इसके विपरीत है। अतः छंद का संगीत के लिए महत्त्व उसके 'समय देने' में नहीं, बल्कि उसके द्वारा निर्मित संरचनात्मक संभावनाओं में खोजा जाना चाहिए।

इसी आधार पर इस अध्ययन में **'छंदीय काल-सामर्थ्य'** पद का प्रयोग किया जा रहा है। यह संस्कृत छंदशास्त्र का पारंपरिक तकनीकी पद नहीं है, बल्कि इस अध्ययन की विश्लेषणात्मक संज्ञा है। इसकी परिभाषा संक्षेप में यह है कि **छंद की वर्णात्मक या मात्रात्मक संरचना काव्य-ध्वनि के क्रम, भार और सीमाओं को इस प्रकार विन्यस्त करती है कि संगीत उनके साथ स्वतंत्र कालिक संगठन स्थापित कर सके।** इसी प्रकार **'सीमा-संरेखण'** इस लेख की अपनी विश्लेषणात्मक संज्ञा है; इसका आशय छंदीय सीमाओं—पाद, यति, पादांत—और संगीतात्मक सीमाओं—सम, विभाग तथा आवर्तन—के पारस्परिक मिलने, खिसकने अथवा अलग रहने से है।

इस अध्ययन का ऐतिहासिक पक्ष किसी एक काल की पूर्ण छंद-सूची प्रस्तुत करना नहीं है। संस्कृत से प्राकृत-अपभ्रंश और वहाँ से हिंदी काव्य के चयनित उदाहरणों के माध्यम से यह दिखाना इसका उद्देश्य है कि छंदीय संगठन के रूप बदलते हुए भी काव्य-ध्वनि के काल-संगठन की समस्या बनी रहती है और संगीत उसके साथ स्वतंत्र पुनर्संरचनात्मक संबंध स्थापित करता है।

**संस्कृत से हिंदी तक : छंदीय काल-संगठन की संरचना :** संस्कृत छंदशास्त्र में वर्णवृत्त और मात्रावृत्त दो प्रमुख संगठन-प्रकार हैं। वसंततिलका जैसे वर्णवृत्त में वर्णों का निश्चित क्रम और गुरु-लघु का विन्यास पाद की गति को संरचनात्मक रूप देता है। वृत्तरत्नाकर में इसका लक्षण है—

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः॥"[2]

वसंततिलका में तगण, भगण, दो जगण और दो गुरु का क्रम है तथा प्रत्येक पाद में चौदह वर्ण होते हैं। यह विन्यास ग्रंथीय स्रोत में स्पष्ट रूप से मिलता है। यहाँ 'चौदह वर्ण' का अर्थ चौदह समान भौतिक समय-खंड नहीं है। इसी प्रकार गुरु और लघु को सीधे किसी निश्चित भौतिक अवधि के बराबर रखना उचित नहीं। वे छंदीय संरचना के भीतर भार और स्थिति निर्धारित करते हैं।

कालिदास के ऋतुसंहार के द्वितीय सर्ग में वसंततिलका का उदाहरण है—

"मालाः कदम्बनवकेसरकेतकीभि-
रायोजिताः शिरसि बिभ्रति योषितोऽद्य।
कर्णान्तरेषु ककुभद्रुममञ्जरीभि-

रिच्छानुकूलरचितानवतंसकांश्च॥"[3]

पाठ करते हुए प्रत्येक पाद की सीमा और गुरु-लघु का अनुक्रम अपनी विशिष्ट श्रव्य गति उत्पन्न करता है। किंतु संगीतात्मक प्रस्तुति में किसी एक वर्ण को दीर्घ स्वर मिल सकता है, कई वर्ण अपेक्षाकृत तीव्र गति में आ सकते हैं अथवा यति को विस्तार मिल सकता है। छंद का मूल विन्यास तब भी समाप्त नहीं होता। संगीत उसके ऊपर एक नई कालिक व्यवस्था निर्मित करता है।

मात्रिक छंदों में यह संबंध और स्पष्ट दिखाई देता है। दोहे का प्रसिद्ध विन्यास 13–11–13–11 मात्राओं का है। रहीम का दोहा—

"रहिमन पानी राखिए, बिनु पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरै, मोती, मानुष, चून॥"[4]

उपलब्ध दोहावली के पाठ में यह दोहा क्रमांक 219 है।[4] यहाँ 13 और 11 छंदीय मात्राएँ हैं, भौतिक समय की समान अवधि नहीं। 'मात्रा' शब्द का दोनों संदर्भों—छंद और ताल—में आना उनके कार्य की समानता का प्रमाण नहीं है। यह समान नाम दो अलग संरचनात्मक प्रणालियों में प्रयुक्त हो रहा है।

प्राकृत और अपभ्रंश की परंपरा हिंदी छंद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है। प्राकृतपैंगलम् में छप्पय को रोला और उल्लाला के मिश्रित रूप के रूप में प्रस्तुत किया गया है। चार रोला चरण 11 और 13 मात्राओं की व्यवस्था रखते हैं; इसके बाद उल्लाला के दो चरण आते हैं, जिनके एक रूप में प्रत्येक चरण 28 मात्राओं का तथा 15+13 का है। इसी रूप में छप्पय के छह चरणों का कुल योग 152 मात्राएँ बनता है।[5] स्रोत-पाठ में यह विन्यास प्रत्यक्ष रूप से दिया गया है।

यहाँ एक सावधानी आवश्यक है। उल्लाला के 28-मात्रिक 15+13 वाले रूप को छप्पय का एक विशिष्ट संरचनात्मक रूप मानना चाहिए, न कि उल्लाला के प्रत्येक परंपरागत रूप का एकमात्र विधान। इसलिए 152 का योग उसी विशिष्ट 28-मात्रिक विन्यास के संदर्भ में है। इससे छंदीय संख्या और उसके संरचनात्मक समूहों के बीच का संबंध अधिक स्पष्ट होता है।

भक्तिकालीन साहित्य में छंद और संगीत का संबंध और प्रत्यक्ष हो जाता है। नाभादास के भक्तमाल का छप्पय—

"भगति विमुख जे धर्म सो सब अधर्म करि गाए।
योग यज्ञ व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखाए॥
हिंदू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी।
पक्षपात नहिं बचन सबहिं के हित की भाखी॥
आरुढ़ दशा है जगत पै, मुख देखी नाहीं भनी।
कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षट दर्शनी॥"

का पाठ एक विशिष्ट चरण-विन्यास और गति निर्मित करता है। पाठ-स्रोत में भी इसे नाभादास का छप्पय रूप में उपलब्ध कराया गया है। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि छंदीय संगठन अपने आप किसी एक संगीत-ताल को निर्धारित नहीं करता। लोकगायन, भजन अथवा अन्य संगीतात्मक संदर्भों में समान काव्य-पाठ अलग-अलग लयगत रूप ग्रहण कर सकता है।

रसखान का मत्तगयंद भी इस दृष्टि से उपयोगी उदाहरण है। मत्तगयंद के प्रत्येक पाद में सात भगण और दो गुरु माने जाते हैं, जिससे 23 वर्णों की संरचना बनती है।[6] रसखान की प्रसिद्ध पंक्तियाँ—

"या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहुँ पुर को तजि डारौ।

आठहु सिद्धि नवौ निधि को सुख नंद की गाइ चराइ बिसारौ॥
ए रसखानि जबै इन नैनन ते ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौ।
कोटिक ये कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौ॥"

के विभिन्न उपलब्ध पाठों में कुछ शब्द-पाठांतर मिलते हैं; इसलिए यहाँ उदाहरण का उपयोग छंदीय संरचना और उसके संगीतात्मक पुनर्संगठन के विवेचन के लिए है, किसी एक ऑनलाइन पाठ को अंतिम आलोचनात्मक पाठ मानने के लिए नहीं। हिन्दवी पर उपलब्ध पाठ में भी पाठ-रूप का भिन्न संस्करण मिलता है।

यहीं **'सीमा-संरेखण'** की दूसरी विश्लेषणात्मक अवधारणा उपयोगी होती है। पाद, यति और पादांत छंदीय सीमाएँ हैं; सम, विभाग, ताली-खाली और आवर्तन संगीतात्मक सीमाएँ। कभी दोनों का स्पष्ट संरेखण दिखाई देता है, कभी वे अलग-अलग बिंदुओं पर स्थित होते हैं। दोनों स्थितियाँ संगीतात्मक रूप से सार्थक हो सकती हैं। अतः छंद और ताल के संबंध को केवल 'मेल' अथवा 'अमेल' में बाँटना पर्याप्त नहीं होगा।

शाङ्र्गदेव के यहाँ अक्षर, गीत, ताल, यति और लय

छंद और संगीत के संबंध पर भारतीय संगीतशास्त्र की परंपरागत दृष्टि समझने के लिए शाङ्र्गदेव का संगीतरत्नाकर निर्णायक स्रोतों में है। वाद्याध्याय के 1211–1213 में अक्षर, गीत, ताल, यति, लय और न्यास के पारस्परिक संबंधों का क्रमिक विवेचन मिलता है।[7] स्रोत में यही क्रमांक स्पष्ट रूप से 1211, 1212 और 1213 दिया गया है।

"अक्षराद्यङ्गपूर्वं च तालादि यतिपूर्वकम्।
लयादि न्यासापन्यासपूर्वैः पाणिसमं तथा॥"

इसके बाद —

"स्यादक्षरसमं गीतगुरुलघ्वक्षरानुगम्।
गीतस्य ग्रहमोक्षादीन्यङ्गान्यत्रेति यत्पुनः॥"

और —

"स्यात्तदङ्गसमं तालानुगं तालसमं मतम्।
यतिर्लयस्य न्यासः स्यात्सन्यासस्य च साम्यतः।
यत्यादिपूर्वकं ज्ञेयं क्रमात्समचतुष्टयम्॥"[7]

इन श्लोकों का महत्त्व इस बात में है कि शाङ्र्गदेव अक्षर, गीत और ताल को एक ही संरचना में विलीन नहीं करते। अक्षर और गीत का संबंध गुरु-लघु तथा अक्षरानुगमन के साथ है; गीत के अपने अंग हैं; ताल का अपना संगठन है; यति और लय के संबंध का भी अलग विवेचन है। भारतीय संगीतशास्त्रीय परंपरा में इसलिए काल और संरचना को एक ही स्तर पर समझना उचित नहीं है।

आधुनिक विश्लेषण में प्रयुक्त "छंदीय काल–तालगत काल–श्रव्य काल" जैसी त्रिस्तरीय संज्ञाएँ शाङ्र्गदेव की स्वयं की पारिभाषिक व्यवस्था नहीं हैं। यह इस अध्ययन का विश्लेषणात्मक मॉडल है। शाङ्र्गदेव के पाठ का उपयोग इस मॉडल को उनके नाम से आरोपित करने के लिए नहीं, बल्कि यह दिखाने के लिए किया जा रहा है कि भारतीय संगीतशास्त्र में अक्षर, गीत, ताल, यति और लय को अलग-अलग संरचनात्मक संबंधों में समझने की परंपरा विद्यमान थी।

छंदीय काल का आशय यहाँ वर्ण अथवा मात्रा के अनुक्रम से निर्मित संरचना से है। तालगत काल आवर्तन, मात्रा, विभाग, ताली-खाली और सम के माध्यम से व्यवस्थित होता है। श्रव्य काल किसी अक्षर, स्वर, विराम या ध्वनि की वास्तविक सुनाई देने वाली अवधि है। इन तीनों स्तरों को एक कर देने से काव्य-पाठ और संगीत-प्रस्तुति के बीच

के अनेक भेद समझ से बाहर हो जाते हैं।

गुरु और लघु इसका स्पष्ट उदाहरण हैं। छंदशास्त्रीय गणना में गुरु और लघु को मात्रा-संबंधी मान भी दिए जाते हैं, किंतु उन मानों को भौतिक सेकंड समझना उचित नहीं। संस्कृत में एकमात्रिक और द्विमात्रिक उच्चारण-मान की परंपरा है, पर यह आधुनिक घड़ी-समय की इकाई नहीं है।[8] छंदीय मात्रा एक संबंधात्मक और संरचनात्मक इकाई के रूप में कार्य करती है; उसका वास्तविक श्रव्य विस्तार गायन की परिस्थिति में परिवर्तित हो सकता है।

इसी प्रकार 13-मात्रिक पाद को तेरह समान श्रव्य कालखंडों में सुनना आवश्यक नहीं है। काव्य का छंदीय अनुशासन अपनी जगह रहता है, जबकि संगीत वास्तविक ध्वनि-काल का पुनर्विन्यास करता है।

छंदीय काल-सामर्थ्य और संगीतात्मक पुनर्संगठन

छंद और संगीत के संबंध को 'समय उपलब्ध कराने' के बजाय 'संरचना उपलब्ध कराने' की प्रक्रिया के रूप में देखना अधिक उपयुक्त है। छंद काव्य के भीतर कुछ ऐसी सीमाएँ और अनुक्रम पहले से निर्धारित कर देता है जिनसे संगीतकार को काम करने के लिए एक आधार मिलता है। वह आधार ताल के बराबर नहीं है, लेकिन ताल के साथ अंतःक्रिया करने में सक्षम है।

इसी प्रक्रिया को यहाँ **संगीतात्मक पुनर्संगठन** कहा गया है। इसमें काव्य की छंदीय संरचना को न तो यांत्रिक रूप से जस का तस ताल में बदला जाता है और न ही वह संगीत में प्रवेश करते ही अप्रासंगिक हो जाती है। स्वर किसी अक्षर को विस्तार देता है, लय किसी खंड की गति और घनत्व बदल सकती है, ताल उसे चक्रीय संदर्भ प्रदान करता है, विराम किसी सीमा को अधिक मुखर करता है और कभी-कभी संगीतकार छंदीय अपेक्षा और तालगत बिंदु के बीच अंतर भी बनाए रखता है।

यदि किसी दोहे के पादांत को सम पर रखा जाता है तो पद्य की सीमा और ताल की सीमा का स्पष्ट संरेखण बन सकता है। किंतु यदि सम किसी अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द पर आए, तो पंक्ति का छंद नष्ट नहीं होता। सुनने वाले को एक अतिरिक्त लयात्मक तनाव प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार संस्कृत के किसी वर्णवृत्त को गाते समय पादांत, यति और ताल-विभाग एक साथ भी आ सकते हैं और अलग-अलग भी।

छंद की वास्तविक शक्ति उसकी पूर्वविन्यस्तता में है। छंद यह पहले से तय करता है कि किस क्रम में वर्ण आएँगे, भार का कौन-सा संबंध बनेगा, कहाँ पाद समाप्त होगा और किस प्रकार की पुनरावृत्ति बनेगी। संगीत इन पूर्वविन्यासों को श्रव्य समय में पुनर्गठित करता है। छंद इसलिए न तो 'ताल का प्रारूप' है और न ही 'ताल का स्थानापन्न'। वह संगीतात्मक काल-सृजन के लिए एक संरचनात्मक आधार है।

यहाँ आधुनिक संगीतशास्त्रीय शोध भी उपयोगी है। Martin Clayton का Time in Indian Music उत्तर भारतीय राग-संगीत में rhythm, metre और form के संबंध तथा समय-संगठन का विश्लेषण करता है; उसके अध्यायों में ताल की मात्रात्मक, गुणात्मक और चक्रीय भूमिकाओं पर भी चर्चा है।[9] Somangshu Mukherji का 2024 का "Tala as Phrase Meter" अध्याय ताल को phrase-meter के स्तर पर देखने का प्रस्ताव रखता है और विशेष रूप से ताल को केवल साधारण additive meter मानने से उत्पन्न भ्रांतियों की चर्चा करता है।[10] इन अध्ययनों का उपयोग यहाँ शार्ङ्गदेव की अवधारणाओं के स्थानापन्न के रूप में नहीं, बल्कि छंद, ताल और संगीत-वाक्य के संबंध को आधुनिक विश्लेषण की पृष्ठभूमि में रखने के लिए किया गया है।

छंद की संगीतात्मक उपयोगिता का गहरा आधार इसी में है कि वह काव्य-ध्वनि को अव्यवस्थित प्रवाह नहीं रहने देता। वह क्रम देता है, भार देता है, सीमा देता है और पुनरावृत्ति का अनुशासन देता है। संगीत उस अनुशासन को श्रव्य समय में पुनर्गठित करते हुए अनेक नए विकल्प खोलता है। यही कारण है कि एक ही छंद अलग-अलग संगीतकारों के हाथों अलग-अलग रूप धारण कर सकता है, जबकि उसकी मूल छंदीय पहचान बनी रह सकती है।

मौलिकता, सीमाएँ और निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन की मौलिकता दो स्तरों पर स्थित है। पहला, छंद और ताल के संबंध को केवल समानता या असमानता के प्रश्न के रूप में न देखकर उसे तीन अलग स्तरों—छंदीय काल, तालगत काल और श्रव्य काल—के पारस्परिक संबंध के रूप में समझना। दूसरा, 'छंदीय काल-सामर्थ्य' और 'सीमा-संरेखण' जैसी विश्लेषणात्मक अवधारणाओं के माध्यम से संस्कृत और हिंदी के छंदों की संगीतात्मक उपयोगिता को बिना छंद और ताल की कृत्रिम समानता स्थापित किए समझना।

अध्ययन की एक सीमा यह है कि यहाँ किसी विशिष्ट गायन की वास्तविक ध्वनि-अवधि का सांख्यिकीय विश्लेषण नहीं किया गया है। अतः गुरु, लघु, यति, पादांत अथवा स्वर-दीर्घता की वास्तविक अवधि के संबंध में कोई संख्यात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं किया जा रहा। आगे के अनुसंधान में एक ही छंद की विभिन्न संगीतात्मक प्रस्तुतियों का ध्वन्यात्मक विश्लेषण कर अक्षर-अवधि, स्वर-दीर्घता, विराम, ताल-मात्रा, विभाग, सम और आवर्तन के बीच वास्तविक संबंध मापे जा सकते हैं।

अंततः छंद और ताल दोनों काल-संगठन करते हैं, किंतु उनका काल एक ही प्रकार का नहीं है। छंद काव्य-ध्वनि के अनुक्रम, भार और सीमा को व्यवस्थित करता है; ताल संगीत के काल को आवर्तन और विभागों में संगठित करता है; श्रव्य काल इन दोनों की वास्तविक ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति का क्षेत्र है।

इस अध्ययन के मूल प्रश्न का उत्तर एक वाक्य में दिया जा सकता है—

**छंद संगीत के लिए 'समय' नहीं देता, बल्कि समय को संगठित करने योग्य संरचना देता है।**

छंद वास्तविक भौतिक समय उपलब्ध नहीं कराता; वह काव्य-ध्वनि के लिए क्रम, भार, सीमा और पुनरावृत्ति की ऐसी व्यवस्था निर्मित करता है जिसे संगीत ताल, लय, स्वर-विस्तार और विराम के सहारे नए श्रव्य रूप में पुनर्संगठित कर सकता है। छंद और ताल का संबंध समानता का नहीं, अंतःक्रिया का है। संगीत में छंद का प्रवेश किसी यांत्रिक रूपांतरण का परिणाम नहीं, बल्कि **संगीतात्मक पुनर्संगठन** की प्रक्रिया है।

## टिप्पणियाँ

1. Pāṇinīyaśikṣā, 41–42। उपलब्ध पाठों में दोनों श्लोक इसी क्रम में हैं।
2. Kedārabhaṭṭa, Vṛttaratnākara, 3.79। "उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः" के आधार पर वसंततिलका का गणविन्यास निर्धारित होता है।
3. Kālidāsa, Ṛtusaṃhāra, द्वितीय सर्ग। संस्करणानुसार श्लोक-संख्या में अंतर मिलने के कारण यहाँ सर्ग-संदर्भ रखा गया है।
4. Rahīm, Dohāvalī, क्रमांक 219, उपलब्ध पाठ।
5. Bholashankar Vyas, Vasudev Sharan Agrawal, and Dalsukh Malvania, eds., Prakritpaingalam. Prakrit Text Society, Ahmedabad, 2007. प्राकृतपैंगलम् में छप्पय के लिए चार रोला चरणों के बाद 15+13 वाले 28-मात्रिक उल्लाला चरणों का उल्लेख मिलता है; उसी रूप में कुल 152 मात्राएँ होती हैं।
6. मत्तगयंद के सामान्य वर्ण-विन्यास में सात भगण और दो गुरु माने जाते हैं; प्रत्येक पाद में 23 वर्ण होते हैं। रसखान के पद के उपलब्ध पाठों में कुछ पाठांतर पाए जाते हैं; इसलिए यहाँ छंदीय उदाहरण को पाठ-समीक्षा के अंतिम निर्णायक पाठ के रूप में नहीं, बल्कि संरचनात्मक उदाहरण के रूप में ग्रहण किया गया है।
7. Śārṅgadeva, Saṅgītaratnākara, वाद्याध्याय, 1211–1213। स्रोत-पाठ में यही क्रमांक उपलब्ध हैं।

8. छंदीय परंपरा में लघु और गुरु के मात्रिक मान का प्रयोग मिलता है; यहाँ उन मानों को भौतिक सेकंड के बराबर न मानने का तर्क छंदीय इकाई और श्रव्य अवधि के भेद पर आधारित है।
9. Martin Clayton, Time in Indian Music: Rhythm, Metre, and Form in North Indian Rāg Performance. Oxford University Press, 2008. पुस्तक का प्रकाशन विवरण Oxford Academic पर 2008 के रूप में उपलब्ध है और इसमें ताल की rhythmic organization पर पृथक अध्याय हैं।
10. Somangshu Mukherji, "Tala as Phrase Meter," in Modeling Musical Analysis, edited by Kimberly Goddard Loeffert and John Peterson, Oxford University Press, 2024, pp. 1–10.

**संदर्भ-सूची :**

1. Clayton, Martin. Time in Indian Music: Rhythm, Metre, and Form in North Indian Rāg Performance. Oxford University Press, 2008.
2. Kālidāsa. Ṛtusaṃhāra.
3. Kedārabhaṭṭa. Vṛttaratnākara.
4. Mukherji, Somangshu. "Tala as Phrase Meter." Modeling Musical Analysis, edited by Kimberly Goddard Loeffert and John Peterson, Oxford University Press, 2024, pp. 1–10.
5. Nabhādāsa. Bhaktamāl.
6. Pāṇini. Pāṇinīyaśikṣā.
7. Rahīm. Dohāvalī.
8. Raskhān. Raskhān Granthāvalī Sateek. Edited by Deshraj Singh Bhati, Ashok Prakashan, 1966.
9. Śārṅgadeva. Saṅgītaratnākara.
10. Vyas, Bholashankar, Vasudev Sharan Agrawal, and Dalsukh Malvania, editors. Prakritpaingalam. Prakrit Text Society, Ahmedabad, 2007.

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-178-182

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 178-182
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. ओम प्रकाश दास**

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
आईसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग

Corresponding Author :

**डॉ. ओम प्रकाश दास**

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
आईसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग

## भारतीय परंपरा और संस्कृति में लोक जीवन

**सारांश :** भारतीय परंपरा और संस्कृति को समझने के लिए लोक जीवन को केंद्र में रखना आवश्यक है। भारतीय संस्कृति केवल धर्म, दर्शन, साहित्य और कला की शास्त्रीय उपलब्धियों में ही नहीं, बल्कि सामान्य जन के जीवन व्यवहार में भी सुरक्षित है। जन्म से मृत्यु तक के संस्कार, विवाह, पर्व-त्योहार, लोकगीत, लोककथाएँ, लोकविश्वास, लोक प्रथा, वेशभूषा, खान-पान, ग्रामीण जीवन और प्रकृति के साथ मनुष्य का संबंध ये सभी लोक जीवन के महत्वपूर्ण हिस्से हैं। लोक परंपरा व्यक्ति को परिवार, समुदाय और व्यापक समाज से जोड़ती है तथा एक पीढ़ी के अनुभवों को दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाती है। प्रस्तुत आलेख में भारतीय परंपरा और संस्कृति के निर्माण में लोक जीवन की भूमिका का विवेचन किया गया है। लोक को जीवंत परंपरा मानते हुए लोकगीत, लोकनृत्य, संस्कार, प्रकृति-चेतना, ग्रामीण एवं आदिवासी जीवन, भाषा और साहित्य के संदर्भ में इसकी चर्चा की गई है। विद्यापति के साहित्य में मिथिला की लोक परंपराएँ, बघेली लोकगीतों में प्रकृति और सामाजिक जीवन, हिमालयी समाज में लोकनृत्य तथा उत्तराखंड की भाषायी विविधता भारतीय लोक संस्कृति के क्षेत्रीय रूपों को सामने लाते हैं। लोक जीवन परंपरा को केवल सुरक्षित नहीं रखता, बल्कि उसे समयानुकूल रूप भी देता है। आधुनिकता और वैश्वीकरण ने लोक जीवन की पारंपरिक संरचनाओं में परिवर्तन किया है, लेकिन लोक संस्कृति नए माध्यमों में आज भी सक्रिय है। इसलिए परंपरा को जड़ता के रूप में नहीं, बल्कि निरंतर विकसित होती सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में देखना चाहिए। भारतीय संस्कृति की जीवंतता इसी में है कि लोक जीवन अतीत की स्मृति को वर्तमान से जोड़ते हुए भविष्य की सांस्कृतिक चेतना को दिशा देता है।

**बीज शब्द :** भारतीय परंपरा, संस्कृति, लोक जीवन, लोक संस्कृति, संस्कार, लोकाचार, लोकगीत, लोकविश्वास, प्रकृति, ग्रामीण जीवन।

**मूल आलेख :** भारतीय संस्कृति की चर्चा करते समय परंपरा का संदर्भ

स्वाभाविक रूप से सामने आता है। परंपरा का अर्थ केवल अतीत की वस्तुओं को सुरक्षित रखना नहीं है। परंपरा तथा संस्कृति वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से एक पीढ़ी अपने अनुभव, मूल्य, विश्वास और जीवन-पद्धति अगली पीढ़ी को देती है। कहा भी गया है— "किसी भी राष्ट्र की संस्कृति उसकी सामुदायिक विरासत है। वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जाती है।"[1] इस दृष्टि से लोक जीवन परंपरा का सबसे मजबूत कड़ी है। परिवार में बच्चे जिस भाषा को सुनते हैं, जिन संस्कारों को देखते हैं, जिन त्योहारों में भाग लेते हैं, जिन गीतों को सुनते हैं और जिन सामाजिक व्यवहारों को सीखते हैं, वही धीरे-धीरे उनकी सांस्कृतिक चेतना का हिस्सा बनते हैं। इसलिए संस्कृति का वास्तविक जीवन लोक में दिखाई देता है। शास्त्रीय ग्रंथ संस्कृति का वैचारिक पक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं, लेकिन लोक जीवन संस्कृति को व्यवहार में जीवित रखता है।

लोक और परंपरा के संबंध में बात करें तो स्पष्ट है, लोक की अवधारणा में परंपरा का संबंध आधारभूत है। डॉ. सत्येंद्र का कथन है—"लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।"[2] इस विचार से स्पष्ट है कि लोक और परंपरा को अलग नहीं किया जा सकता। लोक परंपरा को जीवन देता है और परंपरा लोक की सामूहिक पहचान को बनाए रखती है। वासुदेवशरण अग्रवाल कहते हैं—"लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, इसमें भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है।"[3] लोक जीवन इसी निरंतरता को रेखांकित करता है। लोक में अतीत की स्मृतियाँ सुरक्षित रहती हैं, लेकिन वे केवल स्मृति बनकर नहीं रहतीं। वे वर्तमान जीवन में नए रूप ग्रहण करती हैं।

भारतीय लोक जीवन में संस्कारों का विशेष महत्व है। यहाँ जन्म, नामकरण, विवाह, गृहस्थ जीवन, मृत्यु आदि जीवन की अवस्थाओं से जुड़े सभी संस्कार परिवार और समाज से पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते रहे हैं। इन संस्कारों में क्षेत्र विशेष की विभिन्नता के बावजूद पूरे विश्व में भारत की परंपरा और संस्कृति की एक अलग पहचान है। रति मेहरोत्रा लिखती हैं— "पग-पग बदले बोली, पग-पग बदले भेष' वाले इस देश में साल भर कोई न कोई उत्सव और त्योहार मनाने की परंपरा रही है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर हमारे पूर्वजों ने त्योहार, पर्व, उत्सव, मेले, यात्रा इत्यादि के आयोजन की परंपरा शुरू की थी।"[4] यह परंपरा आज भी जिंदा है। संस्कारों के माध्यम से केवल सामाजिक-धार्मिक मान्यताएँ ही नहीं, बल्कि सामाजिक मूल्य भी हस्तांतरित होते हैं। सम्मान, जिम्मेदारी, पारिवारिक संबंध, सामूहिकता और सामाजिक सहयोग जैसे भाव संस्कारों के माध्यम से बाल्यावस्था से ही विकसित होते हैं। भारतीय संस्कृति में जन्म से अंत्येष्टि तक विभिन्न संस्कारों— विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास और अंत्येष्टि को जीवन की क्रमिक अवस्थाओं से जोड़कर देखा गया है। एक प्रकार से ये संस्कार व्यक्ति के निजी जीवन को सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन से जोड़ते जाते हैं।

भारतीय लोक जीवन में विवाह सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक संस्कारों में है। विवाह केवल दो व्यक्तियों का संबंध नहीं, बल्कि दो परिवारों और व्यापक सामाजिक समूहों का उत्सव भी रहा है। विवाह से जुड़े मंगलगीत, लोकाचार, भोजन, वस्त्र, रिश्तेदारी और सामूहिक अनुष्ठान आदि में क्षेत्रों के आधार पर भिन्नता है। मिथिला, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, झारखंड, पंजाब, दक्षिण भारत आदि के विवाह संस्कारों में बाहरी अंतर स्पष्ट है, लेकिन विवाह की सामुदायिक प्रकृति अनेक स्थानों पर समान दिखाई देती है।

अध्ययन की इस यात्रा में लोक साहित्य का विशिष्ट महत्व है। लोक साहित्य को जन साहित्य भी कहा जाता है, जिसकी परंपरा अत्यंत प्राचीन है। किसी भी जन-समुदाय की प्रथाएँ, परंपराएँ, रूढ़ियाँ, विश्वास, मान्यताएँ, रीती-रिवाजों आदि का प्रतिबिम्ब उसके लोक साहित्य पर अवश्य पड़ता है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार— "लोक साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो, पर आज इसे सामान्य लोक-समूह अपना मानता है और जिसमें लोक की युग-युगीन वाणी-साधना समाहित रहती है। जिसमें लोक-मानस प्रतिबिंबित रहता है।"[5] विभिन्न

विद्वानों के द्वारा इस साहित्य को लोक-गीत, लोक-गाथा, लोक-कथा, लोक-नाट्य, फुटकर रचनाएं, लोक-सुभाषित जैसे विविध कोटियों मे विभाजित किया गया है।

इस परंपरा को विकसित करने में लोकगीत सबसे सहज माध्यम हैं। लिखित साहित्य से अलग लोकगीत सामान्यतः सामूहिक स्मृति में विकसित होते हैं। उन्हें गाने वाले लोग ही उन्हें आगे बढ़ाते हैं। विद्यापति के साहित्य में मिथिला के लोक व्यवहार, लोक मान्यताओं, रहन-सहन, लोक संस्कार और लोकगीतों का व्यापक उल्लेख मिलता है। विद्यापति ने लोक से जुड़े लगभग सभी तत्वों को अपनी रचनाओं में स्थान दिया। इसलिए उनके पद लोक जीवन में आज भी गाए जाते हैं। वहीं बघेली लोकगीतों में प्रकृति, सामाजिक संबंध, श्रम, उत्सव और पर्यावरणीय चेतना के अनेक रूप मिलते हैं। लोक जीवन से जुड़े ऐसे लोकगीत समाज को जागरुक और प्रेरित करते रहे हैं। लोकगीतों की विशेषता उनकी सरलता है। वे सामान्य मनुष्य के अनुभवों को उसी की भाषा में व्यक्त करते हैं। डॉ. चिंतामणि उपाध्याय लोकगीतों में लोकजीवन की सच्ची अभिव्यक्ति मानते हुए कहते हैं— "मनुष्य के सामाजिक, पारिवारिक एवं व्यक्तिगत जीवन से जुड़े हुए अनेक मार्मिक चित्र लोकगीतों में उतर आते हैं।"[6] यही कारण है कि यह स्मृति पीढ़ियों तक बनी रहती है। इस क्षेत्र में स्त्रियों की भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण रही है। विवाह गीत, सोहर, विदाई गीत, ऋतुगीत, श्रमगीत आदि में स्त्री जीवन की संवेदना समाहित होती है। इसलिए लोकगीत केवल संगीत नहीं, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक विकास की एक कड़ी है। अतः लोक जीवन को समझने के लिए लोक साहित्य की उपयोगिता स्पष्ट है। हिंदी साहित्य-संसार लोक जीवन के विभिन्न संदर्भों में उद्देश्यपूर्ण है। जायसी के साहित्य में तत्कालीन समाज के लोकविश्वास, सामाजिक रीति-रिवाज, धार्मिक समन्वय और नैतिक मूल्यों का चित्रण मिलता है। उनके काव्य को सोलहवीं शताब्दी के भारतीय समाज और संस्कृति का महत्वपूर्ण सांस्कृतिक दस्तावेज माना जाता है। वहीं फनीश्वरनाथ रेणु में आंचलिक ग्रामीण समाज और प्रेमचंद के कथा साहित्य में किसान जीवन का चित्रण इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। रेणु के मैला आँचल में लोकगीत, लोकभाषा, पर्व-त्योहार और सामाजिक व्यवहार कथा के जीवन से जुड़े हुए हैं। लोकगीतों के माध्यम से मेरीगंज का सामाजिक वातावरण जीवंत होता है। आज ऐसे महत्वपूर्ण साहित्य का संरक्षण अत्यंत आवश्यकता है, क्योंकि साहित्य लोक संस्कृति का केवल प्रतिबिंब नहीं है; वह उसकी व्याख्या भी करता है।

भारतीय संस्कृति में इस परंपरा को गतिशील रूप देने में लोकनृत्य का भी विशेष महत्व है। हिमाचली लोकनृत्यों के संदर्भ में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों, जातीय समूहों और धार्मिक अवसरों के आधार पर लोकनृत्य के अनेक रूपों का उल्लेख मिलता है। ये नृत्य सामूहिक जीवन से जुड़े होते हैं। त्योहार, मेले, धार्मिक अनुष्ठान और सामाजिक अवसर उनके प्रदर्शन के प्रमुख स्थल हैं। इन नृत्यों की उपयोगिता तब तक बनी रहती है जब तक वह लोक जीवन की आकांक्षाओं और भावनाओं को अभिव्यक्त करता है।

इस अध्ययन से स्पष्ट है कोई भी परंपरा तभी जीवित रहती है, जब वह वर्तमान समाज के अनुभव और विश्वास से जुड़ी रहे। लोक जीवन की मानसिक संरचना को समझने के लिए लोकविश्वास महत्वपूर्ण कड़ी है। शुभ-अशुभ संकेत, स्थानीय देवता, वृक्ष, नदी, पर्वत, पशु-पक्षी और ऋतु से जुड़े विश्वास विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग रूपों में मिलते हैं। लोकविश्वासों को केवल अंधविश्वास कहकर समाप्त कर देना लोक संस्कृति की जटिलता को समझने में बाधक हो सकता है। सांस्कृतिक अध्ययन के स्तर पर यह देखना अधिक महत्वपूर्ण है कि इन विश्वासों ने समाज के व्यवहार और सामूहिक चेतना को कैसे प्रभावित किया। स्पष्ट होता है कि साहित्य के माध्यम से लोकविश्वासों और सामाजिक परंपराओं का अध्ययन किया जा सकता है।

भारतीय लोक जीवन में प्रकृति के प्रति गहरा लगाव रहा है। किसान के लिए मिट्टी, वर्षा और फसल जीवन के आधार हैं। पर्वतीय समाज के लिए जंगल, जल और पर्वत जीवन के हिस्सा हैं। आदिवासी समाज का प्रकृति से और

भी गहरा संबंध है। लोकगीतों में पेड़-पौधे, नदी, वर्षा और ऋतुओं का बार-बार आना इसी संबंध का प्रमाण है। इसी लोक परंपरा में पर्यावरण संकट के समय प्रकृति को केवल उपयोग की वस्तु न मानकर जीवन के सहचर के रूप में देखने की लोक दृष्टि मिली है।

लोक जीवन के संदर्भ में भाषा पर भी विचार करना आवश्यक है, क्योंकि भाषा के माध्यम से लोक अपनी स्मृतियों और अनुभवों को सुरक्षित रखता है। कहा भी गया है कि "एक विकसित समाज के निर्माण के लिए संस्कृति और भाषा दोनों का समानांतर रूप से विकसित करने की आवश्यकता है।"[6] भारत की अनेक स्थानीय भाषाएँ विभिन्न क्षेत्रों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन से जुड़ीं हैं। भाषा की विविधता सांस्कृतिक विविधता का संकेत है। किसी भाषा या बोली के कमजोर होने से उसके साथ जुड़ी लोककथाएँ, गीत, कहावतें और लोकज्ञान भी कमजोर हो सकते हैं। इसीलिए भारत में सभी स्थानीय भाषाओं के संरक्षण की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

यह भी सत्य है कि भारतीय लोक संस्कृति का बड़ा हिस्सा ग्रामीण जीवन में विकसित हुआ है। कृषि, पशुपालन, श्रम और सामूहिक जीवन ने ग्रामीण संस्कृति की संरचना को प्रभावित किया। गाँव में श्रम केवल आर्थिक गतिविधि नहीं रहा; उसके साथ अनेक सांस्कृतिक व्यवहार जुड़े रहे हैं। फसल के समय गीत, पशुओं के प्रति कृतज्ञता, वर्षा की प्रतीक्षा, सामूहिक श्रम और फसल के बाद उत्सव आदि इसी सांस्कृतिक जीवन के रूप हैं। इसलिए कृषि को भारतीय संस्कृति का मूलाधार माना गया है।

इस संदर्भ में आदिवासी समाज भी महत्वपूर्ण सांस्कृतिक इकाई है। उनकी परंपराएँ प्रकृति, समुदाय और सामूहिक श्रम से गहराई से जुड़ी हैं। आदिवासी लोककथाएँ, गीत और नृत्य सामुदायिक स्मृति को सुरक्षित रखते हैं। जल, जंगल और जमीन के प्रति उनकी संवेदना उनके जीवन की सांस्कृतिक संरचना का हिस्सा है। आदिवासी संस्कृति को भारतीय संस्कृति के बाहर रखकर नहीं देखा जा सकता। वह भारतीय संस्कृति की बहुलता को समृद्ध करने वाली परंपरा है।

यह भी विचारणीय तथ्य है कि परंपरा को स्थिर मानना उचित नहीं है। समाज बदलता है तो परंपरा भी बदलती है। आधुनिक शिक्षा, नगरीकरण, संचार और तकनीक ने लोक जीवन के स्वरूप को प्रभावित किया है। शिक्षा, विज्ञान और तकनीकी विकास के कारण सामाजिक परिवर्तन स्वाभाविक है और उसके साथ लोक साहित्य के स्वरूप और शैली में भी परिवर्तन आता है। लेकिन परिवर्तन का अर्थ परंपरा का अंत नहीं है। लोक परंपरा नए माध्यमों में भी अपना स्थान बना सकती है। आज लोकगीत डिजिटल मंचों पर उपलब्ध हैं। लोकनृत्य राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय मंचों पर प्रस्तुत किए जा रहे हैं। स्थानीय भाषाओं में इंटरनेट सामग्री तैयार हो रही है। आज समन्वय के तहत लोक संस्कृति अपनी पुराने रूप को नए माध्यमों में व्यक्त कर रही है। समन्वय भारतीय परंपरा और संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। भारतीय लोक जीवन में अलग-अलग धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं का संपर्क लगातार होता रहा है। यह समन्वय लोक जीवन में और अधिक सहज रूप में दिखाई देता है। लोक समाज जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न परंपराओं को ग्रहण करता है और उन्हें अपनी स्थानीय संस्कृति का हिस्सा बना लेता है।

आज लोक संस्कृति के सामने दोहरी चुनौती है। एक ओर परंपरागत जीवन-पद्धतियाँ बदल रही हैं, दूसरी ओर बाजार और मनोरंजन उद्योग लोक संस्कृति के अनेक रूपों को नए तरीके से प्रस्तुत कर रहे हैं। इस परिस्थिति में संरक्षण का अर्थ केवल पुराने रूपों को जस का तस बचाना नहीं होना चाहिए। लोक संस्कृति के मूल मानवीय तत्वों को पहचानना भी आवश्यक है। सामूहिकता, प्रकृति-प्रेम, श्रम-सम्मान, पारिवारिक संवेदना, सहयोग और सांस्कृतिक सह-अस्तित्व ऐसे मूल्य हैं जिन्हें आधुनिक समाज में भी उपयोगी रूप में आगे बढ़ाया जा सकता है। मैथ्यू अर्नोल्ड के अनुसार, "किसी समाज और राष्ट्र की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ ही संस्कृति है। जिनसे समाज और राष्ट्र परिचित होता है।"[7] चूँकि हमारे देश की परंपरा और संस्कृति काफी प्रसिद्ध है। यह कई पीढ़ियों की अर्जित पूँजी है, इसलिए इसे अक्षुण्ण

रखना हमारा कर्तव्य है।

**निष्कर्ष :** भारतीय परंपरा और संस्कृति में लोक जीवन की भूमिका अत्यंत व्यापक है। संस्कार व्यक्ति को समाज से जोड़ते हैं, लोकगीत सामूहिक स्मृति को सुरक्षित रखते हैं, लोकनृत्य समुदाय को एक साथ लाते हैं, लोकविश्वास सामाजिक मानसिकता को अभिव्यक्त करते हैं और प्रकृति से जुड़े लोकाचार मनुष्य और पर्यावरण के संबंध को मजबूत करते हैं। वहीं भाषायी विविधता भारतीय लोक संस्कृति को अनेक रूपों व आयामों से समृद्ध करती है। विद्यापति का मिथिला लोक जीवन, बघेली लोकगीत, हिमालयी लोकनृत्य, ग्रामीण किसान जीवन, आदिवासी संस्कृति आदि भारतीय परंपरा के विभिन्न रूपों को सामने लाते हैं। एक प्रकार से लोक जीवन भारतीय संस्कृति का केवल एक अंग नहीं है, बल्कि उसकी जीवित आधारभूमि है।

परंपरा की वास्तविक शक्ति उसकी जड़ता में नहीं, उसकी जीवंतता में है। जो परंपरा समय के साथ संवाद करती है, वह आगे बढ़ती है। जो लोक जीवन बदलते समय में अपने मूल मानवीय मूल्यों को बचाए रखते हुए नए रूप ग्रहण करता है, वही संस्कृति को जीवित रखता है। अतः भारतीय परंपरा और संस्कृति को समझने के लिए लोक जीवन को केंद्र में रखना आवश्यक है। लोक जीवन अतीत की स्मृति, वर्तमान की सामाजिक वास्तविकता और भविष्य की सांस्कृतिक संभावनाओं को जोड़ने वाली कड़ी है।

**संदर्भ सूची :**

1. कुशवाहा, ज्योति (सं). भारतीय संस्कृति में लोक जीवन. दिल्ली : साहित्य संचय, प्रथम संस्करण, 2020, पृ. 43.
2. सत्येन्द्र. लोक साहित्य विज्ञान. आगरा : शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी, द्वितीय संस्करण, 1971, पृ. 03.
3. जोशी, मृदुल. उत्तराखंड का लोक साहित्य. हल्द्वानी, नैनीताल : उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, 2015, पृ. 04.
4. कुमार, प्रमोद (सं). विश्व पटल पर भारतीय परम्परा, संस्कृति और शिक्षा. दिल्ली : साहित्य संचय, प्रथम संस्करण, 2025, पृ. 13.
5. जोशी, मृदुल. उत्तराखंड का लोक साहित्य. हल्द्वानी, नैनीताल : उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, 2015, पृ. 10.
6. वही, पृ. 19.
7. कुशवाहा, ज्योति (सं). भारतीय संस्कृति में लोक जीवन. दिल्ली : साहित्य संचय, प्रथम संस्करण, 2020, पृ. 66.

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-183-187

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 183-187
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**कल्याणी शर्मा**

शोधार्थी, हिंदी विभाग, आईसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग

**शोध-निर्देशक :**

**डॉ. ओम प्रकाश दास**

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, आईसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग

Corresponding Author :

**कल्याणी शर्मा**

शोधार्थी, हिंदी विभाग, आईसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग

## भूमंडलोत्तर यथार्थ और हिन्दी कथा साहित्य में बदलता जीवन

**सारांश :** भूमंडलीकरण आधुनिक जीवन की ऐसी व्यापक प्रक्रिया है जिसने आर्थिक व्यवस्था के साथ-साथ मनुष्य, सामाजिक संबंधों, परिवार, संस्कृति, भाषा, रोजगार, जीवन-मूल्यों और मानवीय संवेदनाओं को भी प्रभावित किया है। भारत में 1991 ई. के बाद आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्वीकरण की प्रक्रिया तेज हुई और बाजार का विस्तार सामान्य जीवन तक पहुँच गया। तकनीक और संचार के विकास से दुनिया की दूरियाँ कम हुईं, नई सुविधाएँ और रोजगार के अवसर बढ़ने लगे, लेकिन इसके साथ उपभोक्तावाद, प्रतिस्पर्धा, पारिवारिक दूरी, अकेलापन, विस्थापन तथा सांस्कृतिक संकट जैसी स्थितियाँ भी सामने आईं। हिन्दी कथा साहित्य ने इन परिवर्तनों को केवल बाहरी घटना के रूप में नहीं देखा, बल्कि मनुष्य के बदलते जीवन और संबंधों के स्तर पर उन्हें अभिव्यक्त किया है। ममता कालिया के 'दौड़', चित्रा मुद्गल के 'गिलिगडु', काशीनाथ सिंह के 'काशी का अस्सी' और 'रेहन पर रग्घू', अलका सरावगी के 'एक ब्रेक के बाद', प्रदीप सौरभ के 'मुन्नी मोबाइल' तथा रणेंद्र के 'ग्लोबल गाँव के देवता' जैसी कृतियों में भूमंडलोत्तर भारतीय समाज के विविध रूप दिखाई देते हैं। प्रस्तुत आलेख में बाजारवाद, उपभोक्तावाद, परिवार, युवा पीढ़ी, तकनीक, भाषा, वृद्ध जीवन, ग्रामीण-आदिवासी समाज और बदलते मानवीय मूल्यों के संदर्भ में हिन्दी कथा साहित्य के बदलते यथार्थ का अध्ययन-विश्लेषण किया गया है।

**बीज शब्द :** भूमंडलीकरण, भूमंडलोत्तर यथार्थ, हिन्दी कथा साहित्य, उपन्यास, बाजारवाद, उपभोक्तावाद, परिवार, तकनीक, सांस्कृतिक परिवर्तन, आदिवासी जीवन, मानवीय मूल्य।

**मूल आलेख :** साहित्य अपने समय और समाज से अलग नहीं होता। समाज में होने वाले आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीकी परिवर्तन किसी न किसी रूप में साहित्य में अभिव्यक्त होते हैं। इक्कीसवीं सदी में भारतीय समाज जिस तेजी से बदला है, उसका प्रभाव

हिन्दी कथा साहित्य पर भी स्पष्ट दिखाई देता है। यह बदलाव भूमंडलीकरण के कारण आया, जिसे अचानक उत्पन्न हुई प्रक्रिया न मानकर आधुनिकता के क्रमिक विकास से जोड़ कर देखा जाता है। अभय कुमार दुबे के अनुसार, "भूमंडलीकरण उस सफर का नाम है जो उन्नीसवीं सदी के सातवें दशक में आधुनिकता ने शुरु किया था।"[1] इस काल में भूमंडलीकरण ने दुनिया को एक-दूसरे के निकट लाने के साथ बाजार के विस्तार को भी तेज किया। हेमंत जोशी भूमंडलीकरण को परिभाषित करते हुए कहते हैं—"भूमंडलीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसने समकालीन समस्त मीडिया अखबारों, जनसंचार माध्यम एवं सूचना प्रौद्योगिकी के सहारे विश्व बाज़ार तैयार किया है।"[2] इस प्रक्रिया ने दुनिया को एक बड़े बाजार में बदल दिया, जिसका प्रभाव साहित्य एवं जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा।

भूमंडलीकरण अथवा वैश्वीकरण को केवल आर्थिक प्रक्रिया मानना पर्याप्त नहीं है। इसके साथ उदारीकरण, निजीकरण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद, सूचना-प्रौद्योगिकी और संचार क्रांति जैसी प्रक्रियाएँ जुड़ी हुई हैं। इन परिवर्तनों ने व्यक्ति के जीवन को सुविधाजनक तो बनाया, लेकिन साथ ही जीवन की प्राथमिकताओं में भी बदलाव किया। अब व्यक्ति की सफलता का संबंध केवल उसके ज्ञान और सामाजिक योगदान से नहीं, बल्कि उसके रोजगार, आय, पद, जीवन-शैली और उपभोग की क्षमता से भी जोड़ा जाने लगा। इस परिवर्तन का सबसे प्रभावशाली चित्रण समकालीन हिन्दी कथा साहित्य में मिलता है।

ममता कालिया का उपन्यास 'दौड़' भूमंडलोत्तर जीवन में बदलती मानसिकता को समझने की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। 'दौड़' में स्पष्ट चित्रण है कि उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण से उत्पन्न बाजारवाद और उपभोक्तावाद ने भारतीय समाज के पारिवारिक संबंधों और संवेदनात्मक जीवन को प्रभावित किया है। इस उपन्यास का पवन ऐसा युवा है जिसके सामने करियर, बेहतर नौकरी और आर्थिक उन्नति जीवन की प्रमुख प्राथमिकताएँ हैं। वह अपने माता-पिता के पास रहकर काम करने के बजाय अधिक अवसर वाले स्थान को चुनने की बात कहता है—"यहाँ मेरे लायक सर्विस कहाँ? यहाँ तो बेरोजगारों का शहर है।"[3] इसी मानसिकता को वह आगे स्पष्ट करता है—"पापा मेरे लिए शहर महत्वपूर्ण नहीं, करियर है।"[4] इससे पता चलता है कि नई पीढ़ी के लिए करियर और आर्थिक सफलता कई बार परिवार और परंपरा से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। इस बदलते दृष्टिकोण के पीछे बाजारवाद ही प्रमुख कारण है। इसमें बाजारवाद केवल रोजगार तक सीमित नहीं है, बल्कि जीवन-मूल्यों और इच्छाओं को भी प्रभावित करता है। पवन का कथन—"मुझे संस्कृति नहीं उपभोक्ता संस्कृति चाहिए, तभी मैं कामयाब रहूँगा।"[5] सफलता की इस उपभोग परक मानसिकता से परिवार और रिश्तों की भावात्मकता भी प्रभावित होती है। रोजगार और करियर के कारण बच्चों के दूसरे शहरों या देशों में चले जाने से माता-पिता का अकेलापन बढ़ता है। पिता की मृत्यु के बाद विदेश में रहने वाले बेटे का अंतिम संस्कार के लिए न आ पाना जैसे मार्मिक चित्रण भी हृदयविदारक है। एक प्रकार से भूमंडलोत्तर जीवन में बदलते वैवाहिक और दांपत्य संबंध को 'दौड़' में पारंपरिक भावनात्मक संबंध के साथ-साथ आधुनिक जीवन की व्यावहारिक आवश्यकता के रूप में देखने की नवीन दृष्टि मिलती है। इस प्रकार भूमंडलीकरण केवल बाजार को घर तक नहीं लाया, बल्कि उसकी भाषा और सोच को प्रेम, विवाह, परिवार और नौकरी जैसे निजी संबंधों में भी प्रवेश कर गया है।

काशीनाथ सिंह का 'काशी का अस्सी' भी भूमंडलोत्तर यथार्थ के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। इस उपन्यास में पारंपरिक संस्कृति पर बाजारवाद, मशीनीकरण और बदलती जीवन-शैली के प्रभाव का स्पष्ट चित्रण है। इसमें बाजार को केवल दुकान या बाजार की जगह तक सीमित नहीं रखा गया है। वहाँ बाजार व्यक्ति के घर, पहनावे, भोजन और दैनिक जीवन तक पहुँचता हुआ दिखाई देता है। इस संदर्भ में काशीनाथ सिंह का कथन है— "बाजार वह नहीं है जो सड़क पर है, दुकान में है, नुककड़ पर है, शोकेस में है... सिर के बालों से लेकर पैरों के नाखून तक ह।"[6] इस कथन से बाजार के व्यापक रूप को समझा जा सकता है। इस उपन्यास में बाजार के साथ सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रश्न भी जुड़ा

हुआ है। चूँकि भूमंडलीकरण के दौर में उपभोक्तावादी जीवन-शैली बढ़ती है और उसके साथ पारंपरिक सामुदायिक जीवन प्रभावित होती है। यहाँ अस्सी केवल एक मोहल्ला नहीं रह जाता, बल्कि बदलते भारतीय समाज का प्रतीक बन जाता है। पुरानी सामुदायिकता, संवाद, हँसी और सहजता के स्थान पर व्यस्तता, तकनीक और उपभोग का संसार विकसित होता है।

इनका दूसरा उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' भूमंडलीकरण के कारण ग्रामीण जीवन में आए बदलावों और मानवीय संबंधों में बढ़ती दूरी को प्रभावी ढंग से चित्रित करता है। रग्घू के माध्यम से गाँव और शहर के बीच बदलते जीवन को दिखाया गया है। गाँव में आधुनिक सुविधाओं का विस्तार इस परिवर्तन को स्पष्ट करता है— "गाँव में बिजली आ गई थी, केबुल की लाइनें बिछ गई थीं, अखबार लेकर हॉकर आने लगे थे। कुछ घरों में टी.वी., पंखें और फोन भी लग गए थे!"[7] इस प्रकार भूमंडलीकरण ने गाँव के जीवन को सुख-सुविधाओं से जोड़ा, परंतु उसकी पारंपरिक जीवन-शैली और सामाजिक संबंधों में भी बदलाव की प्रक्रिया शुरु हुई।

इस भूमंडलोत्तर जीवन में तकनीकी विकास दूसरी बड़ी विशेषता है। इंटरनेट, मोबाइल, ई-मेल और सोशल मीडिया ने संचार को बहुत आसान बनाया है। हिन्दी साहित्य को भी इसका लाभ मिला है। आज इंटरनेट पर हिन्दी की कहानियाँ, उपन्यास, पत्रिकाएँ, साहित्यकारों की रचनाएँ और विभिन्न साहित्यिक सामग्री उपलब्ध होने से हिन्दी साहित्य की पहुँच व्यापक हुई है। हिन्दी साहित्य का पाठक-वर्ग भौगोलिक सीमाओं से बाहर भी गया है। ई-पुस्तक, ब्लॉग, वेबसाइट और सोशल मीडिया ने साहित्य के प्रसार के नए द्वार खोले हैं। फिर भी तकनीक का प्रभाव केवल सकारात्मक नहीं है। यह संबंधों की प्रकृति को भी बदलती है। 'दौड़' उपन्यास में इंटरनेट, कंप्यूटर और ई-मेल के माध्यम से पारिवारिक संबंधों के संचालित होने का चित्रण है। इस स्थिति में मनुष्य दूर बैठे व्यक्ति से तुरंत संपर्क कर सकता है, लेकिन उसके निकट रहने वाले व्यक्ति के लिए समय का अभाव हो सकता है। यही भूमंडलोत्तर जीवन की एक महत्त्वपूर्ण विडंबना है।

हिन्दी की भाषा-शैली पर भी भूमंडलीकरण का प्रभाव पड़ा है। हिन्दी के साथ अंग्रेजी और सामान्य बोलचाल की भाषा का मिश्रण बढ़ने से हिन्दी साहित्य ने नई भाषिक शैली ग्रहण की है। गीत चतुर्वेदी की 'सिमसिम' जैसी कहानी में कंप्यूटर, जी-मेल और ऑनलाइन संवाद का प्रवेश इस बदलाव को रचनात्मक रूप में सामने लाता है। स्पष्ट है कि समकालीन कथा-साहित्य का संसार अब केवल घर, गाँव और शहर तक सीमित नहीं है, बल्कि उसका एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा डिजिटल जीवन से भी निर्मित हो रहा है।

भूमंडलीकरण ने स्त्री जीवन में भी नए अवसर और नई चुनौतियों को जन्म दिया है। शिक्षा, रोजगार और तकनीकी विकास ने स्त्रियों को आत्मनिर्भरता और स्वतंत्रता के नए अवसर दिए हैं। दूसरी ओर बाजार और विज्ञापन ने स्त्री को उपभोग की वस्तु के रूप में भी प्रस्तुत किया है। इसलिए समकालीन हिन्दी कथा साहित्य में स्त्री की स्थिति को केवल स्वतंत्रता या केवल शोषण के एक पक्ष से समझना पर्याप्त नहीं है। स्त्री की बदलती भूमिका, रोजगार, आत्मनिर्भरता, दांपत्य संबंध और बाजार, इन सभी को साथ रखकर देखने की आवश्यकता है। 'दौड़' उपन्यास में स्टैला के माध्यम से स्त्री की स्वतंत्रता, नौकरी और आधुनिक जीवन के प्रश्नों को भी रेखांकित किया गया है।

ग्रामीण और आदिवासी जीवन पर भूमंडलीकरण का प्रभाव और अधिक जटिल दिखाई देता है। रणेंद्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। इसमें भूमण्डलीकरण के कारण असुर आदिवासी समुदाय के विस्थापन, भूमि-अधिग्रहण, खनन और सांस्कृतिक संकट को रेखांकित किया गया है। उपन्यास में विकास के नाम पर होने वाली आर्थिक गतिविधियों और आदिवासी जीवन के बीच तनाव को दिखाया है। बड़े उद्योगों और खनन गतिविधियों का विस्तार केवल जमीन में परिवर्तन नहीं लाता, बल्कि उससे जुड़ी भाषा, संस्कृति और जीवन-पद्धति भी प्रभावित होती है। इसमें विस्थापन का मुद्दा विशेष रूप से उभरा है। विकास के नाम पर पुनर्वास और मुआवजे

का आश्वासन तो दिया जाता है, लेकिन उसका वास्तविक लाभ विस्थापित लोगों तक पर्याप्त रूप में नहीं पहुँचता। देखें तो आदिवासी जीवन के संदर्भ में भूमंडलीकरण का प्रश्न केवल आर्थिक नहीं, सांस्कृतिक भी है। इसलिए जंगल, पहाड़, नदी और जमीन आदिवासी जीवन के लिए प्राकृतिक संसाधन के साथ ही उनकी संस्कृति और सामुदायिक पहचान के हिस्सा भी हैं। इस उपन्यास में प्रकृति के साथ आदिवासी जीवन की गहरी निकटता तथा भूमंडलीकरण, पूँजीवाद और आदिवासी जीवन के संघर्ष का चित्रण है। स्पष्ट है कि आधुनिक वैश्विक बाजार के विस्तार से प्राकृतिक संपदा और सांस्कृतिक जीवन पर दबाव ही बढ़ता है। आज भूमंडलीकरण से वास्तविक गाँव का विस्तार नहीं, बल्कि संकुचित हो रहा है। यही भूमंडलोत्तर ग्रामीण जीवन का यथार्थ है।

स्पष्टतः बाजारवाद और उपभोक्तावाद समकालीन हिन्दी कथा साहित्य की केंद्रीय चिंता रही है। बाजार सुविधा देता है, लेकिन वह इच्छाओं को भी लगातार बढ़ाता है। वस्तुओं की उपलब्धता बढ़ती है, लेकिन संतुष्टि आवश्यक रूप से नहीं बढ़ती। प्रदीप सौरभ का 'मुन्नी मोबाइल' और अलका सरावगी का 'एक ब्रेक के बाद' भी भूमंडलीय जीवन के बदलते रूपों को रेखांकित करने वाला महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इन दोनों उपन्यासों को भूमंडलीय व्यापार जगत, मोबाइल क्रांति, बहुराष्ट्रीय कंपनियों, प्रबंधन, आर्थिक संस्कृति, कला बाजार और नई पीढ़ी के बदलते जीवन से जोड़ा जा सकता है। एक प्रकार से कहें तो समकालीन हिन्दी उपन्यासों में कार्यालय, व्यावसायिक जगत, मोबाइल, मीडिया और बाजार कहानी के परिवेश का हिस्सा बन चुके हैं।

इस बदलते परिवेश से भाषा और मानवीय संबंध अछूता नहीं है। व्यक्ति की पहचान अब केवल उसके परिवार या समुदाय से निर्धारित नहीं होती, बल्कि उसका पेशा, संस्थान, आर्थिक स्थिति और डिजिटल उपस्थिति भी उसकी पहचान का हिस्सा बनते हैं। यही कारण है कि भूमंडलोत्तर हिन्दी कथा साहित्य में व्यक्ति का अकेलापन एक महत्त्वपूर्ण समस्या बनकर सामने आता है। वह अनेक लोगों से जुड़ा हुआ है, फिर भी आत्मीय स्तर पर अकेला हो सकता है। यह विरोधाभास आधुनिक जीवन का महत्त्वपूर्ण यथार्थ है।

वस्तुतः भूमंडलीकरण का अर्थ केवल संकट के रूप में नहीं देख जा सकता। इससे तकनीकी विकास, सूचना की गति, शिक्षा और रोजगार के नए अवसर तथा साहित्य के वैश्विक प्रसार के रास्ते खुले हैं। हिन्दी साहित्य के संदर्भ में इंटरनेट और डिजिटल माध्यमों ने साहित्य को नए पाठकों तक पहुँचाया है। इसलिए हिन्दी कथा साहित्य भूमंडलीकरण को केवल नकारात्मक प्रक्रिया के रूप में नहीं देखता। वह उसके अवसरों और संकटों दोनों को पहचानता है। उसकी मूल चिंता यह है कि विकास और सुविधा के साथ मनुष्य की संवेदना और सामाजिक संबंध भी सुरक्षित रहें। कुल मिलाकर भूमंडलीकरण अब एक द्वंद्वात्मक स्थिति उत्पन्न कर दी है। नरेश भार्गव कहते हैं- "जहाँ वैश्वीकरण एकीकृत दृष्टिकोणों का प्रतीक है वहाँ स्थानीय संस्कृति, समाज, नृजातीयता पहचान के प्रश्न बहुत्ता स्वरूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह एक द्वंद्वात्मक स्थिति है।"

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि उक्त विषय के संदर्भ में काशीनाथ सिंह, ममता कालिया, चित्रा मुद्गल, अलका सरावगी, प्रदीप सौरभ और रणेंद्र जैसे रचनाकारों का साहित्य महत्त्वपूर्ण है। इनकी रचनाओं में भूमंडलीकरण कोई अमूर्त विचार नहीं, बल्कि रोजमर्रा के जीवन में उपस्थित यथार्थ से है। कहीं यह नौकरी और भविष्य की चिंता के रूप में सामने आता है, कहीं बाजार और विज्ञापन के रूप में, कहीं परिवार और वृद्धों के अकेलेपन के रूप में, तो कहीं जमीन, जंगल और विस्थापन के संकट के रूप में।

**निष्कर्ष :** भूमंडलोत्तर हिन्दी कथा साहित्य बदलते भारतीय समाज का यथार्थ व संवेदनशील दस्तावेज है। इसमें आर्थिक उदारीकरण और बाजार के विस्तार से पैदा हुए नए अवसरों के साथ उनसे जुड़े सामाजिक और मानवीय प्रश्न भी दिखाई देते हैं। ममता कालिया का 'दौड़' रोजगार, बाजारवाद और पारिवारिक संबंधों में आए बदलाव को सामने लाता है। 'काशी का अस्सी' बदलती सांस्कृतिक चेतना और बाजार के बढ़ते प्रभाव को अभिव्यक्त करता है। 'ग्लोबल

गाँव के देवता' भूमंडलीकरण के बीच आदिवासी जीवन, विस्थापन, प्राकृतिक संसाधनों और सांस्कृतिक पहचान जैसे विषयों का उजागर करता है। वहीं 'मुन्नी मोबाइल' और 'एक ब्रेक के बाद' तकनीक, मोबाइल, व्यावसायिक जगत और बाजार से निर्मित नए और बदलते जीवन-परिवेश की ओर संकेत करते हैं।

इस प्रकार भूमंडलोत्तर यथार्थ को केवल आर्थिक परिवर्तन के रूप में समझना उचित नहीं होगा। यह मनुष्य के जीवन-मूल्यों, संबंधों, इच्छाओं और पहचान में आए बदलाव का स्पष्ट संकेत भी है। देखें तो, आज मनुष्य के पास संचार के अधिक साधन हैं, लेकिन आत्मीय संवाद की चुनौती भी है। उसके पास अधिक वस्तुएँ हैं, लेकिन संतुष्टि का प्रश्न भी है; उसके पास अधिक अवसर हैं, लेकिन परिवार और सामाजिक जिम्मेदारी का प्रश्न भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी कथा साहित्य इसी द्वंद्व को संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त करता है।

अतः भूमंडलीकरण को समझने के लिए यह देखना आवश्यक है कि उसके बीच मनुष्य का जीवन किस प्रकार बदल रहा है। साहित्य का महत्त्व इसी में है कि वह आर्थिक आँकड़ों के पीछे छिपे मनुष्य के सुख-दुःख, अकेलेपन, संघर्ष, आकांक्षाओं और संवेदनाओं को सामने लाकर समाज को देखने की एक नई दृष्टि प्रदान करता है। इसी दृष्टिकोण से भूमण्डलोत्तर हिन्दी कथा साहित्य अपने समय के सामाजिक ओर मानवीय यथार्थ का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है।

**संदर्भ सूची :**

1. दुबे, अभय कुमार. भारत का भूमंडलीकरण, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, संस्करण, 2003, पृ. 27.
2. जयचंद्रन, आर. (सं.) शोध दर्पण, भूमंडलीकरण पर केंद्रित विशेषांक : तिरुवनंतपुरम, 2021, पृ. 7.
3. वही, पृ. 86.
4. वही, पृ. 86.
5. वही, पृ. 87.
6. सिंह, काशीनाथ. काशी का अस्सी, नई दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, तेरहवाँ संस्करण, 2017, पृ. 142.
7. सिंह, काशीनाथ. रेहन पर रग्घू, नई दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पाँचवाँ संस्करण, 2017, पृ. 61.
8. भार्गव, नरेश. वैश्वीकरण : समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, जयपुर : रावत पब्लिकेशन्स, 2014, पृ. 234.

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-188-192

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 188-192
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**दीपक कुमार चौधरी**
शोधार्थी, हिंदी विभाग,
आईसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग

**शोध-निर्देशक :**

**डॉ. ओम प्रकाश दास**
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, आईसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग

Corresponding Author :

**दीपक कुमार चौधरी**
शोधार्थी, हिंदी विभाग,
आईसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग

## ओमप्रकाश वाल्मीकि : दलित चेतना के सशक्त साहित्यकार

**सारांश :** ओमप्रकाश वाल्मीकि हिंदी दलित साहित्य के उन प्रमुख रचनाकारों में हैं, जिन्होंने दलित जीवन के भोगे हुए यथार्थ को साहित्य की मुख्य धारा में प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया। उनकी रचनाओं में जाति-व्यवस्था, सामाजिक भेदभाव, आर्थिक अभाव, बेगार, अपमान, शिक्षा का अभाव, स्वाभिमान, आत्मसम्मान और सामाजिक समानता जैसे प्रश्न बार-बार सामने आते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य केवल पीड़ा का वर्णन नहीं करता, बल्कि पीड़ा के विरुद्ध चेतना और संघर्ष का स्वर भी विकसित करता है। उनकी कविताओं में आक्रोश और परिवर्तन की अभिलाषा दिखाई देती है, तो कहानियों में सामाजिक यथार्थ और मानवीय संबंधों की जटिलता सामने आती है। उनकी आत्मकथा 'जूठन' दलित जीवन की यातना, संघर्ष और आत्मसम्मान का अत्यंत मार्मिक दस्तावेज है। वाल्मीकि स्वयं अपने लेखन में जातीय अनुभव की केंद्रीय भूमिका को स्वीकार करते हैं। उनकी रचनाधर्मिता का मूल आधार उनका अपना जीवनानुभव और सामाजिक परिवेश है। इस दृष्टिकोण से उनका साहित्य केवल व्यक्तिगत अनुभव नहीं रह जाता, बल्कि व्यापक दलित समाज की पीड़ा और संघर्ष की अभिव्यक्ति बन जाता है। स्वतंत्रता के बाद भी दलित वर्ग की पीड़ा पूर्णतः समाप्त नहीं हुई है। वे आज भी अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं। प्रस्तुत आलेख में ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्य में व्यक्त दलित चेतना, सामाजिक यथार्थ, स्वाभिमान, शिक्षा, आत्मसम्मान, मानवीयता और परिवर्तन की आकांक्षा को सरल एवं सहज रूप में समझने का प्रयास किया गया है।

**बीज शब्द :** ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य, दलित चेतना, जूठन, जाति-व्यवस्था, सामाजिक न्याय, स्वाभिमान, आत्मसम्मान।

**मूल आलेख :** हिंदी साहित्य में दलित चेतना का विकास सामाजिक यथार्थ की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। लंबे समय तक साहित्य में समाज के वंचित और शोषित वर्गों की उपस्थिति सीमित रही है। दलित जीवन को लेकर अनेक रचनाएँ लिखी गईं, लेकिन जब दलित रचनाकारों ने

स्वयं अपने अनुभवों को साहित्य में अभिव्यक्ति देना शुरु किया, तब साहित्य के स्वरूप और दृष्टि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। दलित साहित्य ने उन अनुभवों व विषयों को सामने रखा जिन्हें सामाजिक व्यवस्था के कारण लंबे समय तक दबाया या अनदेखा किया जाता रहा था। इस साहित्य परंपरा में ओमप्रकाश वाल्मीकि काफी प्रसिद्ध साहित्यकार माने जाते हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य केवल किसी सामाजिक समस्या का बाहरी चित्रण नहीं करता, बल्कि वह भोगे हुए अनुभवों से निर्मित है। जाति-आधारित भेदभाव और अपमान को उन्होंने स्वयं अनुभव किया। यही कारण है कि उनके साहित्य में पीड़ा के साथ-साथ आक्रोश, प्रतिरोध और परिवर्तन की आकांक्षा भी दिखाई देती है। उनकी कविता, कहानी तथा आत्मकथा तीनों में सामाजिक यथार्थ का अलग-अलग चित्रण हुआ है। उनकी कविता भोगे हुए यथार्थ और संवेदना से निर्मित है तथा उनकी अन्य रचनाओं में जातीय अनुभव एक प्रमुख स्वर के रूप में उपस्थित है। चूँकि एक अनुभवी व्यक्ति ही भोगे हुए यथार्थ को प्रभावी तरीके से व्यक्त कर सकता है। उन्होंने इस बात को अपनी आत्मकथा में व्यक्त भी किया है- "इस पीड़ा का एहसास उन्हें कैसे होगा जिन्होंने घृणा और द्वेष की बारीक सुइयों का दर्द अपनी त्वचा पर कभी महसूस नहीं किया? अपमान जिन्हें भोगना नहीं पड़ा?"[1]

यहाँ उनके साहित्य को समझने के लिए सबसे पहले 'दलित' और 'दलित चेतना' की अवधारणा को समझना आवश्यक है। वाल्मीकि ने 'दलित' शब्द को परिभाषित किया है— "दलित शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयोग होता है जो समाज-व्यवस्था के तहत सबसे निचली पायदान पर है। वर्ण-व्यवस्था ने जिसे अछूत या अन्त्जय की श्रेणी में रखा। उसका दलन हुआ। शोषण हुआ, इस समूह को ही संविधान में अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है जो जन्मना अछूत है।"[2] स्पष्ट है कि दलित शब्द आर्थिक गरीबी के साथ ही सामाजिक व्यवस्था और ऐतिहासिक शोषण को भी इंगित करता है। दलित की समस्या केवल अभाव की समस्या नहीं है, बल्कि इसके पीछे सामाजिक भेदभाव, जातिगत ऊँच-नीच और अवसरों से वंचित करने वाली व्यवस्था भी है। इस दृष्टि से वाल्मीकि का साहित्य सामाजिक संरचना के उन पक्षों पर प्रश्न उठाता है, जिन्होंने मनुष्य-मनुष्य के बीच असमानता ला दिया है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य को व्यापक सामाजिक सरोकार से जोड़ते हुए कहते हैं— "दलित साहित्य जन साहित्य है, यानी मास लिटरेचर (Mass Literature) । सिर्फ इतना ही नहीं, लिटरेचर ऑफ एक्शन (Literature of Action) भी है जो मानवीय मूल्यों की भूमिका पर सामन्ती मानसिकता के विरुद्ध आक्रोशजनित संघर्ष है। इसी संघर्ष और विद्रोह से उपजा है दलित साहित्य।"[3] इस कथन से स्पष्ट है कि वाल्मीकि के लिए दलित साहित्य केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति नहीं है। वह समाज में परिवर्तन की इच्छा से जुड़ा साहित्य है। उसमें मनुष्य की गरिमा, समानता और न्याय का प्रश्न प्रमुख है। इसीलिए उनके साहित्य में केवल दुःख और करुणा नहीं, बल्कि संघर्ष और प्रतिरोध भी दिखाई देता है। उनकी रचनाधर्मिता की सबसे बड़ी शक्ति उनका अपना अनुभव है। उनके लिए जाति कोई सैद्धांतिक विषय नहीं, बल्कि जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव है। वे स्वयं अपने लेखन के संदर्भ में कहते हैं— "मेरी रचना प्रक्रिया में जातीय दंश बहुत गहरे हैं। मुझे यह कहने में या स्वीकार कर लेने में भी कोई गुरेज दिखाई नहीं देता कि मेरे लेखन में चाहे कविता हो, कहानी या आत्मकथा हो सभी जगह यह स्वर प्रमुख है।"[4] इस कथन से उनके पूरे साहित्य को समझने का दृष्टिकोण मिलता है। उनकी कविता में जाति-व्यवस्था के प्रति आक्रोश, कहानी में सामाजिक संबंधों की जटिलता और जूठन में व्यक्तिगत तथा सामूहिक पीड़ा, इन सबके पीछे वही जातीय अनुभव दिखता है। कहानियों के संबंध में वे अपने परिवेश की भूमिका स्वीकार करते हुए कहते हैं— "मेरा पालन-पोषण जिस वातावरण में हुआ, वहाँ सामाजिक ढ़ांचा पूरी तरह सामंतवादी, ब्राह्मणवादी और वर्ण-व्यवस्था पर खड़ा हुआ था। सामाजिक जीवन की जो नारकीयता एक दलित को भोगनी पड़ती है उसका अनुभव भुक्तभोगी ही जान सकता है। शायद वही अनुभव मेरी कहानियों के लिए खाद-पानी का काम कर रहे थे।"[5] स्पष्ट है कि वाल्मीकि की कहानियों का यथार्थ

कल्पना से निर्मित नहीं है। वह उनके आसपास के सामाजिक जीवन से निकला है। इसीलिए उनकी कहानियों में पात्र, परिस्थितियाँ और संघर्ष जीवन के बहुत निकट दिखाई देते हैं। वे समाज के उन हिस्सों को सामने लाते हैं जिनसे सामान्य पाठक कई बार परिचित नहीं होता।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' दलित जीवन का मार्मिक दस्तावेज तथा हिंदी दलित साहित्य की अत्यंत महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें बाल्यकाल से लेकर जीवन के अनेक अनुभवों तक जातिगत अपमान, गरीबी, सामाजिक भेदभाव और संघर्ष का चित्रण मिलता है। इस रचना में सबसे मार्मिक पक्ष भोजन और सम्मान के बीच संबंध को लेकर सामने आता है। इसमें दलित वर्ग के उस सामाजिक स्थिति का मार्मिक चित्र मिलता है, जहाँ दलित परिवारों को सवर्णों के विवाह-समारोहों में बचा हुआ भोजन इकट्ठा करना पड़ता था। इसका चित्रण उन्होंने अपनी आत्मकथा में किया है— "शादी-ब्याह के मौकों पर, जब मेहमान या बाराती खाना खा रहे होते तो चूहड़े दरवाजे के बाहर बड़े-बड़े टोकरे लेकर बैठे रहते थे। बारात के खाना खा चुकने पर झूठी पत्तलें उन टोकरों में डाल दी जाती थीं, जिन्हें घर ले जाकर वे जूठन इकट्ठी कर लेते थे। पूरी के बचे-खुचे टुकड़े, एक आध मिठाई का टुकड़ा या थोड़े-बहुत सब्जी पत्तल पर पाकर बाछे खिल जाती थीं। जूठन चटखारे लेकर खाई जाती थी।"[6] यहाँ सिर्फ गरीबी का वर्णन नहीं है, बल्कि उसके भीतर एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की तस्वीर है जिसमें कुछ लोगों के लिए भोजन सम्मान और अधिकार का विषय था, जबकि दूसरे लोगों को उसी समाज में बची हुई जूठन पर निर्भर रहना पड़ता था। यह स्थिति आर्थिक विषमता के साथ-साथ सामाजिक अपमान को भी व्यक्त करती है। वहीं इस आत्मकथा में सुखदेव सिंह की कड़वी बात पर लेखक की माँ का प्रतिरोध इस पूरी व्यवस्था के विरुद्ध आत्मसम्मान की एक महत्त्वपूर्ण घटना भी सामने आती है। माँ कहती हैं— "इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देणा।"[7] जिस जूठन को कभी मजबूरी के कारण स्वीकार करना पड़ता था, उसी को माँ द्वारा ठुकरा देना आत्मसम्मान की शुरुआत है। यहाँ आर्थिक अभाव के बावजूद सम्मान को प्राथमिकता दी गई है। यही वह बिंदु है जहाँ पीड़ा धीरे-धीरे प्रतिरोध में बदलती दिखाई देती है।

दलित जीवन के संदर्भ में शिक्षा का प्रश्न वाल्मीकि के साहित्य में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। सामाजिक व्यवस्था ने केवल आर्थिक अवसरों को ही सीमित नहीं किया, बल्कि शिक्षा के रास्ते में भी अनेक बाधाएँ खड़ी कीं। सत्य है कि शिक्षा सामाजिक विकास का महत्त्वपूर्ण माध्यम है, लेकिन यह भी सत्य है कि जातिगत पूर्वाग्रहों के कारण दलित बच्चों को शिक्षा से वंचित करने के प्रयास होते रहे हैं । रचनाकार का अपना जीवन भी इस संघर्ष का उदाहरण है। उनके परिवार की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं, फिर भी शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा बनी रही। शिक्षा उनके लिए केवल नौकरी प्राप्त करने का माध्यम नहीं थी, बल्कि आत्मसम्मान और सामाजिक परिवर्तन की एक सोच भी थी। इसलिए उनके साहित्य में शिक्षा के प्रश्न जुड़ जाते हैं । चूँकि वाल्मीकि का साहित्य पाठक को केवल पीड़ा का अनुभव नहीं कराता, बल्कि प्रश्न करने की शक्ति देता है। पाठक यह सोचने के लिए बाध्य होता है कि जिस समाज में जन्म के आधार पर किसी व्यक्ति की योग्यता, सम्मान और अवसर निर्धारित किए जाएँ, उस व्यवस्था को न्यायपूर्ण कैसे माना जा सकता है।

न्यायिक दृष्टिकोण के कारण ही उनके साहित्य में आक्रोश और प्रतिरोध एक गंभीर पक्ष है, जो उनकी कविताओं स्पष्ट दिखता है। इस पक्ष में दलित चेतना सबसे अधिक मुखर और आक्रोशपूर्ण दिखाई देती है। उनकी कविताएँ जाति, गरीबी, शोषण और अपमान के विरुद्ध प्रश्न उठाती हैं। उनका काव्य-संसार केवल व्यक्तिगत दुःख का संसार नहीं है। उसमें सामूहिक पीड़ा और सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा दिखाई देती है। आर्थिक शोषण के संदर्भ में उनकी कविता 'मुट्ठीभर चावल' की यह पंक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं —

"बस्तियों से खदेड़े गए

ओ मेरे पुरखो
तुम चुप रहे उन रातों में
जब तुम्हें प्रेम करना था
आलिंगन में बाँधकर
अपनी पत्नियों को
तुम तलाशते रहे
मुट्ठीभर चावल
सपने गिरवी रखकर।"[8]

इस कविता में भूख और गरीबी को केवल आर्थिक समस्या के रूप में नहीं दिखाया । यहाँ भूख मनुष्य के निजी जीवन, प्रेम और सपनों तक को प्रभावित करती है। "सपने गिरवी रखकर" जैसी अभिव्यक्ति यह बताती है कि अभाव मनुष्य से केवल रोटी नहीं छीनता, बल्कि उसके सपनों और जीवन की इच्छाओं को भी प्रभावित करता है। उनकी कविता में श्रम करने वाले मनुष्य के प्रति सम्मान का भाव भी मिलता है। इस दृष्टिकोण से उनका साहित्य श्रम, मनुष्यता और समानता को प्रतिष्ठित करता है। वे ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जहाँ मनुष्य का मूल्य उसकी जाति से नहीं, बल्कि उसकी मनुष्यता से तय हो।

उनके साहित्य में जाति-व्यवस्था के प्रति भी स्वर मुखरित हुआ है। उनके साहित्य में जाति-व्यवस्था केवल एक सामाजिक संस्था नहीं, बल्कि असमानता और अपमान की व्यवस्था के रूप में सामने आती है। उनकी कविता इस व्यवस्था पर प्रहार करती है।—

"जाति आदिम सभ्यता का नुकीला औजार है
जो सड़क चलते आदमी को कर देता है छिनी
एक तुम हो
जो अभी तक चिपके हो जाति से।"[9]

इन पंक्तियों में जातिवाद की आलोचना अत्यंत तीखे ढंग से की गई है। जाति व्यक्ति की स्वतंत्र पहचान को सीमित करती है और मनुष्य को जन्म के आधार पर बाँटती है। वाल्मीकि इस व्यवस्था से बाहर निकलने की आवश्यकता पर बल देते हैं। उनके यहाँ जाति-विरोध केवल किसी एक वर्ग के प्रति नहीं है, अपितु मनुष्य की स्वतंत्रता और समानता की माँग है।

वाल्मीकि साहित्य को समाज से अलग करके देखने के पक्षधर नहीं हैं। उनका मानना है कि किसी रचनाकार के साहित्य को समझने के लिए उसके जीवन और अनुभवों को समझना आवश्यक है। वे इस संबंध में कहते हैं— "किसी भी रचनाकार के अनुभवों की विशिष्टता को समझने के लिए आवश्यक है कि उसके जीवन से संबंधित अन्य जानकारी भी हासिल की जाए। किसी रचनाकार को प्रेरित करने वाले मुख्य कारकों, उसके उद्देश्यों, उसके अपने निजी जीवन के अंतर्द्वंद्वों, संघर्षों को अनदेखा करके किया गया मूल्यांकन गलत निष्कर्षों को जन्म देता है।"[10] उक्त कथन दलित साहित्य को समझने में विशेष रूप से उपयोगी है। यदि दलित साहित्य को केवल सामान्य साहित्यिक मानदंडों से देखा जाए और उसके पीछे के सामाजिक अनुभवों की उपेक्षा कर दी जाए, तो उसकी संवेदना और उद्देश्य को पूरी तरह समझ पाना मुश्किल होगा। वाल्मीकि की दृष्टि में रचना और रचनाकार का जीवन एक-दूसरे से पूरी तरह अलग नहीं हैं।

इस कड़ी में वाल्मीकि के साहित्य की एक बड़ी विशेषता उसकी सहज और जीवन के निकट भाषा-शैली है। 'जूठन' में उनकी भाषा आम जन को आसानी से समझ में आने वाली है और वह सामाजिक सरोकारों से जुड़ी हुई है। एक

प्रकार से उनकी भाषा सीधी, सरल और बोलचाल के निकट है तथा उसमें जीवन की वास्तविकता को व्यक्त करने की क्षमता है। उनके साहित्य में व्यक्त पीड़ा सीधे पाठक तक पहुँचती है। वे जिस समाज और जीवन की बात करते हैं, उसकी भाषा भी उसी समाज के अनुभवों से निकलती है। इसी कारण उनका साहित्य अधिक प्रभावशाली और विश्वसनीय है।

यद्यपि वाल्मीकि के साहित्य में जातिगत शोषण के विरुद्ध कटु स्वर तो है, पर उसका अंतिम उद्देश्य केवल विरोध करना नहीं है। उसके केंद्र में मनुष्य और मनुष्यता है। उनके साहित्य में समानता, आत्मसम्मान और सामाजिक न्याय की आकांक्षा दिखाई देती है। इस दृष्टि से दलित चेतना केवल दलितों की पीड़ा को व्यक्त करने वाली चेतना नहीं है, बल्कि वह ऐसे समाज की खोज है जहाँ मनुष्य को मनुष्य के रूप में सम्मान मिले। उनकी रचनाओं में गैर-दलित और दलित पात्रों के बीच मानवीय संबंधों के उदाहरण भी मिलते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वाल्मीकि की दृष्टि केवल विभाजन की नहीं है। वे जातिगत भेदभाव का विरोध करते हुए मानवीय संबंधों की संभावनाओं को भी सामने रखते हैं। इस प्रकार उनका साहित्य सामाजिक संघर्ष के साथ-साथ बेहतर समाज की कल्पना भी करता है।

**निष्कर्ष :** वस्तुतः ओमप्रकाश वाल्मीकि हिंदी दलित साहित्य के ऐसे सशक्त रचनाकार हैं जिन्होंने अपने जीवनानुभवों को व्यापक सामाजिक अनुभव में बदल दिया। उनकी रचनाओं में जातिगत अपमान, आर्थिक अभाव, बेगार, शिक्षा व्यवस्था और सामाजिक असमानता का यथार्थ चित्रण मिलता है, लेकिन वे केवल पीड़ा के लेखक नहीं हैं। उनकी रचनाओं में प्रतिरोध, आत्मसम्मान, संघर्ष और परिवर्तन की चेतना भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। उनकी कविता में आक्रोश है, लेकिन वह आक्रोश मनुष्यता के पक्ष में है। उनकी कहानियों में यथार्थ है, लेकिन वह यथार्थ सामाजिक बदलाव की आवश्यकता की ओर संकेत करता है। 'जूठन' में व्यक्तिगत जीवन की पीड़ा है, लेकिन वह पूरी दलित अस्मिता और संघर्ष की व्यापक कथा बन जाती है।

अतः ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य दलित जीवन के यथार्थ का दस्तावेज होने के साथ-साथ सामाजिक चेतना का साहित्य भी है। उन्होंने साहित्य के माध्यम से उन प्रश्नों को सामने रखा जिन्हें लंबे समय तक उपेक्षित रखा गया। उनका साहित्य हमें यह सोचने के लिए प्रेरित करता है कि किसी भी सभ्य समाज की पहचान केवल उसकी उपलब्धियों से नहीं, बल्कि इस बात से होती है कि वह अपने सबसे वंचित व्यक्ति या वर्ग को कितना सम्मान, अधिकार और समान अवसर देता है। इसी दृष्टिकोण से ओमप्रकाश वाल्मीकि हिंदी साहित्य में दलित चेतना के सशक्त साहित्यकार के रूप में महत्त्वपूर्ण हैं।

**संदर्भ सूची :**

1. वाल्मीकि, ओमप्रकाश. जूठन. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, छठी आवृत्ति , 2012, पृ. 62.
2. वाल्मीकि, ओमप्रकाश. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 2014, पृ. 14.
3. वही, मुखपृष्ठ से.
4. वाल्मिकी ओमप्रकाश, दलित साहित्यः अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 2013, पृ. 21.
5. वही, पृ. 21.
6. वाल्मीकि, ओमप्रकाश. जूठन. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, छठी आवृत्ति , 2012, पृ. 19-20.
7. वही, पृ. 21.
8. वाल्मिकी, ओमप्रकाश. बस्स! बहुत हो चुका. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 14.
9. वाल्मीकि, ओमप्रकाश. अब और नहीं.... नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 2009, पृ. 20.
10. वाल्मीकि, ओमप्रकाश. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 2014, पृ. 100-101.

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-193-197

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 193-197
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. रघुनंदन हजाम**

विभागाध्यक्ष, हिंदी, सरिया कॉलेज, सरिया, गिरीडीह (झारखण्ड)

Corresponding Author :

**डॉ. रघुनंदन हजाम**

विभागाध्यक्ष, हिंदी, सरिया कॉलेज, सरिया, गिरीडीह (झारखण्ड)

## भारतीय संस्कृति में प्रकृति प्रेम

**सारांश :** भारतीय संस्कृति का प्रकृति के साथ अत्यंत प्राचीन, आत्मीय और गहरा संबंध रहा है। प्रत्येक भारतीय अपनी संस्कृति के साथ-साथ प्रकृति से बेहद प्रेम करते हैं। भारतीय जीवन-दृष्टि में प्रकृति को केवल मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला साधन नहीं माना गया, बल्कि उसे जीवन का सहचर, पालनकर्ता और संवेदना का आधार समझा गया है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, नदी, समुद्र, पहाड़, वृक्ष, वनस्पति, पशु-पक्षी आदि प्रकृति के अंग हैं। भारतीय संस्कृति में इन सभी के प्रति विशेष सम्मान है। वैदिक साहित्य में पृथ्वी को माता मानने की भावना से लेकर वृक्षों और नदियों के प्रति श्रद्धा, लोकजीवन में ऋतु और कृषि से जुड़े पर्व-त्योहार, लोकगीतों में पेड़-पौधों तथा जलस्रोतों का चित्रण और आदिवासी जीवन में जल, जंगल और जमीन के साथ आत्मीय संबंध— इन सभी में प्रकृति-प्रेम के विविध रूप दिखाई देते हैं। प्रकृति अथवा पर्यावरण का मानव-जीवन के सभी पक्षों पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए प्रकृति के विवेकपूर्ण उपयोग के साथ उसका संरक्षण और संवर्धन भी आवश्यक है। आधुनिक समय में औद्योगीकरण, शहरीकरण, उपभोक्तावाद और प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन के कारण पर्यावरणीय संकट गंभीर हुआ है। ऐसे समय में भारतीय संस्कृति की प्रकृति-केंद्रित जीवन-दृष्टि विशेष रूप से प्रासंगिक हो जाती है। प्रस्तुत आलेख में भारतीय संस्कृति में प्रकृति-प्रेम की वैचारिक, लोक-सांस्कृतिक, साहित्यिक और पर्यावरणीय अभिव्यक्तियों का स्पष्ट विवेचन किया गया है।

**बीज शब्द :** भारतीय संस्कृति, प्रकृति प्रेम, पर्यावरण, वृक्ष, नदी, जल, लोकजीवन, लोकसंस्कृति, प्रकृति चेतना, संरक्षण, मूल्य।

**मूल आलेख :** पूरे विश्व में भारतीय संस्कृति का एक अलग पहचान है। यहाँ की संस्कृति सबसे प्राचीन और समृद्ध है। प्रकृति-प्रेम अथवा पर्यावरण संरक्षण की भावना हमारी संस्कृति में प्राचीन काल से ही विद्यमान रही है। इसलिए भारतीय संस्कृति को समझने के लिए प्रकृति के साथ उसके संबंध को समझना आवश्यक है। भारत का सामाजिक

और सांस्कृतिक जीवन आरंभ से ही प्रकृति के विभिन्न रूपों के बीच विकसित हुआ है। यहाँ मनुष्य का जीवन खेत, जंगल, नदी, पर्वत, वर्षा, ऋतु, पशु-पक्षियों आदि से जुड़ा रहा है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में प्रकृति केवल बाहरी संसार का हिस्सा नहीं है, बल्कि वह जीवन और संस्कृति की आधारभूमि है। जन्म से मृत्यु तक के संस्कारों, पर्व-त्योहारों, लोकगीतों, लोकविश्वासों, धार्मिक परंपराओं, कृषि-व्यवस्था और साहित्य में प्रकृति की उपस्थिति सहज रूप से दिखाई देती है। प्रकृति के प्रति यह आत्मीय संबंध भारतीय संस्कृति को अन्य सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ एक विशिष्ट पहचान दिलाती है।

प्राचीन भारतीय चिंतन में प्रकृति और मनुष्य को अलग-अलग नहीं देखा गया। कहा गया है—"भारतीय संस्कृति मानव और प्रकृति के बीच एक अटूट रिश्ता कायम करती है, क्योंकि यहाँ प्रकृति के प्रत्येक अंग को देवता तुल्य मानकर उसकी पूजा अर्चना की जाती है।"[1] यह कथन भारतीय प्रकृति-दृष्टि के मूल स्वर को सामने रखता है। मनुष्य प्रकृति का स्वामी नहीं, बल्कि उसका सहभागी होता है। प्रकृति उसके जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करती है और मनुष्य से अपेक्षा करती है कि वह उसके साथ संतुलन बनाए रखे। इसलिए प्रकृति के प्रति प्रेम का अर्थ केवल उसके सौंदर्य की प्रशंसा करना नहीं, बल्कि उसके प्रति कृतज्ञता और जिम्मेदारी का भाव रखना भी है। यहाँ की संस्कृति में पृथ्वी के प्रति मातृभाव सबसे सुंदर उदाहरण है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में पृथ्वी के प्रति आत्मीय संबंध को व्यक्त करते हुए लिखा गया है— "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।"[2] पृथ्वी माता और मनुष्य उसका पुत्र है, तो पृथ्वी का संरक्षण मनुष्य का नैतिक दायित्व बन जाता है। यहाँ प्रकृति के साथ संबंध केवल उपयोग का नहीं, बल्कि परिवार और आत्मीयता का संबंध है। यही भावना आगे चलकर भूमि, जल, वृक्ष और अन्य प्राकृतिक तत्वों के प्रति सम्मान में दिखाई देती है।

भारतीय संस्कृति में जल को भी जीवन का आधार माना गया है। जल अमृत के समान और जीवनदायी है। उसी संदर्भ में वायु को देवता के रूप में पूजने तथा वृक्षों में देवताओं का वास मानने की बात कही गई है। वृक्ष मनुष्य को औषधि, भोजन और शुद्ध वायु प्रदान करते हैं। इस प्रकार प्रकृति के प्रत्येक तत्व में उपयोगिता के साथ-साथ श्रद्धा और भावनात्मक संबंध भी जुड़ जाता है। भावनात्मक संबंध के कारण ही प्रकृति के प्रति संरक्षण की भावना पैदा होती है। जब किसी नदी को माता कहा जाता है, किसी वृक्ष को पूजनीय माना जाता है या किसी पशु को देवता के वाहन के रूप में सम्मान दिया जाता है, तब उसके प्रति मनुष्य की दृष्टि केवल उपभोग की नहीं रह जाती। मनुष्य में स्वाभाविक रूप से उसके प्रति सम्मान और रक्षा की भावना विकसित होती है। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता आज के पर्यावरणीय संकट में विशेष अर्थ रखती है।

भारतीय धार्मिक और लोकपरंपराओं में पीपल, बरगद, नीम, तुलसी, बेल, चंदन, आम आदि पेड़-पौधों का प्रेम और श्रद्धा के रूप में विशेष महत्त्व है। वृक्षों को केवल लकड़ी या फल देने वाला साधन न मानकर जीवन के सहायक के रूप में देखा जाता है। वृक्षों की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए मत्स्यपुराण में "दस पुत्रों के बराबर एक वृक्ष"[3] माना गया है, साथ ही वृक्ष लगाने के महत्त्व को भी रेखांकित किया गया है। यहाँ वृक्ष पारिवारिक और नैतिक मूल्य का परिचायक है। पौधे लगाना केवल पर्यावरणीय काम नहीं, बल्कि पुण्य और सामाजिक जिम्मेदारी का कार्य माना गया है। यहाँ वृक्षों के प्रति यह सम्मान अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक रूपों में दिखाई देता है। पीपल को पूजनीय माना गया, बरगद के साथ अनेक लोकविश्वास जुड़े हैं। वहीं तुलसी का पौधा भारतीय घर के आँगन में प्रकृति की उपस्थिति का प्रतीक है। तुलसी में औषधीय गुणों तथा हवा को शुद्ध करने की भी अद्भुत क्षमता है। एक प्रकार से यहाँ की विभिन्न वनस्पतियाँ सांस्कृतिक महत्त्व के साथ औषधीय गुणों के दृष्टिकोण से काफी उपयोगी हैं। प्रकृति मनुष्य को रंग, रूप, ध्वनि और लय देती है। फूलों और पत्तियों से सजावट, वर्षा और वसंत से जुड़े उत्सव तथा खुले प्राकृतिक वातावरण में सांस्कृतिक कार्यक्रम इसी जीवन-दृष्टि के उदाहरण हैं। स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति में प्रकृति का संबंध धार्मिक जीवन, घरेलू जीवन, स्वास्थ्य, सामाजिक व्यवहार आदि से जुड़ा हुआ है।

भारतीय त्योहारों में भी प्रकृति की उपस्थिति व्यापक है। भारत कृषि प्रधान देश है, जहाँ के ग्रामीण जमीन से जुड़े हुए हैं। इस समाज में त्योहार केवल धार्मिक आयोजन नहीं होते, बल्कि वे बदलते ऋतुओं, वर्षा, फसल, जल, मिट्टी और सामुदायिक जीवन से जुड़े होते हैं। इस संदर्भ में स्पष्ट कथन है—"भारत में मनाया जाने वाला प्रत्येक त्योहार फसलों, फलों, फूलों, दालों, अनाजों, जल, मिट्टी, नदियों, पहाड़, पशु, पक्षी जैसी अनेक चीजों को सुरक्षित एवं संरक्षित करने के लिए मनाया जाता है। तथा इन्हें किसी न किसी देवी-देवता की पूजा अर्चना से जोड़ा जाता है।"[4]

पशु-पक्षियों के प्रति सम्मान भी भारतीय प्रकृति-प्रेम का महत्वपूर्ण हिस्सा है। भारतीय संस्कृति में अनेक पशु-पक्षियों को देवी-देवताओं के वाहनों से जोड़ा गया है। सिंह, बैल, हाथी, चूहा, हंस, सर्प, बंदर आदि विभिन्न सांस्कृतिक प्रतीकों के रूप में सामने आते हैं। ऐसे प्रतीकों से भारतीय संस्कृति में जीव-जन्तु के प्रति प्रेम-भाव का पता चलता है।

प्रकृति-प्रेम का यह भाव भारतीय लोकजीवन में और अधिक सहज दिखाई देता है। लोकजीवन में मनुष्य का दैनिक जीवन सीधे प्रकृति से जुड़ा है। खेती, पशुपालन, वर्षा, फसल, मिट्टी, नदी, पहाड़, जंगल आदि लोकजीवन के अभिन्न अंग रहे हैं। लोकगीतों में ऋतुओं का वर्णन, वर्षा की प्रतीक्षा, फसल की खुशी, पेड़-पौधों की छाया और पशु-पक्षियों की आवाजें जीवन के सामान्य अनुभवों के रूप में आती हैं। डॉ. राम नरेश त्रिपाठी के अनुसार— "ग्राम गीत प्रकृति के उद्धगार हैं। इसमें अलंकार नहीं केवल रस है, छंद नहीं केवल लय है, लालित्य नहीं केवल माधुर्य है। सभी मनुष्यों के स्त्री-पुरुषों के मध्य में ह्रदय नामक आसन पर बैठकर प्रकृति गान करती है। प्रकृति के वे ही गान ग्राम्य गीत हैं।"[5] आगे और भी स्पष्ट करते हुए लिखते हैं— "प्रकृति के गान में मनुष्य इस प्रकार प्रतिबिंबित होता है- जैसे कविता में कवि, क्षमा में मनोबल और तपस्या में त्याग। प्रकृति संगीतमय है। लोकगीत प्रकृति के उसी महासंगीत के अंश है।"[6] लोकगीत इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि वे किसी कठिन दार्शनिक भाषा में नहीं, बल्कि सामान्य जन की अपनी भाषा में प्रकृति के साथ उसके संबंध को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार प्रकृति जीवन की पृष्ठभूमि मात्र नहीं, बल्कि लोकसंस्कृति के निर्माण की सक्रिय शक्ति है। लोकगीतों और लोककथाओं में प्रकृति की बार-बार उपस्थिति इसी संबंध को प्रमाणित करती है।

इसी संदर्भ में भारत की भौगोलिक और सांस्कृतिक विविधता को समझाते हुए कहा गया है—"कोस-कोस पर बदले पानी—चार कोस पर बानी।"[7] यह कथन भारतीय जीवन में स्थानीय प्रकृति और संस्कृति के संबंध को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है। अलग-अलग क्षेत्रों की मिट्टी, जलवायु, जलस्रोत और कृषि-व्यवस्था ने वहाँ के खान-पान और लोकाचार को प्रभावित किया है। इसलिए भारत की सांस्कृतिक विविधता को उसकी प्राकृतिक विविधता से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

भारतीय संस्कृति का प्रकृति-प्रेम आदिवासी जीवन में और अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। आदिवासी समाज का जीवन लंबे समय से जल, जंगल और जमीन के साथ जुड़ा रहा है। जंगल उसके लिए केवल लकड़ी या अन्य संसाधनों का स्रोत नहीं है, बल्कि जीवन, संस्कृति, आजीविका और सामुदायिक पहचान का आधार है। जलस्रोतों, पर्वतों, पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों के साथ उसका संबंध अनुभव और परंपरा के माध्यम से विकसित हुआ है। इसीलिए आदिवासी लोकगीतों और लोककथाओं में प्रकृति का उल्लेख केवल सजावटी रूप में नहीं, बल्कि जीवन के अभिन्न हिस्से के रूप में मिलता है।

प्रकृति के इस स्वरूप को साहित्य ने भी व्यापक अभिव्यक्ति दी है। हिंदी साहित्य में प्रकृति केवल सौंदर्य-वर्णन का विषय नहीं, बल्कि मनुष्य के सुख-दुःख, प्रेम, संघर्ष, संवेदना और जीवन-दर्शन की सहचरी भी रही है। कविता में बादल, वर्षा, नदी, पर्वत, फूल-पत्तियों, वन, आकाश, चंद्रमा आदि मानवीय भावनाओं के प्रतीक बनते रहे हैं। प्रकृति के माध्यम से कवि और लेखक अपने भीतर के संसार को व्यक्त करता है। भारतीय साहित्य में प्रकृति, संस्कृति और मनुष्य के भावात्मक संबंध को बड़ी संवेदनशील रूप में व्यक्त किया गया है।

इस अध्ययन में सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि प्रकृति और पर्यावरण के संबंध को केवल अतीत की परंपरा के रूप में देखना पर्याप्त नहीं होगा। वर्तमान समय में पर्यावरणीय संकट के कारण प्रकृति के प्रति जिम्मेदार दृष्टि की आवश्यकता और बढ़ गई है। औद्योगीकरण, शहरीकरण, जनसंख्या वृद्धि, जंगलों की कटाई, जल और वायु प्रदूषण तथा प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन ने मानव जीवन को प्रभावित किया है। विकास और पर्यावरण के बीच संतुलन की आवश्यकता पर बल देते हुए प्रो मीनाक्षी शर्मा ने कहा गया है—"विकास आवश्यक है किंतु पर्यावरण के मूल्यों पर नहीं।"[8] चूँकि विकास मनुष्य की आवश्यकता है, लेकिन यदि विकास की प्रक्रिया प्रकृति को नष्ट करके आगे बढ़ती है तो उसके परिणाम लंबे समय में गंभीर हो सकते हैं। यह सत्य है कि आधुनिक मनुष्य ने प्रकृति से जितना लिया है, उसके पुनर्भरण और संरक्षण पर उतना ध्यान नहीं दिया। प्रकृति को केवल संसाधन मानने वाली दृष्टि ने मनुष्य और उसके पर्यावरण के बीच संतुलन को कमजोर किया है।

आज वनों का संरक्षण विशेष रूप से आवश्यक है। जंगल केवल पेड़ों का समूह नहीं हैं। वे जल, मिट्टी, वायु, जीव-जंतुओं और मानव जीवन के संतुलन से जुड़े हैं। चिपको आंदोलन के संदर्भ में स्थानीय लोगों के जंगलों के साथ संबंध और पर्यावरणीय संतुलन की चिंता को रेखांकित किया गया है। वहाँ यह बताया गया है कि स्थानीय लोग जंगल और उसके पारिस्थितिक महत्त्व को समझते थे तथा वनों और पर्यावरण के साथ अपने संबंध को बनाए रखने के लिए संघर्ष करते रहे। स्पष्ट है कि प्रकृति-प्रेम को केवल विचार नहीं, बल्कि सामाजिक कार्रवाई का आधार भी बनाना होगा। जल-संरक्षण भी भारतीय प्रकृति-प्रेम की परंपरा से जुड़ा महत्वपूर्ण पक्ष है। जल और वृक्षों का संबंध स्पष्ट है। इसलिए जल-संरक्षण और वृक्ष-संरक्षण को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता। भारतीय संस्कृति में जल को जीवनदायी और पवित्र मानने की भावना ही जल-संरक्षण की सामाजिक चेतना को मजबूत कर सकती है। इसी प्रकार वृक्षारोपण को केवल किसी विशेष अवसर तक सीमित नहीं रखना चाहिए। वृक्ष लगाना और उसकी देखभाल करना दोनों आवश्यक हैं। पर्यावरणीय संकट के समाधान के लिए अधिक मात्रा में पेड़-पौधे लगाने से लेकर इसके मूल्य और महत्त्व को समझना अति आवश्यक है।

प्रकृति-प्रेम में संयमित उपयोग की भावना आवश्यक है, क्योंकि मनुष्य का जीवन प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर है; लेकिन प्रकृति का असीमित दोहन उचित नहीं है। कहा भी गया है—"प्रकृति तभी एक साथ देती है जब तक उसके नियमों के मुताबिक उससे लिया जाए।"[9] प्रकृति की सीमाओं को समझे बिना किया गया अत्यधिक उपयोग अंततः मनुष्य के लिए ही संकट पैदा करता है। इस संदर्भ में एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष संवेदना है। जब मनुष्य प्रकृति को अपने जीवन का हिस्सा मानता है तो अन्य जीवों के प्रति भी करुणा, प्रेम और जिम्मेदारी आवश्यक है। क्योंकि यह पृथ्वी केवल मनुष्य के लिए ही नहीं, बल्कि पशु-पक्षी, वनस्पति और अन्य जीवों के जीवन-व्यवस्था का आवश्यक अंग है। लोकसंस्कृति इस विचार को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाने का माध्यम रही है।

आज जब आधुनिक जीवन-शैली प्रकृति से दूरी बढ़ा रही है, तब लोकपरंपराओं में मौजूद इस ज्ञान को नए संदर्भ में समझना उपयोगी हो सकता है। भारतीय संस्कृति में प्रकृति-प्रेम को आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से जोड़ना भी आवश्यक है। केवल किसी वृक्ष की पूजा करना पर्याप्त नहीं है; उसके पारिस्थितिक महत्त्व को समझना भी जरूरी है। नदी को पवित्र मानने के साथ उसके जल को स्वच्छ रखना भी जरूरी है। तुलसी को पूजने के साथ उसके औषधीय और पर्यावरणीय गुणों को समझना भी आवश्यक है।

आज की शिक्षा में भी प्रकृति के साथ इस संबंध को मजबूत करने की आवश्यकता है। बच्चों और युवाओं को केवल पुस्तकों में पर्यावरण संरक्षण पढ़ाने के बजाय उन्हें पेड़-पौधों, जलस्रोतों और स्थानीय जैव-विविधता से परिचित कराया जाना चाहिए। वृक्षारोपण, जल-संरक्षण, जैविक कचरा प्रबंधन, ऊर्जा-संरक्षण, स्थानीय पर्यावरण के अध्ययन जैसी गतिविधियाँ प्रकृति-चेतना को व्यवहार से जोड़ सकती हैं। भारतीय संस्कृति में प्रकृति-प्रेम का अर्थ अतीत में लौट जाना नहीं है, बल्कि परंपरा में मौजूद जीवनोपयोगी मूल्यों को वर्तमान परिस्थितियों में समझा जाए। डॉ.

हरीश सेठी के अनुसार— "मनुष्य-जीवन के मूल्यों का भौगोलिक पर्यावरण के साथ समायोजन का संबंध है और इस समायोजन को बढ़ावा देने वाली वस्तुएँ-कार्यकलाप उच्च मूल्यों को निर्धारित करते हैं। पर्यावरण के दोहन से अंततः मनुष्य का विनाश अवश्यंभावी है। इस कारण पर्यावरण को प्रदूषण से बचाने एवं संरक्षण-परिरक्षण में ही मानव-विकास निहित है।"[10] प्रकृति के प्रति श्रद्धा, संयमित उपभोग, जल और वृक्षों का संरक्षण, जीव-जंतुओं के प्रति संवेदना, सामुदायिक जिम्मेदारी जैसे मूल्य आज भी उपयोगी हैं। आधुनिक विज्ञान हमें पर्यावरणीय संकट के कारण और समाधान समझने में सहायता देता है, जबकि संस्कृति प्रकृति के प्रति भावनात्मक और नैतिक संबंध स्थापित करने की प्रेरणा देती है। दोनों को साथ लेकर चलना अधिक उपयोगी हो सकता है। इस संदर्भ में भारतीय संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण संदेश सह-अस्तित्व का है। मनुष्य प्रकृति से अलग नहीं है। उसकी साँस वायु से, जीवन जल से, भोजन मिट्टी और वनस्पति से तथा अनेक आवश्यकताएँ पशु-पक्षियों और प्राकृतिक संसाधनों से जुड़ी हैं। इसलिए प्रकृति की रक्षा वास्तव में मनुष्य के अपने जीवन की रक्षा है। प्रकृति-प्रेम की परंपरा आज भी प्रासंगिक है।

**निष्कर्ष :** भारतीय संस्कृति में प्रकृति-प्रेम किसी एक धार्मिक विश्वास या परंपरा तक सीमित नहीं है। यह भारतीय जीवन की व्यापक संरचना में उपस्थित एक जीवन-दृष्टि है। वैदिक चिंतन में पृथ्वी को माता मानने की भावना, जल और वायु के प्रति सम्मान, वृक्षों की पूजा, नदियों के प्रति श्रद्धा, पशु-पक्षियों के प्रति संवेदना तथा लोकजीवन में ऋतु और कृषि से जुड़े पर्व इसके विभिन्न रूप हैं। लोक और सांस्कृतिक जीवन में तुलसी, वृक्ष, जल, फसल, ऋतु आदि के प्रति जुड़ी परंपराएँ इस संबंध को व्यवहार में व्यक्त करती है। अतः भारतीय संस्कृति में प्रकृति-प्रेम को केवल अतीत की सांस्कृतिक विरासत मानकर छोड़ना उचित नहीं होगा। आज आवश्यकता है कि इस भावना को वृक्षारोपण, जल-संरक्षण, जैव-विविधता की रक्षा, संयमित उपभोग और पर्यावरणीय जिम्मेदारी से जोड़ा जाए। प्रकृति के प्रति प्रेम तभी सार्थक होगा जब वह हमारे व्यवहार में दिखाई दे। पृथ्वी को माता मानने की भावना तभी पूर्ण होगी जब हम उसकी रक्षा को अपना दायित्व समझें। इस अर्थ में भारतीय संस्कृति का प्रकृति-प्रेम वर्तमान पर्यावरणीय संकट के बीच मनुष्य को संतुलित, संवेदनशील और जिम्मेदार जीवन की दिशा दिखाने वाली महत्वपूर्ण सांस्कृतिक चेतना है। वर्तमान युग में भारतीय समाज को संस्कृति एवं प्रकृति के संरक्षण और संवर्धन के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

**संदर्भ सूची :**

1. शर्मा, डॉ. सरिता एवं कुमार संदीप, वैश्विक पर्यावरण संतुलन में प्राचीन भारतीय संस्कृति का योगदान, Review of Research, Vol. 8, Issue 7, अप्रैल 2019, पृ. 03.
2. वही, पृ. 03.
3. https://www.nios.ac.in
4. शर्मा, डॉ. सरिता एवं कुमार संदीप, वैश्विक पर्यावरण संतुलन में प्राचीन भारतीय संस्कृति का योगदान, Review of Research, Vol. 8, Issue 7, अप्रैल 2019, पृ. 03.
5. जोशी, मृदुल. उत्तराखंड का लोक साहित्य. हल्द्वानी, नैनीताल : उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, 2015, पृ. 18.
6. वही, पृ. 18.
7. यादव, राजीव. भारतीय संस्कृति एवं परंपरा (विशेषांक). मुंबई : यूनियन सृजन, अप्रैल-जून, 2019, पृ. 27.
8. शर्मा, मीनाक्षी. भारत में पर्यावरण की समस्याएँ और समाधान (विशेषांक). मुरादाबाद : शोध मंथन, फरवरी, 2023, पृ. 100.
9. वही, पृ. 102.
10. सेठी, हरीश. जीवन मूल्य विमर्श. नई दिल्ली : संजय प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2008, पृ. 276.

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-198-201

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 198-201
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ0 अपर्णा शुक्ला**

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संगीत विभाग, श्री अग्रसेन कन्या पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी

Corresponding Author :

**डॉ0 अपर्णा शुक्ला**

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संगीत विभाग, श्री अग्रसेन कन्या पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी

## उपशास्त्रीय गायन शैली : ठुमरी गायन शैली

वर्तमान में उपशास्त्रीय संगीत का प्रचलन अत्यन्त लोकप्रिय है। शास्त्रीय संगीत की प्रस्तुति के पश्चात् उपशास्त्रीय विधाओं का प्रयोग परिपाटी की भाँति प्रचलित हो गया है। ऐसा उपशास्त्रीय संगीत के सुगम, भाव प्रधान, चपल ताल प्रयोग के कारण संभव होता है। उपशास्त्रीय संगीतात्मक विधाओं की समृद्धि इतनी विपुल है कि जहाँ एक ओर शास्त्रीय संगीत के रागों, राग प्रयोगों, रागेतर प्रयोगों, छोटी–छोटी तानों एवं बहलावे का प्रयोग होता है वहीं दूसरी ओर लोकसंगीत की सरलता, सहजता, हृदयग्राही संप्रेषणता एवं रस बरबस ही मन्त्र–मुग्ध कर देते हैं।

सभी शैलियों का अपना–अपना अलग सौन्दर्य है। ठुमरी का भी अपना विशिष्ट रंग है। इसमें एक ओर सागर–सी गंभीरता है, तो दूसरी ओर सरिता–सी चंचलता व कोमलता भी है। इसीलिए यह जहाँ एक ओर संगीत के प्रकांड विद्वानों को रसानुभूत करती है, तो दूसरी ओर सामान्य श्रोताओं का भी मनोरंजन करती है। ठुमरी की बन्दिशों में प्रेम, अनुराग, हर्ष, शोक, मान, उपालंभ, आशा–निराशा इत्यादि स्थायी भावों की अभिव्यक्ति पाई जाती है। इन स्थायी भावों अथवा मनोभावों में सुख अथवा दुःख की अनुभूति अन्तर्निहित होती है। ठुमरी का विषय श्रृंगारिक होने के कारण दुःख की अनुभूति में करूणा प्रकट हो तो वह अलौकिक होता है और जब सांसारिक हो तो लौकिक हो जाता है। इस प्रेम की अभिव्यक्ति नर एवं नारी को नायक एवं नायिका मान कर की जाती है।

ठुमरी की बंदिश बहुत संक्षिप्त होती है, शब्द अधिक नहीं होते परन्तु काव्य में विविध भावों को अभिव्यक्त करने की क्षमता होती है। इसलिए एक ही पंक्ति को विभिन्न भावों को दर्शाने हेतु विविध स्वरसंगतियों से सजाया जाता है और कलाकार की कल्पना की क्षमता इस क्रिया में परखी जाती है। यदि विभिन्न भावों को एक ही प्रकार से अभिव्यक्त किया जाय तो एकरसता आ जाती है और ठुमरी प्रभावित नहीं कर पाती। भावाभिव्यक्ति की सांगीतिक क्रिया में स्वरक्रम ही महत्त्वपूर्ण नहीं है बल्कि कैसे स्वरों को लिया जाता है यह अधिक महत्त्वपूर्ण है नाद की तीव्रता के विविध प्रयोग भावों को उत्पन्न करने में बहुत सहायक होते हैं। इस गायन शैली को कुशलता से प्रस्तुत करने के लिए कलाकार के कंठ की मधुरता के साथ उसमें भाव अभिव्यक्त करने की क्षमता बहुत आवश्यक है। स्वर लगाव इच्छित भावानुकूल हो इसके लिए आवाज को विशेष प्रकार से तैयार करना होता है।

**की–वर्ड** : उपशास्त्रीय, गायन शैली, ठुमरी, राग, संगीत।

उपशास्त्रीय संगीत में शास्त्रीय पक्ष (राग शुद्धता) से अधिक भाव–सौन्दर्य एवं रस माधुर्य को प्रधानता दी जाती है। इसमें पद के साहित्यिक सौन्दर्य को आधार मानकर उसके भावपक्ष पर बल दिया जाता है। इन भावों को स्पष्ट करने का माध्यम स्वर ही है। ऐसे संगीत में श्रृंगारिक भावना अधिक होती है और शैली रसीली भी होती है। इसलिए इसका गान गम्भीर राग या ताल में नहीं किया जाता। कोई–कोई इसे चंचल प्रकृति का संगीत मानते हैं और वह इसलिए कि इसमें गम्भीरता का प्रभाव नहीं होता,

किन्तु इसका गान सरल नहीं है, क्योंकि इन शैलियों में स्वर लगाव की चमत्कारिता पर अधिक बल दिया जाता है। अतः इन शैलियों हेतु विशेष अभ्यास की भी आवश्यकता होती है।

मध्यकालीन में शास्त्रीय संगीत अधिकतर राजाश्रय के संरक्षण में फलिभूत हुआ। राजाश्रय के अन्तर्गत रहने वाले संगीतज्ञ राजा के दरबार में ही अपनी कला का प्रदर्शन कर पाते थे। साधारण जनता उनके कला प्रदर्शन से लाभान्वित नहीं हो पाती थी। इस कारण साधारण जनता का शास्त्रीय संगीत से सम्पर्क यदा–कदा ही रहा फलस्वरूप सर्वसाधारण का शास्त्रीय संगीत के प्रति रुझान कम रहा। शास्त्रीय संगीत की नियमबद्धता ने उसे इतना जटिल रूप दे दिया कि वह सर्वसाधारण की समझ से परे हो गया। इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप टप्पा एवं ठुमरी नामक अर्द्धशास्त्रीय गायन शैलियों का उद्‌भव हुआ।

उपशास्त्रीय संगीत का अभिप्राय उस संगीत से है जिसमें न तो शास्त्र की कड़ी नियमबद्धता है और न ही लोक–संगीत की अत्यधिक सरलता। ठुमरी, दादरा, सादरा, टप्पा, कजरी, चैती व होरी गायन शैलियाँ उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत आती हैं। उपशास्त्रीय संगीत की विधाएँ लोक संगीत से उद्‌भूत हुई हैं, जिन्हें कालान्तर में शास्त्रीय कंठ ने अपनाया। शास्त्रीय गायकों ने इन लोकधुनों में अपनी गलेबाजी और कलात्मक ज्ञान का समावेश करके इन गीत–शैलियों को सजाया सँवारा। जैसे–जैसे इन गायन शैलियों में परिष्कार होता गया वैसे–वैसे इनकी प्रस्तुति की शैली में परिवर्तन आया। इस प्रकार लोक संगीत परिष्कृत होकर सीमाबद्ध हुआ और शास्त्रीय संगीत की परिधि में आ गया। अपने उन्मुक्त एवं रसिक स्वभाव के कारण ये सभी गायन शैलियाँ शास्त्र की नियमबद्धता में पूर्णतया न आ सकीं। इनमें संगीत के लोक और शास्त्रीय दोनों रूपों का समन्वय था अतः इन्हें शास्त्रीय और लोकसंगीत के बीच की कड़ी मानते हुए उपशास्त्रीय संगीत के रूप में वर्गीकृत किया गया।

ठुमरी का विषय नायिका के अन्तर की असंख्य भाव–लहरियों का चित्रण है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए कैशिकी वृत्ति का आश्रय लेकर जब स्वर, भाषा, ताल और मार्ग का प्रयोग किया जाता है तब ठुमरी नामक गीत की सृष्टि होती है। जब वादन के द्वारा यह गीत उपरंजित होता है और अभिनय के द्वारा इसे पूर्ण करके संगीत बना दिया जाता है तब राधा कृष्ण की प्रेम लीलाओं के भाव मूर्त होकर प्रकट हो जाते हैं।

ठुमरी में मावना का अलग–अलग गायक अपने–अपने ढंग से आर कुशलता से प्रकट करते हैं। भावनिर्मिति के लिए काकू प्रयोग का बड़े मार्मिकता के साथ उपयोग किया जाता है और इसी से भावनाओं की सूक्ष्मता तथा सुकुमारता प्रकट होती है। ठुमरी में शब्द और स्वरों के माध्यम से कभी विरह कभी श्रृंगार या कभी गुस्सा या छेडछाड इत्यादि भावनायें सूचित होती हैं। इस प्रकार ठुमरी में मनुष्य की स्वाभाविक भावनाओं का आविष्कार सहज होने के कारण वह मन को छू लेता है।

ठुमरी भाव प्रदर्शन के लिए उपयुक्त माध्यम है। ठुमरी गायक अपने कला कौशल एवं गले की बारीकियों को व्यक्त करता है। नृत्य के साथ ठुमरी गायन से श्रृव्य एवं दृश्य दोनों की आनन्दानुभूति होती है। ठुमरी गाने अथवा भाव–प्रदर्शन के समय कलाकार के मन में उस विषय वस्तु की कल्पना होती है जो उसकी मुख मुद्रा, हाव–भाव अथवा गाने के अन्दाज से व्यक्त होती है। स्वरों एवं शब्दों के माध्यम से ठुमरी में भावाभिनय की विशेष क्षमता का प्रदर्शन प्रस्तोता द्वारा विशेष रूप से संभव है। गायक के ये गुण श्रोता को भावमय होकर सुनने के लिए विवश कर देते हैं तथा श्रोता सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त होकर अलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है यही ठुमरी में सौन्दर्यानुभूति की अवस्था होती है।

ठुमरी भाव प्रधान गायकी है। वैसे तो सभी प्रकार की गायन–शैलियों में कलापक्ष के साथ–साथ भावपक्ष का होना बहुत आवश्यक है, परन्तु ठुमरी गायकी में अन्य गायकियों की तुलना में भावपक्ष की प्रबलता कुछ अधिक रहती है। ठुमरी में 'मिलन' और 'विरह' को समाविष्ट करने वाला 'प्रेम', 'वात्सल्यता', कोमलता और भक्ति भाव का समावेश होता है। ठुमरी गायन में 'बोल–बनाना' अथवा संगीत के द्वारा शब्दों का भावार्थ, विविध ढंगों के बहलावों के साथ किया जाता है और यह सब होता है श्रृंगार रस के असीम क्षेत्र के कारण। राधा और कृष्ण अथवा प्रियतम और प्रियतमा की कथाओं के चारों ओर काव्य–कल्पना गुंथी रहती है।

**ठुमरी शब्द की उत्पत्ति** : ठुमरी शब्द मूलतः हिन्दी भाषा का ही है, तथापि यह और इससे मिलते जुलते शब्द दूसरी भाषाओं में भी प्रचलित है, जैसे हिन्दी पंजाबी और गुजराती में ठुमरी, नेपाली में ठुमरी तथा ठुंग्री सिंधी में ठुमिरी, मराठी में ठुमरी तथा ठुवरी और बांग्ला में ठुंग्री।

ठुमरी के शब्दों को अलग–अलग करके यदि इसका शाब्दिक रूप से अर्थ समझा जाए तो ठुमरी तीन अलग–अलग शब्दों के संयोग से मिलकर बनी है– ठु + म + री = ठुमरी।

ठुमरी का अर्थ प्रायः ठुमकने से माना जाता है यदि नृत्य में हम देखे तो ऐसा कह सकते है कि ठुमक शब्द एक हलचल की तरह ही है जिसमें लय ताल के साथ हरकत करके कलाकार झूमते हुए मग्न हो जाता है।

श्री सुनील कुमार बोस का विचार है कि ठुम और री इन दो शब्दों के योग से ठुमरी शब्द बना है, ठुम शब्द ठुमकत चाल अर्थात राधा जी की चाल और री शब्द 'रिझावत' अर्थात भगवान कृष्ण के मन को रिझाने की ओर इंगित करता है। अतः ठुमरी शब्द में राधा के ठुमक कर चलते हुए कृष्ण के मन को रिझाने की अभिव्यंजना है।[1]

स्वर्गीय आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति के मतानुसार ''ठुमरी शब्द के 'ठुम' और 'री' दो अंश है। ठुम ठुमकने का घोतक है, और री अंतरंग सखी से अपने अंतर की बात कहने का।''[2]

सुप्रसिद्ध गायक स्व. गिरिजाशंकर का मत है कि ''ठुमकते हुए चलना, रिझाके चलना इन दो शब्दों के मिलन से ठुमरी शब्द व्यक्त होता है।''[3]

पंद्रहवी शताब्दी में गुजराती कृष्ण भक्त कवि नरसिंह (नरसी) मेहता लिखित रामसहस्त्रपदी के पदों में ठम, ठमके, ठमकावे इन शब्दों का प्रयोग मिलता है। उन्होने ठुमरी के भावों को लोगो के सामने प्रदर्शित किया और वही से ये प्रथा चली।[4]

संगीत शास्त्रज्ञ ठाकुर जयदेव सिंह का कथन है, कि ठुमरी नृत्य संगीत का एक प्रकार है जिसका अभिन्न अंग है अभिनय। नृत्य के आवश्यक अंग है ताल बद्ध अंग संचालन तथा भंगिमाएं, गीत एवं अभिनय। ठुमरी संगीत का एक प्रकार है तथा इसका प्रचार–प्रसार उत्तर प्रदेश तथा बिहार में था यहीं से इसका फैलाव सारे देश में हुआ। पिछले 200 वर्षों से ठुमरी का स्वरूप नृत्य और अभिनय से संबन्धित गीत रहा है। उस गीत प्रकार का प्रचार मुख्यतः वैश्याओं, नाचने वाली लड़कियों व भांड़ों में रहा। यह परंपरा अत्यंत प्राचीन है, इस प्रकार लखनऊ के वाजिद अली शाह के जमाने में इसका उद्‌भव हुआ ऐसा मानना गलत है, उन्होने ठुमरी के प्रचार–प्रसार में योगदान दिया और इसके विकास में योगदान दिया। ठुमरी का संबंध सदा नृत्य और अभिनय से रहा है। ठुमरी बोल प्रधान गायकी है–कंठ संगीत का वह प्रकार है जिसमें शब्दों का महत्व स्वरों से अधिक है। इस गान प्रकार में भाव प्रदर्शन हेतु स्वरों का प्रयोग भिन्न–भिन्न प्रकार से किया जाता है।[5]

ठुमरी का विकास लगभग 18 वीं शताब्दी के आरंभ में अवध के नवाबों के दरबारों में हुआ। यह समय ठुमरी के लिए बहुत ही सुनहरा अवसर था। 18 वीं सदी के अन्त एवं 19 वीं शताब्दी के आरंभ में जब अवध के नवाब व मुगल राज्य स्वतंत्र हुए तब उन्होने अपने राज्य में बहुत सुव्यवस्थित शासन की स्थापना की, परन्तु अधिकार शक्ति आ जाने के कारण उस शताब्दी के अंत में उनमें विलासिता बढ़ गई, वे विलासिता का जीवन बिताने लगे, मदिरा और स्त्री, नृत्य, संगीत, शतरंज और पांसे इन्ही सब में वे अपना समय व्यतीत करने लगे ख्याल शैली से उन्हे पूरी संतुष्टि नहीं मिलती थी।[6] तत्कालीन स्थितियों में ख्याल एक ऐसी गायन शैली थी जिसमें असीम साधना तथा लयकारिता का अधिक प्रभाव होता था, जिसके कारण ख़्याल उनके हृदय पर असरकारक नहीं बन पड़ता था, साथ ही साथ ख्याल नृत्य के साथ गाया भी नहीं जा सकता था। चूंकि नृत्य की गति के अवसर न होने के कारण इसमें किया गया नृत्य प्रभावोत्पादक नहीं हो पाता था। इन नवाबों को ऐसी गायकी चाहिए थी जो हल्की हो और मन को शीघ्र आकर्षित कर सके और नृत्य के साथ गाई भी जा सके, संभवतः उस समय ठुमरी ही एक सर्वोत्तम शैली होगी जो इन सब आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम लगी। यह श्रृंगारपूर्ण ललित भावनाओं को प्रकट करने और नृत्य के साथ गाए जाने में अनुकूल थी। यही मुख्य कारण था कि इस दौरान ठुमरी गायकी अपने उत्कर्ष पर रही होगी और नृत्य कि बात करें तो कथक नृत्य के विशेष अंग भाव बताना को भी इसने परिपूर्णता दिलाई।

यद्यपि यह भी कहा जाए कि ठुमरी कोमल भावनाओं व श्रृंगारिकता का प्रतीक है। ध्रुपद पौरुषेय शैली है तो ख्याल पौरुषेय और नारी सुलभ दोनों, किन्तु ठुमरी को यदि स्त्री प्रधान शैली कहा जाए तो ऐसा कहना अनुपयुक्त नहीं होगा।
ठुमरी के विकास को दो भागों में बाँटा गया है–

- पंजाब अंग
- पूरब अंग

**पंजाब अंग** : पंजाब अंग की ठुमरी आज से लगभग अस्सी वर्ष पहले, उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे दशक से लोकप्रिय हुई थी। प्रख्यात गायक अलीबख्श खाँ ने इस शैली को लोगों के सामने लाने का प्रयास किया जो लखनऊ के प्रसिद्ध नृत्यकार स्व० महाराज बिंदादीन व कालिका प्रसाद जी के सम्पर्क में आये। पंजाब अंग की ठुमरी को इन्हीं के बेटे प्रसिद्ध गायक स्व० बड़े गुलामअली खाँ तथा उनके छोटे भाई बरकत अली खाँ से प्रसिद्धि मिली है। इस शैली के आधार स्तम्भ माने जाने वाले उस्ताद बड़े गुलामअली खाँ पटियाला घराने के प्रसिद्ध गायक रहे हैं। उनका कहना है कि, 'पंजाब अंग' की ठुमरी कभी भी भिन्न या पूरब अंग से अलग नहीं है। वह तो एक ही अंग है 'पूरब'। पूरब अंग की ठुमरी को अपने पंजाब शैली में प्रस्तुत करते हैं और इसे पंजाब अंग की ठुमरी से जाना जाने लगा।

उस्ताद बड़े गुलामअली खाँ और बरकतअली खाँ ने अपनी कल्पनाशक्ति के अनुसार पंजाब की लोकधुनों और वैचित्र्यपूर्ण ढंग से स्वरों की गायकी में प्रविष्ट किया और अपनी प्रतिभा से उस गायकी में चार चाँद लगा दिये, चमत्कृति पैदा की गई। बोलबांट की ठुमरी और बोलबनाव की ठुमरी के काव्य में उसकी गीत–रचना में स्पष्ट रूप से भेद नजर आता है। परन्तु पूरब अंग की ठुमरी और पंजाब अंग की ठुमरी की गीत–रचना में कोई फर्क नहीं है। पर स्वरों के लगाव, छोटी–छोटी मुरकियों से उसमें भिन्नता मालूम पड़ती है। पूरब अंग की ठुमरी पंजाब अंग की ठुमरी की भाषा में तो समानता है ही, ब्रज भाषा, भोजपुर, अवधी इन्हीं बोली में बोलबनाव की ठुमरी गाते हैं और दादरा गीतों की रचना में पंजाब की हीर, महिया, टप्पा, मुलतानी, सिंधी, काफी, पहाड़ी आदि के लोकगीतों का समावेश होता है और उसे विशिष्ट प्रकार से गाते हैं। एक ही ठुमरी को गाते समय सिर्फ स्वरों के लगाव और गायकी के बर्ताव से पूरब अंग की ठुमरी या पंजाब अंग की ठुमरी दिखाई जा सकती है। पंजाब अंग की ठुमरी की विशेषताओं में कण, मुर्की, खटका, स्वर वैचित्र्य, टप्पा शैली की छोटी–छोटी खटकेदार तानों को व्यवहार में लाना इन सबका समावेश है।

**पूरब अंग** : उत्तर प्रदेश और बिहार में बोल–बनाव की ठुमरी का प्रचार बहुत ज्यादा होने की वजह से इसे 'पूरब अंग' या पूरबी ठुमरी कहा जाता है। पूरब अंग की बोलबनाव ठुमरी गाने का अंदाज सरल होते हुए बढ़त या विस्तार क्रम से हुआ करता है। जिस तरह से बंदिश का चलन रहता है, उसी प्रकार उसके बोल बनाव तथा मुख्य राग और उसके सौंदर्य को ध्यान में रखते हुए गाया जाता है। ठुमरी के मुख्य राग के साथ दूसरे रागों का भी मिश्रण खुबसूरती से हुआ करता है, जिसमे कलाकार का कला कौशल दिखाई देता है।

बोलबनाव की ठुमरी में 'माझ' या 'जिला' का प्रयोग विशेषरूप से होता है। ठुमरी पूरी गायकी के श्रृंगार के साथ

गायी जाती है, जैसे मींड, खटका, जमजमा, गिटकरी मुर्की, कण, पुकार और चौनदारी ये सब इसके भाव को अभिव्यक्त करती है। ये सभी विशेषताएँ पूरब अंग की ठुमरी में पाई जाती है। सुरीलेपन और बोलों के लगाव के लिए प्रसिद्ध है। पूरब अंग की ठुमरी मुख्य दो पद्धति से गायी जाती है–

- लखनवी शैली
- बनारस शैली

**लखनवी शैली** : लखनऊ के आस–पास के गाँवों में प्रचलित होने के कारण इसे लखनवी शैली की ठुमरी कहा गया है। इन ठुमरियों की रचना में ब्रज भाषा और आस–पास की भाषा उपयोग में लाई जाती है। लखनऊ तो खास उर्दू भाषिक प्रदेश होने की वजह से इन ठुमरियों में उर्दू शब्दों का प्रयोग भी बहुत होता है।

लखनऊ में बोलबनाव ठुमरी गायकी के एक विशेष प्रकार के ढंग का प्रसार हुआ। इन ठुमरियों में संगीत का कौशल तो है ही, साथ में बोलबनाव भी खूबसूरती से किया जाता है। लखनऊ क्षेत्र में टप्पा और ठुमरी इन दोनों गायकी का बहुत प्रचार होने के कारण यहाँ की ठुमरी पर इसकी झलक दिखाई देती है। लखनऊ उर्दू का खास क्षेत्र होने की वजह से यहाँ गाई जाने वाली ठुमरियों पर उर्दू का असर है, कुछ ठुमरियों में बीच–बीच में उर्दू शेर कहने का रिवाज भी है।

**बोलबांट की ठुमरी** : बोलबांट की ठुमरी को बंदिश की ठुमरी के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रकार की ठुमरी प्रायः लखनऊ के पश्चिम क्षेत्र जैसे फर्रुखाबाद, रामपुर, मथुरा, बरेली, दिल्ली इत्यादि स्थानों में अधिक गाई जाती है। पश्चिम क्षेत्र की होने की वजह से इसे पछाई ठुमरी भी कहा जाता है। बोलबांट की ठुमरी में रागसंगीत की प्रधानता ज्यादा है। इनमें कुछ ठुमरियाँ मध्यलय के ख्याल, तराने और सितार की गतों और नृत्य के अधिक पास है, इनमें ध्रुवपदगान जैसे दुगुन और आड, कुआड जैसे लयकारी के प्रकार भी दिखाई देते हैं।

बोलबांट की ठुमरियों पर ब्रज, बुंदेलखण्ड, उत्तर प्रदेश में गाए जाने वाले रसिया, होली, सावन, लेद इत्यादि लोकधुनों, लोकगीतों का प्रभाव दिखाई देता है। उसी के साथ शास्त्रीय संगीत के घराने वाले गायक सितारवादक और कथक नृत्यकारों का अधिक प्रभाव मालूम होता है। इसलिए बोलबांट की ठुमरी में विविधता दिखाई देती है। इसकी मुख्य भाषा ब्रज है जिसमें भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। इसी के साथ स्त्री–पुरुषों के प्रेमालाप का वर्णन हमें प्राप्त होता है। उन ठुमरियों में ज्यादातर श्रृंगार, संयोग और वियोग का वर्णन हमें मिलता है। ये ठुमरियाँ चंचल होने के कारण द्रुतलय में गाई जाती है।

**बनारस शैली** : बोलबनाव की ठुमरी का प्रचलन विशेषकर लखनऊ और उसके पूर्वी प्रदेशों अर्थात् पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार की ओर अधिक होने के कारण कालान्तर में उसे 'पूरब अंग की ठुमरी' कहा जाने लगा।

कालान्तर में धीरे–धीरे बनारस की ओर गायी जाने वाली ठुमरी को रचनाओं व शैली पर उत्तर भारत के पूर्वी प्रदेशों की बोलियों, लोकगीतों व लोकधुनों का बहुत प्रभाव पड़ा। अतएव आगे चलकर बनारस में बोलबनाव की ठुमरी गायन के इस प्रकार के स्वरूप का विकास हुआ। बनारस और उसके आस–पास के क्षेत्र में यह शैली प्रचलित है जिसमें ब्रजभाषा और अवधी भाषा का योगदान है और गायकी शहद जैसी मधुर है। यह ब्रजभाषा के साथ–साथ भोजपुरी, मगही, पूर्वी बोलियों से प्रभावित है। इस शैली पर चौती, कजरी, पूरबी, झूमर इन लोकगीतों का प्रभाव है। यह बनारस शैली सादगी भरी होने के बावजूद बोलबनाव के भावपक्ष से अधिक प्रभावित है। बोलों का बनाव काव्य के बोलों में निहित भावों के अनुसार, एकदम सरल होता है। बोलों का अभिव्यक्त करते हुए दर्द, हुक का प्रयोग विशेषरूप से किया जाता है। इसीलिए बनारसी शैली की ठुमरी को बोलबनाव की ठुमरी कहते हैं, यह बनारसी शैली की विशेष पहचान है जिसे समझाना अतिआवश्यक है।

**बोलबनाव की ठुमरी** : बोलबनाव की ठुमरी में गायकी को अधिक महत्व दिया जाता है। इसलिए इसे गायकी प्रधान ठुमरी कहते हैं। भावपूर्ण गायकी से ओतप्रोत यह शैली गीत के बोलों में निहित भाव को प्रदर्शित करती है। लोकधुनों और लोकगीतों से प्रभावित यह शैली गाढ़ा संवाद रखने वाले रागों में ज्यादातर गाई जाती है। जैसे– गारा, झिंझोटी, तिलककामोद, मांड, देस, काफी, तिलंग, सिंदूरा, पीलू, भैरवी इन रागों में ठुमरियों गाने का चलन है।

**संदर्भ सूची :**

1. डॉ0 सहगल सुधा एवं डॉ0 मुक्ता. (2007). बेगम अख्तर व उपशास्त्रीय संगीत. नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन्स, पृ0 3
2. बृहस्पति आचार्य कैलाशचन्द्र देव. (1965). ठुमरी में सनातन सांगीतिक तत्व, कला भारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिकाः प्रयागराजः हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पृ 1
3. तिवारी विदुषी, (2014). भारतीय संगीत में ठुमरी एक विश्लेषण. निवाई राजस्थानः नवजीवन पब्लिकेशन, पृ0 14
4. पोहनकर अंजली, (2009). सफर ठुमरी गायकी का. नई दिल्ली : कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर, पृ0 12
5. डॉ0 सहगल सुधा एवं डॉ0 मुक्ता. (2007). बेगम अख्तर व उपशास्त्रीय संगीत. नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन्स, पृ0 4
6. लीला कारवाल, (2015). ठुमरी परिचय. इलाहाबादः संगीत सदन प्रकाशन, पृ0 5

•

ज्ञानविविधा
कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 202-207
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. बिन्दु टी आर**

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, एस एन म कालेज मालियनकरा, (एम.जी.विश्वविद्यालय) नोर्त परवूर, एरणाकुलम, केरल

Corresponding Author :

**डॉ. बिन्दु टी आर**

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, एस एन म कालेज मालियनकरा, (एम.जी.विश्वविद्यालय) नोर्त परवूर, एरणाकुलम, केरल

## मेहरुन्निसा परवेज़ की 'आँखों की दहलीज़' : स्त्री-अस्तित्व का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

**भूमिका :** हिंदी कथा-साहित्य में स्त्री-जीवन का चित्रण केवल सामाजिक परिस्थितियों और पारिवारिक संबंधों तक सीमित नहीं रहा है। आधुनिक हिंदी कथाकारों ने स्त्री के बाहरी जीवन के साथ-साथ उसके अंतर्मन, इच्छाओं, भावनाओं, असुरक्षाओं और मानसिक संघर्षों को भी साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस संदर्भ में मेहरुन्निसा परवेज़ का कथा-साहित्य विशेष महत्व रखता है। उन्होंने स्त्री को केवल पीड़ित, त्यागमयी या पुरुष-निर्भर पात्र के रूप में प्रस्तुत नहीं किया, बल्कि उसके भीतर सक्रिय इच्छाओं, आकांक्षाओं, आत्मसम्मान, कमजोरियों और निर्णयों को भी रचनात्मक संवेदनशीलता के साथ चित्रित किया है।

मेहरुन्निसा परवेज़ का प्रथम उपन्यास 'आँखों की दहलीज़' सन् 1969 में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास उच्च-मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवार की पृष्ठभूमि में स्त्री-अस्तित्व, वैवाहिक संबंध, मातृत्व की आकांक्षा, सामाजिक संस्कार और मनोवैज्ञानिक द्वंद्व को प्रस्तुत करता है। उपन्यास की केंद्रीय पात्र तालिया है, जिसके जीवन के माध्यम से स्त्री के आत्मबोध और सामाजिक अपेक्षाओं के बीच उत्पन्न संघर्ष को समझा जा सकता है।

तालिया का चरित्र अनेक विरोधाभासों से निर्मित है। वह स्वतंत्र विचारों वाले परिवार में पली-बढ़ी है, अपनी पसंद से प्रेम-विवाह करती है और भावनात्मक रूप से संवेदनशील जीवन की आकांक्षा रखती है। इसके बावजूद वह सामाजिक मान्यताओं से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाती। मातृत्व की अनुपस्थिति को वह अपने व्यक्तित्व की कमी मानने लगती है। परिणामतः उसका जीवन अपराध-बोध, आत्मग्लानि, मानसिक तनाव और आत्मत्याग की दिशा में बढ़ता जाता है।

इस प्रकार 'आँखों की दहलीज़' का अध्ययन स्त्री-अस्तित्व के मनोवैज्ञानिक पक्ष को समझने के लिए महत्वपूर्ण आधार प्रदान करता है।

**पारिवारिक परिवेश और तालिया का मनोवैज्ञानिक विकास :** किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में परिवार की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। परिवार व्यक्ति को भावनात्मक सुरक्षा, सामाजिक संस्कार और आत्मविश्वास प्रदान करता है। इसके विपरीत पारिवारिक तनाव, अस्थिरता और निरंतर संघर्ष व्यक्ति के मन पर गहरा प्रभाव डाल सकते हैं। तालिया एक अवकाशप्राप्त डिप्टी कलेक्टर सिद्दिक्की साहब की बेटी है। उसके पिता स्वतंत्र विचारों वाले व्यक्ति हैं। वे धार्मिक मान्यताओं को रूढ़िगत दृष्टि से नहीं देखते और अपनी बेटी को पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान करते हैं। दूसरी ओर, तालिया की माँ पुराने विचारों से प्रभावित है। माता-पिता के विचारों में यह अंतर पारिवारिक तनाव और मतभेद का कारण बनता है। तालिया इस वातावरण को निकट से अनुभव करती है। पारिवारिक संघर्ष उसके भीतर भावनात्मक असुरक्षा उत्पन्न करता है। वह ऐसे संबंध की तलाश करती है जहाँ उसे मानसिक शांति, आत्मीयता और स्थिरता प्राप्त हो सके। इस दृष्टि से उसका प्रेम-विवाह केवल रोमांटिक आकर्षण का परिणाम नहीं है, बल्कि उसके भीतर मौजूद भावनात्मक सुरक्षा की आवश्यकता से भी जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो तालिया के प्रारंभिक अनुभव उसके आगे के निर्णयों को प्रभावित करते हैं। परिवार में विचारों का टकराव और भावनात्मक अस्थिरता उसे ऐसे संबंध की ओर प्रेरित करते हैं जहाँ स्वीकार्यता और विश्वास का अनुभव हो। शमीम के व्यक्तित्व में उसे यही भावनात्मक आधार दिखाई देता है।

**प्रेम, विवाह और भावनात्मक सुरक्षा :** तालिया शमीम से प्रेम करके विवाह करती है। शमीम आत्मसंयमी, उदार, स्वतंत्र विचारों वाला और संवेदनशील व्यक्ति है। वह तालिया को संदेह, रूढ़िगत दृष्टि या सामाजिक पूर्वाग्रहों के आधार पर नहीं देखता। उनके वैवाहिक संबंध में प्रेम और विश्वास की महत्वपूर्ण भूमिका है। तालिया के लिए शमीम केवल पति नहीं, बल्कि भावनात्मक सहारा भी है। उसके साथ वह अपने व्यक्तित्व को सहज रूप से विकसित कर सकती है। शमीम की स्वीकारशीलता तालिया को यह विश्वास प्रदान करती है कि उसका मूल्य केवल सामाजिक भूमिकाओं से निर्धारित नहीं होता। किन्तु उपन्यास में एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक विरोधाभास उभरता है। तालिया को शमीम से प्रेम और स्वीकार्यता प्राप्त है, लेकिन वह स्वयं को स्वीकार नहीं कर पाती। जब मातृत्व से संबंधित समस्या सामने आती है, तब शमीम के प्रेम में कोई कमी नहीं आती। फिर भी तालिया स्वयं को शमीम के जीवन के लिए अपर्याप्त समझने लगती है। वह यह मान बैठती है कि पत्नी के रूप में उसकी सार्थकता संतान प्रदान करने की क्षमता पर निर्भर है। यहीं से उसके व्यक्तित्व में आत्म-अस्वीकार की प्रक्रिया आरंभ होती है। बाहरी प्रेम और आंतरिक असंतोष के बीच उत्पन्न यह अंतर उसके मानसिक संघर्ष का आधार बन जाता है।

**मातृत्व-बोध और स्त्री-अस्तित्व का संकट :** 'आँखों की दहलीज़' का सबसे महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक पक्ष मातृत्व से संबंधित है। तालिया जब यह जानती है कि वह माँ नहीं बन सकती, तो उसके भीतर गहरी पीड़ा उत्पन्न होती है। यह पीड़ा केवल संतान प्राप्ति की इच्छा से संबंधित नहीं है, बल्कि उसके आत्मबोध और स्त्री-पहचान से जुड़ जाती है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में लंबे समय तक स्त्री की सामाजिक प्रतिष्ठा को पत्नी और माँ की भूमिकाओं से जोड़कर देखा जाता रहा है। मातृत्व को स्त्री-जीवन की पूर्णता का प्रतीक मानने वाली धारणा स्त्री के मानसिक संसार को प्रभावित करती है। तालिया भी इसी सामाजिक मानसिकता से प्रभावित होती है। वह यह नहीं सोच पाती कि उसका व्यक्तित्व, प्रेम, संवेदनशीलता और वैवाहिक संबंध अपने आप में मूल्यवान हैं। इसके बजाय वह संतान के अभाव को अपने जीवन की सबसे बड़ी कमी मानने लगती है।

यहाँ समस्या मातृत्व की इच्छा में नहीं, बल्कि मातृत्व को स्त्री की अनिवार्य पहचान मान लेने में है। तालिया की पीड़ा इस बात को स्पष्ट करती है कि सामाजिक मान्यताएँ किस प्रकार व्यक्ति के आत्मबोध का हिस्सा बन जाती हैं।

मातृत्व की अनुपस्थिति धीरे-धीरे उसके भीतर हीनता-बोध, आत्मग्लानि और आत्म-अस्वीकार उत्पन्न करती

है। वह स्वयं को शमीम के प्रति दोषी मानने लगती है, जबकि शमीम उसके प्रति प्रेम और विश्वास बनाए रखता है। इस प्रकार उपन्यास स्त्री-अस्तित्व और मातृत्व के बीच स्थापित सामाजिक संबंध की आलोचनात्मक पड़ताल करता है।

**सामाजिक पहचान और आत्महीनता :** तालिया के चरित्र में सामाजिक पहचान और व्यक्तिगत पहचान का संघर्ष स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। व्यक्ति का आत्मबोध केवल उसके निजी अनुभवों से निर्मित नहीं होता, बल्कि समाज द्वारा निर्धारित भूमिकाएँ भी उसे प्रभावित करती हैं। तालिया को यह अनुभव होने लगता है कि एक पत्नी के रूप में उसकी सफलता तभी पूर्ण होगी जब वह शमीम को संतान का सुख प्रदान कर सके। इस धारणा के कारण उसका आत्मसम्मान बाहरी उपलब्धियों पर नहीं, बल्कि एक ऐसी भूमिका पर निर्भर हो जाता है जिसे वह पूरा नहीं कर सकती। यह मानसिकता उसे स्वयं के प्रति कठोर बना देती है। वह अपने गुणों, संवेदनाओं और प्रेम को पर्याप्त महत्व नहीं देती। उसके लिए मातृत्व का अभाव उसके समूचे व्यक्तित्व का अभाव बन जाता है। यहीं से आत्महीनता का विकास होता है। आत्महीनता केवल स्वयं को कमतर समझना नहीं है, बल्कि अपने अस्तित्व के मूल्य को दूसरों की अपेक्षाओं से निर्धारित करना भी है। तालिया का संघर्ष इसी मानसिक स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। वह सामाजिक मान्यताओं का विरोध बाहरी रूप से नहीं करती, बल्कि उन्हें अपने भीतर आत्मसात कर लेती है। इस कारण सामाजिक दबाव धीरे-धीरे आत्मदबाव में बदल जाता है।

**माँ की योजना, जावेद और नैतिक-मानसिक द्वंद्व :** तालिया की माँ उसकी पीड़ा को देखकर उसे माँ बनाने की योजना बनाती है। घर में आने वाले युवा व्यवसायी जावेद से तालिया का परिचय कराया जाता है और दोनों के बीच निकटता का अवसर उत्पन्न होता है। जावेद तालिया के सौंदर्य से प्रभावित होता है और उसके साथ संबंध स्थापित करता है। यह प्रसंग तालिया के जीवन में निर्णायक मोड़ प्रस्तुत करता है। एक ओर उसके भीतर मातृत्व की तीव्र आकांक्षा है, दूसरी ओर शमीम के प्रति उसका प्रेम और वैवाहिक निष्ठा है। इन दोनों के बीच उत्पन्न संघर्ष उसके मन को गहराई से प्रभावित करता है। तालिया का निर्णय केवल व्यक्तिगत इच्छा का परिणाम नहीं है। उसके पीछे सामाजिक दबाव, मातृत्व की अनिवार्यता संबंधी धारणा और स्वयं को अधूरा समझने की मानसिकता सक्रिय है। जावेद के साथ संबंध से उसे न तो मातृत्व प्राप्त होता है और न ही स्थायी भावनात्मक संतोष। बाद में जावेद का उससे संबंध तोड़ लेना उसकी पीड़ा को और बढ़ा देता है। यह अनुभव तालिया के भीतर असफलता, अपराध-बोध और आत्मग्लानि को तीव्र करता है। वह जिस उद्देश्य से इस संबंध में प्रवेश करती है, वह पूरा नहीं होता। परिणामतः उसकी मानसिक स्थिति पहले से अधिक जटिल हो जाती है। इस प्रसंग के माध्यम से लेखिका यह संकेत करती हैं कि जब स्त्री की इच्छाएँ सामाजिक दबावों और आत्महीनता से संचालित होती हैं, तब उसके निर्णय भावनात्मक संकट को जन्म दे सकते हैं।

**अपराध-बोध और आत्मग्लानि :** जावेद के साथ संबंध के बाद तालिया के भीतर अपराध-बोध गहरा हो जाता है। वह शमीम के पास लौटती है, लेकिन अपने अनुभव को सहज रूप से स्वीकार नहीं कर पाती। शमीम उसके प्रति संदेह नहीं करता। वह पहले की अपेक्षा अधिक प्रेम और विश्वास का व्यवहार करता है। यही स्थिति तालिया के मन को और अधिक विचलित करती है। यदि शमीम उसे दोष देता या अस्वीकार करता, तो तालिया अपने अपराध को बाहरी प्रतिक्रिया के माध्यम से समझ सकती थी। लेकिन शमीम की उदारता और विश्वास उसके भीतर आत्मदोष की भावना को बढ़ा देते हैं। वह अनुभव करती है कि उसने ऐसे व्यक्ति के विश्वास को ठेस पहुँचाई है जो उसे बिना शर्त स्वीकार करता है। इस प्रकार बाहरी क्षमा के बावजूद वह स्वयं को क्षमा नहीं कर पाती। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपराध-बोध तब अधिक जटिल हो जाता है जब व्यक्ति अपने व्यवहार को केवल एक घटना के रूप में न देखकर अपने समूचे व्यक्तित्व की नैतिक विफलता मानने लगता है। तालिया के भीतर भी यही प्रक्रिया दिखाई देती है। उसका संघर्ष

समाज से अधिक अपने अंतर्मन से हो जाता है। प्रेम, जो उसके लिए सहारा बन सकता था, उसके भीतर अपराध-बोध का स्मरण भी उत्पन्न करता है।

**पश्चाताप और आत्मदंड :** तालिया के भीतर अपराध-बोध धीरे-धीरे पश्चाताप और आत्मदंड की प्रवृत्ति में बदल जाता है। वह अपने निर्णयों और जीवन की घटनाओं को बार-बार स्मरण करती है। उसके मन में यह भावना मजबूत होती जाती है कि उसने अपने जीवन को गलत दिशा में ले जाकर शमीम के विश्वास को चोट पहुँचाई है। आत्मदंड की प्रवृत्ति में व्यक्ति स्वयं को सुख प्राप्त करने का अधिकारी नहीं समझता। वह अपने लिए उपलब्ध प्रेम, सम्मान और सुरक्षा को भी सहजता से स्वीकार नहीं कर पाता।

तालिया के साथ भी यही होता है। शमीम का प्रेम उसे राहत देने के बजाय उसके अपराध-बोध को और गहरा कर देता है। वह अपने सुख को संदेह की दृष्टि से देखने लगती है। यहाँ लेखिका ने स्त्री के अंतर्मन में चलने वाली जटिल मानसिक प्रक्रिया को प्रस्तुत किया है। तालिया का दुख केवल बाहरी परिस्थितियों से उत्पन्न नहीं है; वह अपने भीतर एक ऐसी नैतिक व्यवस्था निर्मित कर लेती है जिसमें स्वयं को दंडित करना आवश्यक प्रतीत होता है। इस प्रकार पश्चाताप उसके व्यक्तित्व को आत्मस्वीकृति से दूर ले जाता है।

**मानसिक संघर्ष और अस्तित्वगत संकट :** तालिया का मानसिक संघर्ष धीरे-धीरे अस्तित्वगत संकट का रूप ले लेता है। उसके सामने अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। ये प्रश्न उसके आत्मबोध को प्रभावित करते हैं। वह अपने व्यक्तित्व को स्वतंत्र रूप से देखने में असमर्थ होने लगती है। एक ओर वह प्रेम चाहती है, दूसरी ओर अपने प्रेम को अपराध-बोध से जोड़ देती है। वह स्वतंत्र निर्णय लेती है, लेकिन सामाजिक संस्कारों से मानसिक रूप से मुक्त नहीं हो पाती। इस विरोधाभास के कारण उसके भीतर गहरी बेचैनी उत्पन्न होती है। वह न तो अपने वर्तमान को सहज रूप से स्वीकार कर पाती है और न ही अतीत से मुक्त हो पाती है। तालिया का अस्तित्वगत संकट इस बात से संबंधित है कि स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व सामाजिक भूमिकाओं से परे किस प्रकार स्थापित हो सकता है।

मानसिक तनाव की चरम अवस्था और जीवन-संकट

तालिया का मानसिक तनाव अत्यधिक बढ़ जाता है। अपराध-बोध, आत्महीनता, सामाजिक दबाव और अस्तित्वगत अकेलापन उसके मानसिक संसार को गहराई से प्रभावित करते हैं। वह जीवन के प्रति अत्यंत निराश हो जाती है और अपने अस्तित्व को समाप्त करने का प्रयास करती है। इस प्रसंग को उपन्यास में मानसिक संकट की चरम अवस्था के रूप में देखा जा सकता है। लेखिका का उद्देश्य किसी विनाशकारी प्रवृत्ति का समर्थन करना नहीं, बल्कि यह दिखाना है कि निरंतर आत्मदोष और सामाजिक दबाव व्यक्ति को कितनी गंभीर मानसिक स्थिति तक पहुँचा सकते हैं। शमीम द्वारा तालिया को बचा लिया जाना मानवीय संवेदना और प्रेम की उपस्थिति को रेखांकित करता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि तालिया के जीवन में संबंधों की भावनात्मक शक्ति अभी समाप्त नहीं हुई है। फिर भी वह अपने भीतर के अपराध-बोध से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाती। यह स्थिति बताती है कि बाहरी सहायता महत्वपूर्ण होने के बावजूद आत्मस्वीकृति और मानसिक पुनर्स्थापन की प्रक्रिया भी आवश्यक है।

**पति के सुख के लिए आत्मत्याग :** तालिया के चरित्र का एक महत्वपूर्ण पक्ष उसका आत्मत्याग है। वह अपने दुःख के बावजूद शमीम को सुखी देखना चाहती है। उसके भीतर यह धारणा मजबूत हो जाती है कि शमीम को संतान का सुख मिलना चाहिए और वह स्वयं यह सुख प्रदान करने में सक्षम नहीं है। इसी भावना से वह अपनी सहेली जमीला को शमीम से विवाह करने के लिए तैयार करती है। यह निर्णय उसके प्रेम और त्याग को व्यक्त करता है, लेकिन इसके भीतर आत्म-अस्वीकृति भी निहित है। तालिया अपने लिए सुख की माँग नहीं करती। वह स्वयं को शमीम के जीवन से हटाकर उसके लिए वैकल्पिक जीवन की व्यवस्था करना चाहती है।

इस घटना को दो स्तरों पर समझा जा सकता है। एक ओर यह पति के प्रति उसके प्रेम और संवेदनशीलता

का परिचायक है। दूसरी ओर यह उसके आत्मसम्मान और स्वतंत्र अस्तित्व के क्रमिक विसर्जन को भी दर्शाता है। त्याग उसके प्रेम का रूप भी है और आत्मदंड का माध्यम भी। तालिया स्वयं को इस योग्य नहीं समझती कि वह प्रेम, सम्मान और वैवाहिक जीवन की अधिकारी बनी रहे। इसलिए वह अपने जीवन से पीछे हटने का निर्णय लेती है।

**स्त्री-अस्मिता का विसर्जन और आत्मविस्थापन :** जमीला को शमीम से विवाह के लिए तैयार करने के बाद तालिया सब कुछ छोड़कर अनजान दिशा में चली जाती है। यह घटना उसके वैवाहिक जीवन से अलग होने मात्र की घटना नहीं है, बल्कि उसके आत्मविस्थापन का प्रतीक है।

तालिया ने अपने जीवन के निर्णय स्वयं लिए थे। उसने प्रेम किया, विवाह किया और अपने जीवन की दिशा निर्धारित करने का प्रयास किया। लेकिन अंततः उन्हीं निर्णयों से उत्पन्न अपराध-बोध और सामाजिक धारणाओं ने उसे अपने अस्तित्व से दूर कर दिया। वह दूसरों के सुख के लिए स्वयं को विस्थापित कर देती है। इस प्रकार उसका आत्मत्याग उसके व्यक्तित्व की जटिलता को सामने लाता है। तालिया स्वतंत्रता, प्रेम और मातृत्व की आकांक्षा रखती है। वह पति का सुख भी चाहती है। किंतु इन इच्छाओं के बीच उसका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व धीरे-धीरे पीछे छूट जाता है। यहाँ उपन्यास एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाता है—क्या स्त्री का त्याग वास्तव में उसकी स्वतंत्र इच्छा है, या वह सामाजिक संस्कारों और आत्महीनता से निर्मित मानसिक बाध्यता का परिणाम भी हो सकता है।

**बाहरी स्वतंत्रता और आंतरिक मानसिक पराधीनता :** तालिया के पिता उसे स्वतंत्रता प्रदान करते हैं। वह अपनी पसंद से प्रेम करती है और विवाह करती है। इस दृष्टि से उसके जीवन में बाहरी स्वतंत्रता मौजूद है। किन्तु मानसिक स्तर पर वह पूरी तरह स्वतंत्र नहीं हो पाती। उसके भीतर स्त्री की भूमिका, पत्नी का कर्तव्य और मातृत्व की अनिवार्यता संबंधी धारणाएँ गहराई से स्थापित हैं। यहाँ लेखिका बाहरी स्वतंत्रता और आंतरिक स्वतंत्रता के बीच महत्वपूर्ण अंतर प्रस्तुत करती हैं। बाहरी स्वतंत्रता का अर्थ है—निर्णय लेने, संबंध चुनने और जीवन की दिशा निर्धारित करने का अवसर। आंतरिक स्वतंत्रता का अर्थ है—अपने अस्तित्व, इच्छाओं, भावनाओं और सीमाओं को बिना अपराध-बोध के स्वीकार कर पाना। तालिया को पहली प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्त है, लेकिन दूसरी प्रकार की स्वतंत्रता का अभाव है। इसलिए उसके स्वतंत्र निर्णय भी अंततः मानसिक पराधीनता में बदल जाते हैं। उसकी त्रासदी यह है कि वह सामाजिक मान्यताओं से बाहर निकलने का प्रयास करती है, लेकिन उन्हें अपने भीतर से समाप्त नहीं कर पाती।

**तालिया : मनोवैज्ञानिक रूप से जटिल नारी-पात्र :** तालिया का चरित्र एकरेखीय नहीं है। वह केवल पीड़ित स्त्री नहीं है और न ही केवल विद्रोही स्त्री। उसके व्यक्तित्व में प्रेम, संवेदनशीलता, स्वतंत्रता, इच्छा, मातृत्व की आकांक्षा, अपराध-बोध, पश्चाताप, त्याग और आत्मद्वंद्व एक साथ मौजूद हैं।

उसके निर्णयों को केवल नैतिकता की कसौटी पर देखना उसके चरित्र की मनोवैज्ञानिक जटिलता को सीमित कर देगा। उसके व्यवहार के पीछे अनेक परिस्थितियाँ सक्रिय हैं—पारिवारिक तनाव, भावनात्मक सुरक्षा की आवश्यकता, प्रेम और वैवाहिक स्थिरता की आकांक्षा, मातृत्व संबंधी सामाजिक धारणाएँ, आत्महीनता और अपराध-बोध, पति के प्रति प्रेम तथा आत्मदंड की प्रवृत्ति आदि। तालिया का चरित्र यह स्पष्ट करता है कि स्त्री का व्यवहार केवल बाहरी नैतिक मानदंडों से नहीं समझा जा सकता। उसके भीतर चलने वाली भावनात्मक और मानसिक प्रक्रियाओं को भी समझना आवश्यक है।

वह आधुनिक हिंदी कथा-साहित्य की उस स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है जो स्वतंत्र पहचान बनाने का प्रयास करती है, लेकिन सामाजिक संस्कारों और व्यक्तिगत इच्छाओं के बीच संघर्ष करती रहती है।

**निष्कर्ष :** मेहरुन्निसा परवेज़ का उपन्यास 'आँखों की दहलीज़' स्त्री-अस्तित्व के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना है। तालिया के जीवन के माध्यम से लेखिका ने स्त्री के अंतर्मन में चलने वाले अनेक स्तरों के संघर्षों को अभिव्यक्त किया है।

पारिवारिक तनाव से उत्पन्न भावनात्मक असुरक्षा, प्रेम और वैवाहिक जीवन की आकांक्षा, मातृत्व की इच्छा, सामाजिक मान्यताओं से निर्मित आत्महीनता, अपराध-बोध, पश्चाताप, मानसिक तनाव और आत्मत्याग—ये सभी तत्व तालिया के व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं।

तालिया की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि वह अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्वीकार करने के बजाय अपने जीवन की सार्थकता को मातृत्व और पति के सुख से जोड़ देती है। शमीम का प्रेम और विश्वास उसके लिए सहारा हो सकते थे, लेकिन उसके भीतर की आत्मग्लानि उसे उस प्रेम को सहज रूप से स्वीकार नहीं करने देती। परिणामतः वह अपने सुख और अस्तित्व का त्याग कर देती है। उसका आत्मत्याग प्रेम, अपराध-बोध और सामाजिक संस्कारों के जटिल अंतर्संबंध का परिणाम बन जाता है।

इस दृष्टि से 'आँखों की दहलीज़' केवल एक स्त्री की व्यक्तिगत कथा नहीं है, बल्कि स्त्री के आत्मबोध, सामाजिक अपेक्षाओं और मानसिक स्वतंत्रता के बीच संघर्ष की कथा है। तालिया के माध्यम से लेखिका यह प्रश्न उठाती हैं कि स्त्री की पहचान को केवल पत्नी और माँ की भूमिकाओं तक सीमित क्यों किया जाए। स्त्री का स्वतंत्र व्यक्तित्व, उसकी इच्छाएँ, संवेदनाएँ और आत्मसम्मान भी समान रूप से महत्वपूर्ण हैं।

अतः उपन्यास में स्त्री-अस्तित्व का मनोवैज्ञानिक पक्ष बाहरी परिस्थितियों से अधिक उसके अंतर्मन के द्वंद्व में दिखाई देता है। तालिया की पीड़ा यह रेखांकित करती है कि स्त्री की वास्तविक मुक्ति केवल सामाजिक या पारिवारिक स्वतंत्रता में नहीं, बल्कि अपने अस्तित्व को स्वीकार करने, आत्मग्लानि से मुक्त होने और मानसिक स्वायत्तता प्राप्त करने में भी निहित है।

**संदर्भ सूची :**

1. 1 . आंखों की दहलीज़ (उपन्यास)-मेहरुन्निसा परवेज़ -प्रतिभा प्रतिष्ठान, 1675, दखनीराय स्ट्रीट, नेताजी सुभाष चंद्र मार्ग, नई दिल्ली -2
2. उपन्यास : स्वरुप और संवेदना – राजेन्द्र यादव – वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
3. मुस्लिम कथाकारों का हिन्दी का योगदान – नीमम शर्मा -संजय बुक सेंटर, के-38/6, गोलघर, वाराणसी - 221001
4. वर्तमान हिन्दी महिला लेखनन और दाम्पत्य जीवन -साधना अग्रवाल - वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
5. हिन्दी की महिला उपन्यासकारों की मानवीय संवेदना-डॉ उषा यादव – राधा-कृष्ण प्रकाशन, 2/38, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
6. हिन्दी उपन्यास और जीवन मूल्य -मोहिनी शर्मा – सूर्य प्रकाशन, नई दिल्ली

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-208-211

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 208-211
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. मंजू कुमारी**

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय
देहरा, काँगड़ा, हिमाचल प्रदेश

Corresponding Author :

**डॉ. मंजू कुमारी**

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय
देहरा, काँगड़ा, हिमाचल प्रदेश

# वैश्वीकृत समाज में भारतीय ज्ञान परम्परा के मूल्यों का महत्त्व

**सारांश (Abstract) :** वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने जहाँ मानव समाज को तकनीकी रूप से प्रगतिशील बनाया है, वहीं दिन प्रतिदिन मानवीय मूल्यों में गिरावट भी स्पष्ट रूप से देखीं जा सकती है । गौरतलब है कि वैश्वीकरण ने समाज की सम्पूर्ण संरचना, वह चाहे सामाजिक व सांस्कृतिक तथा आर्थिक हो, सभी स्तरों पर प्रभावित किया है। ऐसे समय में भारतीय ज्ञान परम्परा, जो कि सत्य, अहिंसा, करुणा, समभाव, धर्म, शांति, कर्म, आत्मसंयम और वसुधैव कुटुम्बकम जैसे मूल्यों पर आधारित है। भारतीय परम्परा और संस्कृति में विश्व मानवता के लिए एक प्रकाशपुंज के समान है । प्रस्तुत शोध आलेख में वैश्वीकृत समाज में भारतीय ज्ञान परम्परा के मानवीय मूल्यों की प्रासंगिकता का विश्लेषण किया गया है तथा यह स्पष्ट करने की कोशिश की गई है कि इस वैश्वीकरण के दौर में कैसे भारतीय ज्ञान परम्परा में निहित मानवीय मूल्य जीवन में संतुलन और शांति के लिए अति आवश्यक हैं।

**मुख्य शब्द :** वेद, उपनिषद, दर्शन, वैश्वीकरण, सूचना प्रौद्योगिकी, बाजार, वैश्वीकृत समाज, भारतीय ज्ञान परम्परा, साहित्य, मानवीय मूल्य, यम, पंचशील आदि।

**वैश्वीकृत समाज :** वैश्वीकरण का मुख्य केन्द्र 'भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास' और पूरी दुनिया में बिना किसी रुकावट के 'सहज व्यापार प्रवाह' से सम्बन्धित है। वैश्वीकरण के पहले बाजार केवल मानव-जीवन से सम्बन्धित सीमित चीजों के लिए आवश्यक था और उस समय का बाजार केवल 'बाजार' की श्रेणी में आता था। जहाँ से सीमित साधनों की पूर्ति होती रही है, लेकिन वहीं बाजार, आज बाजारीकरण की संज्ञा धारण कर चुका है, अब हम नहीं, वह हमें बताने लगा है कि क्या हमारे लिए जरूरी है और क्या नहीं। आज 21वीं सदी में बाजार हम पर नहीं, हम बाजार पर आश्रित होते जा रहे हैं। हमारी पसन्द न पसन्द सब बाजार तय कर रहा है। बाजार एक 'आर्थिक विचार' बना हुआ है, जिसका उद्देश्य केवल मुनाफा कमाना है। उसे किसी के लाभ-हानि की कोई परवाह नहीं है। वर्तमान समाज वैश्वीकृत समाज का रूप ले चुका है, उसके बिना

जीवन अब सम्भव नहीं रहा। आज का व्यक्ति अपने समाज और परिवार में अपने विचारों के साथ जितना स्वतन्त्र हुआ है, उससे कहीं अधिक गुलाम। यह गुलामी कैसे समाज पर हावी होती जा रही है? उसे सूक्ष्मता से समझने का एक मात्र जरिया साहित्य है। साहित्य के माध्यम से समाज की स्थिति और उसके द्वारा समाज व सामाजिक परिदृश्य को समझने में आसानी होती है। आदिकाल से लेकर अब तक के समाज को जानने या समझने के लिए साहित्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। जैसे-प्रेमचंद का साहित्य और उनके साहित्य जगत में उपस्थित समाज और वर्तमान 21वीं सदी का समाज बहुत बदल चुका है। प्रेमचन्द के साहित्य में समाज की यथार्थता का दर्शन बहुत ही सहज रूपों में होता है। लेकिन 21वीं सदी का समाज बहुत बदल चुका है जिसका मुख्य कारण सहज रूप में सभी चीजों का मार्केटिंग अर्थात बाजार और सूचना प्रौद्योगिकी पर समाज के लोगों का आश्रित होना है।

**भारतीय ज्ञान परम्परा और मानवीय मूल्य :** भारतीय संस्कृति सदैव से मानवीय मूल्यों की पोषक रही है। हमारे शास्त्रों में "वसुधैव कुटुम्बकम" (सम्पूर्ण विश्व एक परिवार है ) और "सर्वे भवन्तु सुखिन:" (सब सुखी हो) जैसे अवधारणाए मानवता के सार्वभौमिक आदर्श को प्रस्तुत करती हैं। ये मानवीय मूल्य आज वैश्वीकृत समाज में न केवल भारत के लिए, बल्कि सम्पूर्ण मानव कल्याण का सूचक है। भारतीय ज्ञान परम्परा का मूल उद्देश्य केवल बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करना नहीं, बल्कि जीवन की समग्रता को समझना रहा है। भारतीय ज्ञान परम्परा के आधार ग्रंथों में वेद, पुराण, न्याय, मीमांसा, उपनिषद, महाकाव्य-रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत गीता, धर्मशास्त्र, बौद्ध दर्शन व अन्य दार्शनिक विचार सभी ने मानव कल्याण व समरसता की भावना को सर्वोपरि माना है।

**वेदों में**- ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद तथा **उपवेदों** में शामिल गान्धर्व, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद इन सभी का समाहार भारतीय ज्ञान के सबसे प्राचीन स्रोत हैं, जिनमें धर्म, विज्ञान, गणित, और दर्शन से सम्बंधित जानकारी मिलती है।

**उपनिषद :** ये ग्रन्थ ज्ञान के मूलभूत स्रोत है जो आत्मा और ब्रह्मा के सम्बन्ध पर चर्चा करते हैं । उपनिषदों की कुल संख्या 108 है जैसा कि मुक्तिकोपनिषद में बताया गया है। उपनिषद भारतीय चिंतन के मूल आधार हैं । उपनिषद चिन्तनशील ऋषियों की ज्ञानचर्चाओं का सार होता है।

**दर्शन :** भारतीय दर्शन को मुख्य रूप से आस्तिक (वैदिक) और नास्तिक (अवैदिक) दो श्रेणियों में बांटा गया है। आस्तिक दर्शन वेदों को मानते हैं, जिसमें षड्दर्शन (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदांत) शामिल हैं। जिसमें तर्क और अनुभव के माध्यम से ज्ञान को विकसित करते हैं। नास्तिक दर्शन वेदों को नहीं मानते हैं- जिसमें चार्वाक, जैन और बौद्ध धर्म शामिल हैं।

षड दर्शन में शामिल **न्याय दर्शन** - जो कि तर्क और प्रमाण पर केन्द्रित होता है। **वैशेषिक दर्शन** – यथार्थ के मूल तत्वों का विश्लेषण करने वाला दर्शन है। **सांख्य दर्शन** - सृष्टि की उत्पत्ति और प्रकृति की व्याख्या करने वाला दर्शन है। **योग दर्शन**- सांख्य के दार्शनिक विचारों को व्यवहारिक रूप देता है, विशेष रूप से ध्यान और मानसिक नियंत्रण के माध्यम से मुक्ति प्राप्त करने पर बल देता है। **मीमांसा दर्शन** - वैदिक कर्मकांडों और उनके अनुष्ठानों की व्याख्या करता है। उपनिषदों में निहित ज्ञान पर आधारित ब्रह्म और आत्मा के संबंधों की व्याख्या करता है।

**महाकाव्य और स्मृतियाँ** : महाभारत, रामायण और संस्कृत परम्परा के महाकाव्यों में अन्य महाकाव्य जैसे बुद्धचरित, रामचरितमानस, रघुवंशमहाकाव्य, कुमारसंभवम, भारवि कृत किरातार्जुनीय, माघ कृत शिशुपालवधम् और माघ का नैषधीयचरितम और मनुस्मृति जैसे ग्रन्थ राजनीति, नैतिकता और सामाजिक जीवन के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत करते हैं।

भक्ति आन्दोलन के दौर में संत साहित्य व संत कवियों में कबीर, रैदास, व अन्य भक्ति कवियों में तुलसीदास, सूरदास और मीराबाई, जैसे संतों की रचनाओं ने भारतीय ज्ञान परम्परा को लोकभाषा के माध्यम से ज्ञान को आम जनता तक पहुँचाने में अहम भूमिका अदा की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय वांग्मय (ज्ञान) परम्परा की सुस्पष्ट संरचना रही है। जिसमें रहते हुए भारतीय ज्ञान परम्परा नदी की भांति प्रवाहित होती रहती है। तथा अपने आपको व्यवस्थित और पुन: व्याख्यायित करती है। इस तरह से भारतीय ज्ञान परम्परा सतत प्रवाहित परम्परा है। भारतीय दृष्टि में ज्ञान का अर्थ मात्र सूचना नहीं बल्कि आत्मबोध है। "सा विद्या या विमुक्तये" अर्थात वह विद्या जो मनुष्य को मुक्ति प्रदान करे। किससे- अर्थात अज्ञान, अहंकार और स्वार्थ से ।

भारतीय ज्ञान परम्परा में वर्णित मानवीय मूल्यों से तात्पर्य सार्वभौम मूल्यों से है। अर्थात वह मूल्य जिसको सामाजिक तौर पर समाज महत्त्व देता है। भारतीय ज्ञान परम्परा के वे मूल्य जो देश, काल, सीमा, जाति, बंधन, लिंग, समुदाय से परे होकर सभी पर समान भाव से लागू होते हैं । जैसे- योग दर्शन व बौद्ध परम्परा के पांच सिद्धान्त जिसे यम (पंचशील) भी कहा जाता है- **सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य**। यह सिद्धांत या कहे मूल्य भारतीय ज्ञान परम्परा में सार्वभौम रुप से सभी मानव जीवन कल्याण के लिए मानवीय मूल्यों में समान रूप से शामिल हैं। ये साधारण धर्म हैं जो सभी के लिए समान होते हैं । कहते हैं - धर्म (सत्य) की जो रक्षा करता है धर्म उसकी भी रक्षा करता है। जैसे सत्य और अहिंसा इसकी रक्षा करने से स्वयं की भी रक्षा होती है। हिंसा तब मूल्य के रुप में मानी जा सकती है जब वह हिंसा का रूप बदल दे। अर्थात किसी असहाय की रक्षा करना एक मूल्य है। इस लिए अहिंसा हमारे लिए केवल मूल्य नहीं हो सकता है यह साधारण धर्म है लेकिन यह समय और परिस्थिति के अनुसार असाधारण भी हो सकती है। इन्हीं के साथ धैर्य और वीरता भी मूल्यों में शामिल होते हैं।

**सत्य** (Truth) यह सनातन धर्म है कि 'सदा सत्य बोलना चाहिए।' सत्य प्रिय बोलना, सत्य बोलना मगर असत्य प्रिय नहीं बोलना। ऐसे में मौन रहना ज्यादा श्रेष्कर होता है। यह असत्य न बोलने के क्रम में सत्य मूल्य में आ जाता है।

**अस्तेय :** चोरी न करना अर्थात चोरी से बचे। यह मूल्य मुख्य रूप से जड़- मूल अर्थात- मूल्य । इससे जुड़े रहना बहुत जरुरी हो जाता है इसके बिना समाज का बनना संभव नहीं हो सकता । समाज की संरचना के लिए सत्य आवश्यक होता है जिससे लोग एक दूसरे से जुड़े और एक दूसरे का सम्मान करें।

ब्रह्मचर्य मूल्य: इसका उद्देश्य है हमारी योनिकता को संतुलित करना, जिससे समाज भी संतुलित रहता है।

**अपरिग्रह :** लालच और भौतिक चीजों से बचना अर्थात केवल आवश्यक वस्तुओं को रखना। ऐसे में दान की वस्तु को भी न स्वीकारना। इच्छाओं को अपने वश में रखना एक आधारभूत मूल्य है। इसके अतिरिक्त पांच यम (शौच, संकोच, प्रतिज्ञा, ईश्वर और विनम्रता ) हैं। शौच: पवित्रता -शरीर-दिमाग-सोच- विचार । यानी 'मन, वाणी और कर्म' से सदाचारी होना। वह व्यक्ति जो अपने मन, वाणी और कर्म से एकनिष्ठ हो वह अच्छा व्यक्ति माना जाता है। इससे इतर दुराचारी ।

**विनम्रता :** विनम्रता के सम्बन्ध में कालिदास का एक कथन है- 'मैं मंदबुद्धि हूँ लेकिन मैं कवि के यश को प्राप्त करना चाहता हूँ।' यह कथन एक श्रेष्ठ प्रतिष्ठित कवि के विनम्रता की पहचान है ।

हमारे भारतीय ज्ञान परम्परा में **प्रतिज्ञा** की एक लम्बी परम्परा रही है। प्रतिज्ञा से तात्पर्य सत्य की रक्षा करना है – हमारे महाकाव्य रामायण और महाभारत की सम्पूर्ण कहानी प्रतिज्ञा के इर्द-गिर्द ही घूमती है चाहे वह दशरथ की प्रतिज्ञा हो या भीष्म पितामह की अटल प्रतिज्ञा।

**निष्काम कर्म-** से सम्बन्धित मूल्य की बात श्रीमद भागवत गीता में कहा गया है। अपने आपको कर्ता समझना एक प्रकार का अहंकार है, विनम्रता विरोधी है। जब हम अपने जीवन में लाभ-हानि को ध्यान में रखकर कर्म को करते हैं तो वह सकाम कहलाता है अगर इसके बिना कर्म करते हैं तो उसे निष्कर्म कर्म कहा जाता है। भारतीय ज्ञान परम्परा की एक समृद्धिशाली परम्परा रही है जिसका मुख्य उद्देश्य मानवीय मूल्यों को स्थापित करना और विश्वशांति की अवधारणा को अग्रसर करना रहा है।

**भारतीय समाज पर वैश्वीकरण का प्रभाव :** आज का युग वैश्वीकरण का युग है – जहाँ संसार एक 'वैश्विक गावं' के रूप में विकसित हो चुका है। सूचना, तकनीक और पूँजी के प्रवाह ने देशों की सीमाएं लगभग मिटा दी हैं। लेकिन इस

बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि वैश्वीकरण की इस प्रक्रिया ने भौतिक प्रगति के साथ-साथ आध्यात्मिक शून्यता और नैतिकता तथा मानवीय मूल्यों का ह्रास हुआ है। वैश्वीकरण के प्रभाव से पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों में कमी आई है। नैतिक शिक्षा और मानवीय मूल्यों का स्थान भौतिक सफलता व आभासी दुनिया में दिखावटी व्यवहार ने ले लिया है। पश्चिमी जीवन शैली की अन्धानुकरण ने सांस्कृतिक पहचान को चुनौती दी है। वैश्वीकरण ने जहाँ विश्व को जोड़ने का कार्य किया उसका वह नजरिया नहीं है जैसा कि भारतीय ज्ञान परम्परा में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (पूरा विश्व एक परिवार है) का रहा है। वर्तमान परिदृश्य में वैश्वीकरण का तात्पर्य – (पूरा विश्व बाजार है) जिसका मुख्य वाहक बाजार और सूचना प्रौद्योगिकी है जिसके माध्यम से पूरे विश्व में व्यापार प्रवाह को बढ़ावा मिल रहा है। जिसका उद्देश्य केवल नफा कमाना है । जहाँ तक भारतीय मानवीय मूल्यों की विशेषता की बात है वे सार्वभौमिक (universal) हैं- अर्थात यह केवल भारत के लिए ही नहीं बल्कि समस्त विश्व कल्याण की भावना से समस्त मानव जाति के लिए उपयोगी है । मानवीय मूल्यों और उसकी प्रासंगिकता की बात करें तो वैश्वीकृत समाज भारतीय ज्ञान परम्परा के मूल्यों को आत्मसात कर अपने बदलते परिदृश्य के साथ सार्थक सिद्ध कर सकता है।। जैसे- वसुधैव कुटुम्बकम की अवधारणा वैश्विक एकता और मानवाधिकार की बात सम्पूर्णता में कहती है।

"अयं निज: परो वेति गणना लघुचेतसाम।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम ।। "(महोपनिषद,अध्याय 4, श्लोक 71)

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि मशीन जैसे यंत्रों की निर्मिती करने वाला मनुष्य स्वयं मशीन बनता जा रहा है। आभासी दुनिया का आकर्षण दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। अगर ऐसे ही होता रहा तो वास्तविकता मिट जाएगी और हम मशीन के पूरी तरह गुलाम हो जाएंगे। हमारी सांसे मशीन के ऊपर निर्भर करेंगी । हम शुद्ध हवा पानी के अधिकारी तभी होंगे, जब हमारे पास मशीन होगी। वरना प्रकृति प्रदत्त तत्व जो हमारे लिए रक्षक हैं वहीँ हमारी गलतियों की वजह से जान लेवा सिद्ध होंगें । वैश्वीकृत समाज में अगर ऐसे ही लगातार परिवर्तन होते रहे तो मानवीय सम्वेदनाएँ सूखती जाएंगी और टेक्नोलोजी अपना शक्ति प्रदर्शन करती हुई रोबोट समाज की निर्मिती करने में सफल सिद्ध होगी। जिसमें वास्तविक मनुष्य की खोज कर पाना मनुष्य के लिए ही असम्भव हो जाएगा । 21वीं सदी का अंत का समय मशीनीकृत टेक्नोलोजी और सूचना संचार का होगा । जिसे **'पोस्ट मोर्डन सोसाइटी'** की संज्ञा दी जा सकती है। यह समाज मानव समाज या कहे प्रकृति प्रदत्त समाज कम **रोबोटिक सोसाइटी** की संज्ञा पा सकेगा। भारतीय ज्ञान परम्परा में विद्यमान साहित्य की एक समृद्धि परम्परा के ज्ञान को आत्मसात करके वर्तमान समाज की संरचना को मानव केन्द्रित प्रगति से जोड़ा जा सकता है। जिसमें निहित सार्वभौम मूल्य समस्त मानव कल्याण की प्रगति चाहता है। भारतीय ज्ञान परम्परा मानव जीवन के उस दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है जहाँ भौतिक उन्नति के साथ आध्यात्मिक विकास का समन्वय होता है।

**सहायक ग्रन्थ सूची :**

1. ईशादि नौ उपनिषद –गीता प्रेस, गोरखपुर
2. संपादक कौशिक अशोक, श्री मद्भागवत गीता (संस्कृत,हिन्दी,अंग्रेजी)प्रकाशन- स्टार पब्लिकेशन नई दिल्ली 02
3. काबरा, कमल नयन, वैश्वीकरण के भँवर में भारत, प्रकाशन संस्थान,नई दिल्ली,सं.2008
4. डक, डॉ टी.एम., सामाजिक चिन्तन (भाग दो), हरियाणा साहित्यप्रकाशन अकादमी,चंडीगढ़
5. दुबे, अभय कुमार. (सम्पादक), भारत का भूमण्डलीकरण, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली-110002
6. पंडित, सुरेश, वैश्वीकरण के दौर में समाज और संस्कृति, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली-110032
7. बी.के. नागला, भारतीय समाज शास्त्रीय चिन्तन, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली110002
8. सिन्हा, सच्चिदानंद, वैश्वीकरण की चुनौतियाँ, संपादक-विमलेश कान्ति वर्मा, भाषा साहित्य और संस्कृति मालती ओरियंट ब्लैकस्वान, प्राइवेट लिमिटेड नई- दिल्ली

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-212-218

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 212-218
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**प्रो. (डॉ.) राजमोहिनी सागर**

हंसराज महाविद्यालय, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

Corresponding Author :

**प्रो. (डॉ.) राजमोहिनी सागर**

हंसराज महाविद्यालय, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

## भारतीय संत परम्परा और दादूदयाल की भक्ति भावना

**शोध पत्र :** संत सत् का एक रुप है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से संत शब्द संस्कृत के सत् शब्द से बना है। जिसका अर्थ है सत्य, सदाचारी तथा शुभ। संत में सत्य का बोध होता है। संत सत्य के प्रति अनंत आस्था रखता है। एकनिष्ठ भाव से सत्य के सम्यक् दर्शन द्वारा अपने जीवन को ढ़ालकर जीव और जगत के प्रति आदर्श और व्यापक जीवन दृष्टि रखने वाला व्यक्ति ही संत कहलाता है। संत का स्वरुप ईश्वर सदृश्य होता है। गुणों के आधार पर जिनमें भगवत् परायणना, निरपेक्षता, शांति, मोह का अभाव, अहंकारशून्यता, द्वंदहीनता और अपरिग्रह आदि गुण रहते हैं, वे ही संत कहलाते हैं।

पाणिनी के अष्टाध्यायी सूत्र के अनुसार संतों में ब्रह्मानंदसम्पन्न व्यक्ति होते है। यही विशिष्टता एवं विशेषता संतों को सामान्यजन से पृथक करती है। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता के ब्रह्मावली खंड के अनुसार संत ब्रह्मा के अस्तित्व को साकार रुप प्रदान करता है। संतों के जीवन में आत्मा के आठ गुणों का विकास होता है। इन आठ गुणों का वर्णन 'गौतम स्मृति' में इस तरह मिलता है, "दया सर्वभूतेष वाँतिरनुसूया शोचम नायांसे मंगलकार्यव्यमस्पृहा।"

बृहस्पति स्मृति के अनुसार क्षमा, असूया, मंगल कार्य आदि को नियमित रूप से करने वाला ही संत है। श्रीभगवतगीता में भगवान श्रीकृष्ण ने संतों की चर्चा करते हुए कहा है कि 'जो सुख और दुख दोनों को समान भाव से देखता एवं ग्रहण करता है जिसे अपने मान-सम्मान, स्तृति एवं निंदा की चिंता नहीं रहती और जो सदैव धैर्यपूर्वक निष्काम भाव से काम करता है, वहीं संत है।'

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल निर्गुण और सगुण दो शाखाओं में बँटा हुआ है। सगुण शाखा के अंतर्गत राम-कृष्ण भक्ति आती है और निर्गुण के अंतर्गत संत तथा सूफियों का काव्य आता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नामदेव एवं कबीर द्वारा प्रवर्तित भक्तिधारा को निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा नाम दिया है वहीं डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे

निर्गुण भक्ति साहित्य और डॉ. रामकुमार वर्मा ने इसे संत काव्य परम्परा का नाम दिया हें

संत परम्परा के प्रारंभिक युग (संवत 1200 से 1550) का सूत्रपात संत जयदेव से लेकर संत धन्ना भगत तक माना जाता है। इस युग के संतों ने अपने उपदेशों का प्रचार स्वतंत्र रुप से किया। मध्ययुग में संत युग दो भागों में बांटा जा सकता है। पूर्वार्द्ध (सं. 1550-1700) युग। इस काल के प्रमुख संतों में संत गुरु नानक देव, दादूदयाल, संत मलूकदास आदि आते है तथा इसके उत्तरार्द्ध के प्रधान संतों में संत रज्जब जी, सुंदरदास, बाबा कीनाराम, संत दरिया साहब, गरीबदास आदि का नाम आता है।

संत परम्परा के मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में पंथों का संगठन होने लगा था। वहीं उत्तरार्द्ध में सामूदायिक प्रवृत्ति और आधुनिक काल में पुनरुद्धार की तथा विश्वकल्याण की भावना बलबती होने लगी थी। विक्रम की 7वीं शताब्दी से प्रारंभ होने वाली संत परम्परा आगे चलकर विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों एवं मतों सें पुष्ट होकर 15वीं शताब्दी तक अविरल प्रवाहित होती रही। इसके पश्चात इसे विशिष्ट नामों से जाना जाने लगा। पं. परशुराम चतुर्वेदी ने जयदेव से ही संत परम्परा का प्रारंभ माना है परन्तु आचार्य रामचंद शुक्ल ने इसकी शुरुआत नामदेव से स्वीकार की है। संत साहित्य का श्रीगणेश गीत गोविंद के रचयिता जयदेव से हुआ था परन्तु यह धारा क्षीण होती चली गई किन्तु नामदेव के द्वारा इस अव्यवस्थित रेखा को व्यवस्थित एवं प्रांजल रूप प्रदान किया गया। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध नामदेव ने हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए भक्ति का एक सीधा सरल मार्ग प्रस्तुत किया। यहीं से संत परम्परा का सुव्यवस्थित अविर्भाव माना जा सकता है।

सर्वप्रथम कबीरदास ने अपने कुछ विचारों को स्वतंत्र रूप को अभिव्यक्त करना आरंभ किया। धन्ना, पीपा, रैदास आदि भी इन्हीं विचारों से प्रेरित थे। ये सभी संत रामानंद को अपना गुरु मानते थे। स्वामी रामानंद के उपदेशों से प्रभावित होकर ही संत परम्परा का श्रीगणेश हुआ। कबीर एंव उनके समकालीन संतों को संत परम्परा के प्रारंभिक संत कवि माना जाता है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल भारतीय सांस्कृतिक चेतना से युक्त एक महत्वपूर्ण युग माना जाता हे। मध्यकालीन समाज में जब धार्मिक आडंबर, जातिगत भेदभाव, बाह्याचार तथा रुढ़ियाँ, कर्मकांड तथा सामाजिक विषमता व्यापक रुप से विद्यमान थे तब संत कवियों ने मनुष्य समाज को आत्मानुभूति, प्रेम, करूणा, सदाचार और मानवीय मूल्यों से जोड़ने का कार्य किया। कबीर, रैदास, गुरु नानक और दादूदयाल जैसे संतों ने लोकजीवन के बीच रहकर उस आध्यात्मिक चेतना को स्वर दिया जिसने मनुष्य को कर्मकांड से मुक्त करके भक्ति को अंतर्मन से जोड़ा। इसी संत परम्परा में दादूयाल का विशिष्ट स्थान है।

दादूदयाल 16वीं सदी के एक महान संत, रहस्यवादी कवि और धार्मिक सुधारक थे जिन्हें 'राजस्थान का कबीर' भी कहा जाता है। उनका जन्म सन 1544 में गुजरात के अहमदाबाद में हुआ। दादू पंथियों की मान्यतानुसार दादूदयाल किसी कुंवारी, ब्राह्मणी की अनैच्छिक संतान थे जिसे उन्होंने लोकलाज के भय से साबरमती नदी में बहा दिया था। लोदीराम नामक ब्राह्मण को ये साबरमती नदी तट पर अहमदाबाद में मिले थे। इसी आधार पर दादूदयाल को गुजराती ब्राह्मण माना गया। जबकि शिष्य रज्जब के अनुसार वे धुनिया (रुई धुनने वाली जाति) से थे- 'धुनी ग्रभे उत्पन्नों दादू योगेन्द्रो महामुनिः।'

इसके अलावा एक मत इनको काशी का मोची तो दूसरा मत बंगाल का मुसलमान भी बतलाता है। कहने का आशय यह है कि जाति को लेकर भी विद्वान एकमत नहीं है। गुरु के रूप में दादूदयाल रामानंद की शिष्य परम्परा में जोड़े गए है तो कुछ सूफियों के कादिरी सम्प्रदाय से इनका सम्बंध मानते हैं। दादूदयाल कबीर की भाँति ही निरक्षर थे। वे सायास कवि नहीं थें। उन्होंने जिन धार्मिक, आध्यात्मिक व सामाजिक अनुभवों को संजोया, उन्हीं संवेदनाओं को पिरोकर कविताओं में अभिव्यक्त किया। दादूदयाल की कविताओं को लिखने व संकलित करने का कार्य मोहन जी

'दफ्तरी' ने किया। दादूदयाल के काव्य को व्यवस्थित करने का श्रेय रज्जब (अंगवधू) तथा संतदास व जगन्नाथ दास (हरडेवाणी) को है। दादूदयाल की समस्त रचनाओं के संकलन व संपादन का स्तुत्य कार्य परशुराम चतुर्वेदी ने किया। उनके ग्रंथ का नाम 'दादूदयाल ग्रंथावली' है, जो काशी नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित है। दादूदयाल मध्ययुग के प्रसिद्ध घुमक्कड़ संतकवि थे। इन्होंने बिहार, बंगाल, गुजरात तथा राजस्थान आदि प्रान्तों में लंबी यात्राएँ की थीं। दादूदयाल की कर्मस्थली तथा साधनास्थली राजस्थान के जयपुर के निकट का नरैना नामक स्थान है और यहीं उनका देहावसान माना जाता है। यह स्थान दादूपंथियों का सर्वप्रमुख केन्द्र हैं। यहां पर दादू के वस्त्र, पोथियों तथा खडाऊँ आदि संरक्षित है। दादूपंथी निर्गुण निराकार निरंजन ईश्वर के उपासक होते है तथा आपस में 'सतनाम ' कहकर अभिवादन करते हैं। यह लोग न तिलक लगाते है और न ही माला आदि धारण करते हैं।

'मनुष्य को महत्व देना ही' भक्ति आंदोलन की बुनियादी भावना थी। दक्षिण एवं उत्तर के मध्य सेतु माने जाने वाले रामानन्द ने भगवद्-भक्ति के क्षेत्र में किसी विभेद को मानने से स्पष्ट इंकार कर दिया। यह पहला अवसर था जब उपासना के क्षेत्र में सभी मनुष्यों को समान बतलाया गया। भक्ति युग के प्रत्येक कवि ने परंपरागत भारतीय समाज व्यवस्था में मनुष्यता के पूर्वनिर्मित साँचों जैसे- वर्ग, वर्ण, जाति, संप्रदाय, प्रादेशिक अस्मिता को दरकिनार कर दिया।

भक्तिकालीन निर्गुण धारा के कवियों में यह जातिपाँति विरोधी समतामूलक चेतना प्रखरतम रूप में सामने आई। कबीर इस भावना के सबसे शक्तिशाली उद्घोषक हैं। उनके विरोध का तेवर काफी उग्र एवं ध्वंसात्मक है। दादूदयाल जी कबीर को अपना मार्गदर्शक घोषित करते हैं। उनके भीतर का विद्रोही तेवर कबीर, जैसा न होकर मधुर एवं समन्वयात्मक है। वे अवश्य समाज के निचले तबके से आते हैं। किन्तु उनके यहां जाति को लेकर किसी प्रकार की हीनभावना नहीं मिलती है अपितु रविदास जैसा गहरा आत्मविश्वास मिलता है-

"दादू कुल हमारै केसवा, सगात सिरजनहार।
जाति हमारी जगतगुर, परमेस्वर परिवार।।
दादू एक सगा संसार में, जिनि हम सिरजे सोई।
मनसा वाचा क्रमना, और न दूजा कोई ।।"[1]

दादू भी 'शास्त्र' की जगह 'लोक' को प्रतिष्ठित करते हैं। वह पुस्तकीय ज्ञान अर्थात् 'कागद की लेखी' से अलग हटकर 'आँखिन देखी' को तरजीह देते है। अनुभवप्रभूत सत्य को ही वे अंतिम सत्य स्वीकारते हैं। दादूदयाल की स्पष्ट समझ है कि शास्त्राधारित ज्ञान के सहारे भवसागर रूपी संसार को पार नहीं किया जा सकता-

"मसि कागद कै आसरै, क्यूं छुटै संसार।
राम बिना सुझै नहीं, दादू भरम विकार।।[2]

दादूदयाल भी अन्य निर्गुण संत कवियों की भाँति ईश्वर की साधना के लिए मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता पर बल देते है। प्रभु की सच्ची साधना के लिए शुद्ध अंतःकरण की आवश्यकता है। इसके लिए मूंड मूड़ाने, जटा - जूट बढ़ाने या वन में जाने की जरूरत नहीं है। दादू के अनुसार ईश्वर सबके भीतर विद्यमान है। इसके लिए हमें कहीं बाहर जाने की जरूरत नहीं है। शुद्ध हृदय से ईश्वर के स्मरण मात्र से ही ईश्वर से साक्षात्कार संभव है। दादू कहते हैं -

"दादू केई दौड़े द्वारिका, केई काशी जाहिं।
केई मथुरा कौं चले, साहिब है घटही माहिं।।"[3]

दादू, सिद्धांत और व्यवहार का अंतर समझते हैं। वह मानते है कि ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में आने वाली सबसे बड़ी बाधा यह सिद्धांत और व्यवहार का अंतर ही है। सिद्धांत एवं व्यवहार में जब एकता होगी। तभी मुक्ति संभव है। वह कथनी व करनी का विभेद नहीं स्वीकारते। दादू बतलाते है जिनकी कथनी और करनी में अंतर है, उनका कहीं

आसरा नहीं है-

"अंतरगति औरै कछू, मुष रसना कछू और।
दादू करणी और कछू तिनकूं नाहिं ठौर।।"[4]

अन्य निर्गुण संत कवियों की तरह ही दादूदयाल भी गृहस्थ हैं। उनकी मान्यता है कि ईश्वर-प्राप्ति के लिए संसार त्याग कर वैराग्य धारण करने की जरूरत नहीं है अपितु संसार में रहते हुए सांसारिक मोहमाया त्यागने की आवश्यकता है। संसार में रहते हुए सांसारिक क्रियाकलापों को करते हुए भी ईश्वर का साक्षात्कार संभव है। बस इसके लिए ईश्वर को श्रद्धापूर्वक शुद्ध अतःकरण से याद करना चाहिए। भगवद् भक्ति के लिए भावना महत्वपूर्ण है न कि स्थान। दादू के शब्दों में-

"ना घर भला ना बन भला, जहाँ नहिं निज नाँव।
दादू उनमनि मन रहे, भला न सोई ठाँव।।"[5]

'प्रेम' भक्ति आंदोलन के कवियों का प्रमुख विषय है। भक्ति आंदोलन का हर कवि प्रेम का अमर गायक है, चाहे वह सूरदास, तुलसीदास हो या कबीर, जायसी या फिर मीरा। सभी ने अपनी काव्य संसार में प्रेम की ही अभिव्यजंना की है। दादू भी अपनी कविताओं में प्रेम को ही चित्रित करते हैं। उनकी मान्यता है यह प्रेम ही है जो संसार को एक सूत्र में बाँधता है। प्रेम के बिना संसार सारहीन है। प्रेम ईश्वर का प्रतिरुप है। दादू के शब्दों में-

"इश्क अलह की जाति है, इश्क अलह का अंग।
इश्क अलह का अवजूद है, इश्क अलह का रंग।।"[6]

प्रेम ही वह तत्व है जो आत्मा और परमात्मा को मिला देता है। और उनमें पृथक सत्ता का भाव शेष नहीं रहता। दादू के शब्दों में :-

"दादू दरिया प्रेम का तामैं झुलै दोइ।
इक आतम परमातमा, एकमेव रस होइ।"[7]

अन्य संत कवियों की तरह दादू के यहां प्रेम विशुद्ध है, अनिर्वचनीय है, अकथनीय है, दिव्य है, निर्मल है। यह रस हर जगह उपलब्ध नहीं हैं। यह रस केवल सत्संग में मिलता है।

"दादू पाया प्रेम रस, साधू संगति मांहिं।
फिरि फिरि देखे लोक सब, यह रस कतहूं नाहिं।।"[8]

दादू बतलाते है कि प्रेम की अनुभूति समझने के लिए पुस्तकीय ज्ञान (विभिन्न ग्रंथों से अभिप्राय) की आवश्यकता नहीं है। सही मायने में पंडित वहीं है जो प्रेम की संवेदना और भाषा समझता हो-

"दादू पाती प्रेम की, बिरला बांचे कोइ।
वेद पुरान पुस्तक पढ़े, प्रेम बिना क्या होइ।"[9]

दादूदयाल मूलतः संत कवि है, दार्शनिक नहीं। फिर भी उनकी कविताओं में दर्शन व तत्वमीमांसा से संबंधित विषयों पर सार्थक एवं मौलिक अभिव्यक्ति मिलती है। भक्तिकाल के महत्वपूर्ण समालोचक मैनेजर पाण्डेय दादू की विशिष्टता को चिन्हित करते हुए लिखते है - "दादूदयाल की दार्शनिक दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता है- सहजता। उसमें कहीं चौकाने की चेष्टा नहीं है। उसमें जटिलता भी नहीं है, न विचार में, न भाषा में। दादू किसी तरह के विवाद में नहीं पड़े। उनकी दार्शनिक दृष्टि हृदय के विवेक से उपजी है, बौद्धिक व्यायाम से नहीं। यही कारण है कि वह साधारण जन के लिए सहज, सुलभ और सुगम है।"[10]

दादू की मान्यतानुसार ईश्वर एक है। उसी अव्यक्त ईश्वर की व्यक्त अभिव्यक्ति संसार है। अनेकत्व में एकत्व की अनुभूति कर लेना ईश्वरत्व की प्राप्ति है। धरती के सभी जीवों में ईश्वर का वास है। अतः उन्हें किसी भी तरह का कष्ट देना

सहीं नहीं है -

"काहे को दुष दीजिए। साई है सब माहिं।
दादू एकै आत्मा। दूजा कोई नाहीं।।[11]

माया के वशीभूत होकर मनुष्य सांसारिक प्रपंचों को सत्य मान लेता है किन्तु हकीकत में पृथ्वी अवास्तविक और क्षणभंगुर है। मनुष्य सांसारिक फेर में पड़कर अपना अनमोल जीवन व्यर्थ गवाँता जाता है और जन्म और मृत्यु के चक्र में चौरासी लाख योनियों तक फँसा रहता है।

"दादू चौरासी लष जीत की परकीरति घट मांहिं।
अनेक जन्म दिन के करै कोई जाणै नाहिं। ।"[12]

दादू बतलाते है कि परिवार व पारिवारिक संबंध झूठे होते हैं। लोग केवल स्वार्थवश एक दूसरे से जुड़े होते है। उनके अनुसार मनुष्य का सच्चा मित्र ईश्वर और गुरु होता है।

"दादू आप सुवारथ सब सगै, प्राण सनेही नाहिं |
प्राण सनेही राम है, कै साधू कलि मांहि। ।
सुष का साथी जगत सब, दुष का नाहीं कोई।
दुख का साथी साईयां, दादू सतगुर होइ।।"[13]

दादू के अनुसार ईश्वर ने सबको बनाया है। उसके समक्ष सभी समान है। अमीर-गरीब, छोटा-बड़ा, उच्च-निम्न का भेद मानव निर्मित है। जगत् में वहीं अमीर-बड़ा-ऊँचा है, जिसने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया हो-

"दादू सब जग नीधना, धनवंता नहीं कोई।
सो धनवंता जाणिए, जाकै राम पदारथ होई।।"[14]

दादू संसार के लिए संतों को महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार संत वह व्यक्ति होता है जो मायारहित व दुर्गुणरहित होता है। वह अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के प्रभाव से दूसरे व्यक्तियों को भी बचाने का प्रयास करता है। संत दोषमुक्त समाज में पूर्णतः निर्दोष व्यक्ति होता है। दादू ने संतों को आदर्श के रुप में प्रस्तुत किया है। वे कहते है -

"दादू इस संसार में, ए दोइ रत्न अमोल।
इक साँई इंक संतजन, इनका मोल ना तोल।।"[15]

उनका मानना है कि संत भगवत्-प्राप्ति का मार्ग जानता है। संत के बिना मानव मुक्ति संभव नहीं है। संसार में केवल ईश्वर और संत ही अमूल्य होते हैं।

जीवन एवं जगत के संदर्भ में दादू की अपनी मौलिक विचारधारा है। जो कवि की निजी अनुभूतियों से प्रेरित एवं संचालित है। दादू के संदर्भ में समीक्षक मैनेजर पाण्डेय की यह बात अक्षरशः लागू होती है- "भक्ति आंदोलन के प्रत्येक महत्वपूर्ण कवि की एक अपनी विश्वदृष्टि है अर्थात् जीवन और जगत की वास्तविकताओं तथा संभावनाओं के बारे में कवि की एक दार्शनिक दृष्टि है। लेकिन वह विश्वदृष्टि किसी शास्त्रीय दर्शन से अनुशासित नहीं है। उसके मूल में कवि का अपना अनुभव है; एक ओर लोक जीवन की वास्तविकताओं का अनुभव है और दूसरी ओर भक्ति भावनाओं की विभिन्न अवस्थाओं का व्यक्तिगत अनुभव। इन्हीं अनुभवों से भक्ति कवियों की विश्वदृष्टि बनी है।"[16]

भक्तियुग के कवियों का राजाओं व उनके राजदरबारों से कोई लेना-देना नहीं था। भक्तियुग के संतों को 'सिकरी' से भी कोई सरोकार नहीं था। वे या तो अपनी आजीविका खुद चलाते थे या फिर मंदिरों या मठों से जुड़कर जीविकोपार्जन से मुक्त थे। भक्तियुगीन निर्गुण काव्यधारा के कवि अपनी आजीविका खुद कमाने वालों में से थे। वह दूसरों की कमाई खाना ठीक नहीं समझते थे। दादूदयाल ने भी अपनी आजीविका खुद अर्जित की। किन्तु ऐसा भी नहीं है कि उन्हें 'सिकरी' से परहेज था। दादू इस दृष्टि से सभी भक्तियुगीन कवियों में अलहदा है, उन्होंने अकबर के आमन्त्रण

पर फतेहपुर सिकरी की यात्रा की थी। अकबर दादू की प्रतिभा से बेहद प्रभावित थे। अकबरी दरबार में 40 दिनों तक धर्म-दर्शन के विभिन्न विद्वानों के साथ दादू की चर्चा परिचर्चा चली। मान्यता है कि दादू ने अकबर को ईश्वर का दर्शन कराया तथा उनका सिंहासन भी दिखलाया। दादू से प्रेरित होकर ही अकबर ने गोकशी (गाय की हत्या) बंद करने को लेकर शाही फरमान सुनाया। अकबर ने दादू को जाते समय कुछ उपहार भी देना चाहा किन्तु उन्होंने कुछ भी ग्रहण करने से स्पष्ट मना कर दिया। दादू कहते हैं -

"साध न कोई पग भरे, कबहूँ राज दुवारि।
दादू उलटा आपमें, बैठा ब्रह्म विचारि।।"[17]

दादू अत्यंत संतोषी प्रवृत्ति के संत हैं। उन्होंने संतोष को ही सब कुछ मान लिया है। वह मानते है कि जिस ईश्वर ने भूख दिया है वहीं भोजन भी देगा। इसलिए मनुष्य को व्यक्तिगत जीवन के संदर्भ में विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

दादूदयाल सर्वधर्म समभाव की भावना के समर्थक थे। वह असलियत समझते हैं कि सभी धर्म ईश्वर तक पहुंचने के अलग-अलग मार्ग भर है, गंतव्य तो सबका एक ही है। दादू कहते हैं-

"दादू सिरजनहार के, केते नांव अनंत |
चिति आवै जो लीजिए, यूं साधू सुमिरैं संत।।[18]

मध्ययुगीन भारतीय इतिहास में धर्म को लेकर संघर्ष चरम पर था। ऐसे विषम परिस्थिति में भी दादू हिन्दू - मुस्लिम विवाद में समन्वयक के रूप में नजर आते हैं। वह हिन्दू एवं मुस्लिम दोनों धर्मों में व्याप्त विसंगतियों एवं मानवद्रोही मान्यताओं पर खुलकर चोटें करते हैं। हिन्दू - मुस्लिम दोनों धर्मों को पास लाने की वे हर संभव कोशिश करते हैं। वे कहते हैं -

"अलष इलाही एक तू। तू ही राम रहीम।
ही मालिक मोहना। कैसो नाव करीम।"[19]

दादू हिन्दू एवं मुस्लिम धर्म को एक ही शरीर के दो अंग कहते हैं-

"दादू दून्यू भाई हाथ पग, दून्यू भाई कान।
दून्यू भाई नैन द्वै, हिन्दू मुसलमान।।"[20]

देखा जाय तो मध्ययुगीन, भक्ति आंदोलन में कबीर पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने 'ना हिन्दू ना मुसलमान की उद्घोषणा की उन्होंने दोनों धर्मों की अच्छी बातों को अंगीकार कर भक्ति का भिन्न मार्ग प्रस्तावित किया जो मूलतः मध्य मार्ग है। दादू दयाल भी इसी पंथ के पथिक हैं। वे कहते हैं -

"जो घर कंत कबीर का, सोई वर वरिहूँ।
मनसा वाचा कर्मना मैं और न कहिहूँ।।"[21]

निष्कर्षः कहा जा सकता है कि दादूदयाल की निर्गुण भक्ति भावना भारतीय संत परम्परा की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता उनकी आध्यात्मिक चेतना का मानवतावादी चेतना में परिवतर्तित होना है। वे परमात्मा को मनुष्य के अंदर देखते हंै और इसी कारण, जाति, धर्म, सामाजिक विभाजन को निरर्थक मानते हैं। यही व्यापक मानवीय दृष्टि दादूदयाल को हिन्दी निर्गुण संत काव्यधारा में विशिष्ट स्थान प्रदान करती है।

**संदर्भ ग्रंथ सूची :**

1. दादूदयाल ग्रंथावली, संपादक परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, संस्करण-संवत् 2023 विक्रमी, पृष्ठ-97

2. दादूदयाल ग्रंथावली, संपादक परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, संस्करण-संवत् 2023 विक्रमी, पृष्ठ-158
3. दादूदयाल ग्रंथावली, संपादक परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, संस्करण-संवत् 2023 विक्रमी, पृष्ठ-163
4. दादूदयाल ग्रंथावली, संपादक परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, संस्करण-संवत् 2023 विक्रमी, पृष्ठ-159
5. दादूकाव्य की सामाजिक प्रासंगिकता, रवीन्द्र कुमार सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1988, द्वितीय संस्करण 2005, पृष्ठ-60,
6. हिन्दी कविता का अतीत और वर्त्तमान, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण 2013, पृष्ठ-35
7. दादूदयाल जीवन दर्शन, कृष्णवल्लभ दवे, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1988, संस्करण 2013, पृष्ठ-147
8. दादूदयाल जीवन दर्शन, कृष्णवल्लभ दवे, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1988, संस्करण 2013, पृष्ठ-145
9. दादूदयाल जीवन दर्शन, कृष्णवल्लभ दवे, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1988, संस्करण 2013, पृष्ठ-144
10. हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, पृष्ठ-37,
11. दादूकाव्य की सामाजिक प्रासंगिकता, रविन्द्र कुमार सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1988, द्वितीय संस्करण- 2005, पृष्ठ-69,
12. भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव, ताराचन्द, (अनुवादक सुरेश मिश्र) ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम हिन्दी संस्करण 2006, पृष्ठ-178
13. दादूदयाल ग्रंथावली, संपादक परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, संस्करण-संवत् 2023 विक्रमी, पृष्ठ-13.
14. दादूदयाल ग्रंथावली, संपा. परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, संस्करण-संवत् 2023 विक्रमी, पृष्ठ-25.
15. दादूदयाल ग्रंथावली, संपा. परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, संस्करण-संवत् 2023 विक्रमी, पृष्ठ-182.
16. हिन्दी कविता का अतीत और वर्त्तमान, मैनेजर पाण्डेय, पृष्ठ-31-32.
17. दादूदयाल ग्रंथावली, संपा. परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, संस्करण-संवत् 2023 विक्रमी, पृष्ठ-130.
18. दादूदयाल ग्रंथावली, संपा. परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, संस्करण-संवत् 2023 विक्रमी, पृष्ठ-17.
19. भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव, ताराचन्द, पृष्ठ-176.
20. दादूदयाल ग्रंथावली संपा. परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, संस्करण-संवत् 2023 विक्रमी, पृष्ठ-271,
21. हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास भाग-16, संपा. परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी, संस्करण-2025 विक्रमी, पृष्ठ-192.

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-219-221

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 219-221
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ० रितु सिंह**

वरिष्ठ सहायक आचार्य–सितार, प्राचार्य–कमला आर्य कन्या पी. जी. कालेज, मीरजापुर

Corresponding Author :

**डॉ० रितु सिंह**

वरिष्ठ सहायक आचार्य–सितार, प्राचार्य–कमला आर्य कन्या पी. जी. कालेज, मीरजापुर

## भारतीय संगीत परंपरा में धार्मिक एवं सांस्कृतिक समन्वय : सांस्कृतिक एकात्मता के संदर्भ में एक परिशीलन

**सारांश :** भारतीय संगीत न केवल एक कलात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम है, बल्कि यह भारत की गहरी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक चेतना का भी प्रतीकात्मक स्वरूप है। भारतीय संस्कृति की सबसे विशिष्ट विशेषताओं में उसकी समन्वयकारी प्रवृत्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतवर्ष में विविध धर्मों, सम्प्रदायों, भाषाओं, जातीय समूहों तथा लोक–परंपराओं के सह–अस्तित्व ने एक ऐसी सांस्कृतिक संरचना को जन्म दिया, जिसमें विविधता के मध्य एकता का भाव निरंतर विकसित होता रहा है। भारतीय संगीत इस सांस्कृतिक समन्वय का अत्यंत प्रभावशाली माध्यम रहा है। भारतीय संगीत ने न केवल मनोरंजन अथवा आध्यात्मिक साधना के रूप में ही अपनी भूमिका निभायी है, अपितु विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक समुदायों के मध्य संवाद, सह–अस्तित्व और सांस्कृतिक आदान–प्रदान को भी सुदृढ़ किया है। भारतीय संगीत परंपरा में वैदिक सामगान से लेकर मंदिर संगीत, भक्ति आंदोलन, सूफी संगीत, लोकगीत, ध्रुपद, ख्याल तथा आधुनिक राष्ट्रवादी संगीत तक एक ऐसी निरंतरता दिखाई देती है, जिसमें विभिन्न सांस्कृतिक धाराएँ परस्पर प्रभावित होती रही हैं। भक्ति और सूफी परंपराओं ने जहाँ विशेष रूप से संगीत को आध्यात्मिक अनुभूति और मानवीय एकता का माध्यम बनाया है वहीं लोक संगीत ने विभिन्न समुदायों के दैनिक जीवन, पर्व–त्योहारों और सामाजिक संस्कारों को एक साझा सांस्कृतिक धरातल प्रदान किया है।

प्रस्तुत शोध–पत्र में भारतीय संगीत की समन्वयकारी प्रकृति का अध्ययन करते हुए यह विश्लेषित किया गया है कि भारतीय संगीत परम्परा किस प्रकार धार्मिक सहिष्णुता, सांस्कृतिक संवाद, सामाजिक समरसता और सांस्कृतिक एकात्मता की भावना को पुष्पित, पल्लवित एवं विकसित करती रही है।

**बीज शब्द** – भारतीय संगीत, सांस्कृतिक परम्परा, आध्यात्मिक चेतना, सामाजिक समरसता।

**विषय प्रवेश** – भारत को यदि एक सांस्कृतिक अवधारणा के रूप में समझा जाए तो उसकी मूल प्रकृति विविधता में एकता की रही है। भारतीय समाज में अनेक धार्मिक विश्वास, भाषाएँ, लोकाचार, जीवन–पद्धतियाँ और कलात्मक परंपराएँ प्राचीन काल से ही विद्यमान रही हैं। इन विविधताओं के मध्य संवाद स्थापित करने वाले माध्यमों में संगीत का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारतीय संगीत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी अनुभूति के लिए किसी विशेष भाषा, जाति अथवा धार्मिक पहचान का ज्ञान आवश्यक नहीं होता है अपितु स्वर, लय और ताल मनुष्य की संवेदना के साथ सीधे जुड़ते हैं। यही कारण है कि भारतीय परंपरा में संगीत को केवल कला न मानकर साधना का स्वरूप भी प्रदान किया गया है।

भारतीय संगीत का विकास किसी एक धार्मिक या सांस्कृतिक धारा के सीमा तक ही सीमित नहीं रहा है। समय के साथ इसमें वैदिक, बौद्ध, जैन, हिंदू, इस्लामी, सूफी और विभिन्न लोक–सांस्कृतिक परंपराओं के तत्वों का अंतर्संबंध दिखाई देता है। इसी अंतःक्रिया ने भारतीय संगीत को

बहुआयामी और समन्वयकारी स्वरूप प्रदान किया। अतः भारतीय संगीत का अध्ययन केवल राग, ताल और गायन–वादन की तकनीकी दृष्टि से करना पर्याप्त नहीं है। इसके सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों का अध्ययन भी आवश्यक है। इसी दृष्टि से प्रस्तुत शोध भारतीय संगीत परंपरा में धार्मिक एवं सांस्कृतिक समन्वय तथा उसके माध्यम से निर्मित सांस्कृतिक एकात्मता का अनुशीलन करता है।

**भारतीय संगीत की समन्वयकारी प्रकृति –** भारतीय संगीत की संरचना में ही ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं जो इसे समन्वयकारी बनाती हैं। भारतीय संगीत में स्वर और राग की अवधारणा, लय–ताल की विविध प्रणालियाँ तथा गायन की अनेक शैलियाँ विभिन्न ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अनुभवों से विकसित हुई हैं। भारतीय संगीत परंपरा का आरंभिक स्वरूप वैदिक सामगान से जुड़ा हुआ माना जाता है। सामवेद के मंत्रों का संगीतात्मक पाठ धार्मिक अनुष्ठान का महत्वपूर्ण अंग था। आगे चलकर मंदिरों, मठों और अन्य धार्मिक संस्थानों में संगीत आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का माध्यम बना। मध्यकाल में भारतीय संगीत का संपर्क मध्य एशियाई और फारसी सांस्कृतिक परंपराओं से हुआ। इस संपर्क ने भारतीय संगीत की अभिव्यक्ति में अनेक नए आयाम जोड़े। ध्रुपद, ख्याल, तराना, कव्वाली आदि संगीत–रूपों के विकास को इस व्यापक सांस्कृतिक संपर्क की पृष्ठभूमि में देखा जा सकता है।

इस प्रकार भारतीय संगीत की विकास–यात्रा संघर्ष की अपेक्षा संवाद, ग्रहणशीलता और रूपांतरण की प्रक्रिया को अधिक स्पष्ट करती है। विभिन्न सांस्कृतिक परंपराओं ने एक–दूसरे को प्रभावित किया और परिणामस्वरूप भारतीय संगीत की समृद्ध बहुलतावादी संरचना निर्मित हुई।

**भक्ति आंदोलन और धार्मिक समन्वय –** भारतीय संगीत में धार्मिक समन्वय की चर्चा भक्ति परंपरा के बिना अधूरी है। मध्यकालीन भक्ति आंदोलन ने संगीत और काव्य को जनसाधारण तक पहुँचाने का प्रभावशाली माध्यम बनाया। भक्ति कवियों ने स्थानीय भाषाओं में रचनाएँ कीं, जिन्हें संगीत के माध्यम से व्यापक जनसमुदाय तक पहुँचाया गया। कबीर, गुरुनानक, सूर, तुलसी, मीराबाई और अन्य संत–कवियों की परंपराओं में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। विशेष रूप से कबीर की वाणी में बाह्य धार्मिक विभाजनों के स्थान पर आंतरिक आध्यात्मिकता और मानव–मूल्यों पर बल मिलता है। गुरु नानक की परंपरा में संगीत का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। गुरु ग्रंथ साहिब की रचनाएँ विभिन्न रागों में व्यवस्थित हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि संगीत केवल धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं था, बल्कि आध्यात्मिक चिंतन को व्यवस्थित रूप से जनसाधारण तक पहुँचाने का माध्यम भी था।

भक्ति संगीत की विशेषता यह रही कि उसने धार्मिक अनुभूति को सामाजिक जीवन से जोड़ा। मंदिर, आश्रम, गुरुद्वारा और लोक–समुदायों में सामूहिक गायन–वादन ने सामुदायिक सहभागिता को बढ़ाया और सामाजिक दूरी को कम करने में योगदान दिया।

**सूफी संगीत और सांस्कृतिक संवाद –** भारतीय सांस्कृतिक समन्वय में सूफी परंपरा का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सूफी संतों ने प्रेम, करुणा, मानवीय समानता और आध्यात्मिक अनुभूति को अपने चिंतन का आधार बनाया और उनकी शिक्षाओं के प्रसार में संगीत ने प्रभावशाली भूमिका निभाई। कव्वाली इसका प्रमुख उदाहरण है। कव्वाली में सामूहिक गायन, तालबद्धता और भावात्मक प्रस्तुति के माध्यम से आध्यात्मिक अनुभूति व्यक्त की जाती है। सूफी खानकाहों में संगीत ने केवल धार्मिक साधना का रूप नहीं लिया, बल्कि विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच संवाद का अवसर भी प्रदान किया।

सूफी और भक्ति परंपराओं के बीच प्रेम, ईश्वरानुभूति और मानवतावादी दृष्टि जैसे अनेक भावात्मक साम्य दिखाई देते हैं। इस प्रकार संगीत दोनों परंपराओं के बीच सांस्कृतिक संवाद का माध्यम रहा है।

**लोक संगीत : सांस्कृतिक एकात्मता का आधार –** भारतीय लोक संगीत धार्मिक एवं सांस्कृतिक समन्वय का सबसे व्यापक जनाधारित रूप प्रस्तुत करता है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में जन्म, विवाह, फसल, ऋतु, पर्व, धार्मिक अनुष्ठान और सामाजिक रीति–रिवाजों से जुड़े असंख्य लोकगीत प्रचलित हैं। लोक संगीत का स्वरूप किसी एक धर्म या समुदाय तक सीमित नहीं है। अनेक लोक परंपराओं में स्थानीय देवी–देवताओं, संतों, पीरों, पर्वों और सामाजिक नायकों से संबंधित गीत एक ही सांस्कृतिक परिवेश में गाए जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि लोकजीवन में धार्मिक और सांस्कृतिक अनुभव कई बार परस्पर जुड़े हुए रूप में विकसित होते हैं।

पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र और अन्य क्षेत्रों की लोक संगीत परंपराएँ स्थानीय संस्कृति की सामूहिक स्मृति को संजोए रखती हैं। लोकगीतों में कृषि, प्रकृति, परिवार, प्रेम, उत्सव और आध्यात्मिकता के साथ–साथ सामाजिक संबंधों की अभिव्यक्ति भी होती है। लोक संगीत की सामूहिक प्रस्तुति विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। सामूहिक गायन–वादन में कलाकार और श्रोता के बीच की दूरी कम होती है और समुदाय स्वयं संगीत का सहभागी बन जाता है। यही सहभागिता सांस्कृतिक एकात्मता की आधारभूमि तैयार करती है।

**शास्त्रीय संगीत में समन्वय की प्रक्रिया –** भारतीय शास्त्रीय संगीत को प्रायः हिंदुस्तानी और कर्नाटक संगीत की प्रमुख परंपराओं के रूप में देखा जाता है। दोनों परंपराओं का अपना विशिष्ट ऐतिहासिक विकास हुआ, किंतु दोनों में राग, स्वर, ताल, भाव और आध्यात्मिकता की समृद्ध परंपरा विद्यमान है। हिंदुस्तानी संगीत के विकास में विभिन्न राजदरबारों, मंदिरों, सूफी केंद्रों और संगीतज्ञ परिवारों की भूमिका रही। ध्रुपद से लेकर ख्याल तक की यात्रा में अनेक सांस्कृतिक प्रभावों का समावेश हुआ। इसी प्रकार वाद्य संगीत में भी विभिन्न वाद्यों और विविध वादन–शैलियों का विकास भारतीय सांस्कृतिक समन्वय का ही परिणाम रहा है।

यहाँ समन्वय का अर्थ केवल विभिन्न धर्मों के संगीत का मिश्रण नहीं है। इसका व्यापक अर्थ है– विभिन्न सांस्कृतिक अनुभवों

का परस्पर संवाद और उनसे नई संगीतात्मक अभिव्यक्तियों का निर्माण। भारतीय संगीत की यही ग्रहणशीलता उसकी जीवंतता का आधारशिला रही है। उसने बाहरी प्रभावों को यांत्रिक रूप से स्वीकार नहीं किया, बल्कि उन्हें भारतीय सौंदर्यबोध और संगीत–व्यवस्था के अनुरूप रूपांतरित किया है।

**संगीत और राष्ट्रीय चेतना –** भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के समय संगीत ने राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। देशभक्ति के गीतों, सामूहिक गायन और सांस्कृतिक आयोजनों ने लोगों में साझा राष्ट्रीय भावनाओं को अभिव्यक्ति दी। "वंदे मातरम", "जन गण मन" और अनेक अन्य देशभक्ति गीतों ने भारतीय जनमानस में राष्ट्र के प्रति भावनात्मक संबंध विकसित करने में योगदान दिया है। रवींद्रनाथ ठाकुर, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय और अन्य साहित्यकारों की रचनाएँ संगीत के माध्यम से व्यापक जनसमुदाय तक पहुँचीं। स्वतंत्रता के पश्चात भी संगीत ने राष्ट्रीय एकता की भावना को अभिव्यक्त करने में भूमिका निभायी है। आकाशवाणी, दूरदर्शन, विद्यालयों, सांस्कृतिक संस्थानों और राष्ट्रीय समारोहों के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों की संगीत परंपराएँ व्यापक भारतीय समाज तक पहुँचीं है।

**संगीत और सांस्कृतिक एकात्मता** – सांस्कृतिक एकात्मता का अर्थ केवल सांस्कृतिक समानता नहीं है। भारत जैसे बहुलतावादी समाज में एकात्मता का आधार विविधताओं का सम्मान करते हुए साझा सांस्कृतिक चेतना का निर्माण करना है। संगीत इस प्रक्रिया के लिए विशेष रूप से उपयुक्त माध्यम है। जब एक ही मंच पर विभिन्न प्रदेशों के कलाकार अलग–अलग भाषाओं और संगीत शैलियों में प्रस्तुति देते हैं, तब विविधता स्वयं एक सांस्कृतिक शक्ति के रूप में सामने आती है। श्रोता अलग–अलग संगीत रूपों में अपने से भिन्न संस्कृति को अनुभव करता है और उसके प्रति परिचित होता है। भारतीय संगीत इस प्रकार "मैं" से "हम" की यात्रा को संभव बनाता है। यह किसी व्यक्ति की धार्मिक या भाषायी पहचान को समाप्त नहीं करता, बल्कि उन पहचानों के बीच संवाद स्थापित करता है। भारतीय संगीत की समन्वयकारी शक्ति का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यही है कि यह विविधताओं को मिटाने के बजाय उन्हें एक व्यापक सांस्कृतिक संदर्भ में जोड़ती है।

**समकालीन संदर्भ में प्रासंगिकता –** वर्तमान समय में सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में संवाद की आवश्यकता पहले से अधिक अनुभव की जा रही है। ऐसी स्थिति में संगीत की समन्वयकारी क्षमता का पुनर्पाठ आवश्यक है। विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में विभिन्न प्रदेशों और समुदायों के संगीत रूपों का अध्ययन विद्यार्थियों में सांस्कृतिक संवेदनशीलता विकसित कर सकता है। संगीत समारोहों में विविध परंपराओं को समान मंच देना भी सांस्कृतिक संवाद को बढ़ावा दे सकता है। डिजिटल माध्यमों ने इस प्रक्रिया को और भी अधिक व्यापक बनाया है। आज एक क्षेत्र की संगीत परंपरा दूसरे क्षेत्र के श्रोताओं तक शीघ्र पहुँच सकती है। इससे सांस्कृतिक आदान–प्रदान के नए अवसर पैदा हुए हैं।

**निष्कर्ष :** भारतीय संगीत परंपरा का इतिहास मूलतः संवाद, ग्रहणशीलता और समन्वय की दीर्घकालिक प्रक्रिया का इतिहास है। वैदिक सामगान से लेकर भक्ति संगीत, सूफी संगीत, लोकसंगीत, शास्त्रीय संगीत और आधुनिक राष्ट्रगीतों तक संगीत ने भारतीय समाज की विविध सांस्कृतिक धाराओं को अभिव्यक्ति प्रदान की है। धार्मिक एवं सांस्कृतिक समन्वय के संदर्भ में संगीत की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह विचारों को केवल बौद्धिक स्तर पर नहीं, बल्कि भावनात्मक स्तर पर भी जोड़ता है। भारतीय संगीत की समन्वयकारी परंपरा हमें यह समझने में सहायता करती है कि सांस्कृतिक एकता का अर्थ विविधताओं का अंत नहीं, बल्कि विविधताओं के बीच संवाद और सह–अस्तित्व है।

अतः भारतीय संगीत को केवल कला या मनोरंजन के माध्यम के रूप में देखना उसके व्यापक सामाजिक–सांस्कृतिक महत्व को सीमित करना होगा। संगीत भारतीय सांस्कृतिक चेतना का ऐसा माध्यम है, जो धार्मिक सीमाओं से परे मानवीय संवेदना, सह–अस्तित्व और एकात्मता की अनुभूति को सशक्त करता है। वर्तमान संदर्भ में इस समन्वयकारी विरासत का संरक्षण, अध्ययन और रचनात्मक पुनर्पाठ भारतीय सांस्कृतिक जीवन को अधिक संवादपरक और समावेशी बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण हो सकता है।

**संदर्भ ग्रंथ :**

1. श्रीवास्तव, डॉ० वीणा, भारतीय लोक संगीत, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2025
2. गुप्ता, डॉ० शुचि, उत्तर भारतीय संगीत के विविध आयाम, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019
3. शर्मा, डॉ० गीता, भारतीय संगीत एवं संस्कृति, वेगन प्रकाशन, 2021
4. https://journal.ijarps.org
5. https://ignited.in
6. https://www.researchgate.net

•

ज्ञानविविधा
कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 222-232
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**Prof. (Dr.) Sangeeta Singh**
Performing of arts, Ex HOD
department of instrumental,
Banaras Hindu University, Varanasi

Corresponding Author :

**Prof. (Dr.) Sangeeta Singh**
Performing of arts, Ex HOD
department of instrumental,
Banaras Hindu University, Varanasi

# When Music Met the Microphone : Technological Reconfiguration of Sound Structure, Performance Practice, and Aesthetic Perception in Indian Classical Music

**Abstract :** The history of Indian classical music is generally narrated through concepts such as raga, tala, gharana, guru-shishya parampara, and performance practice. Yet an equally significant transformation has taken place through the history of sound technology. The introduction of the microphone, radio broadcasting, gramophone recording, magnetic tape, and later digital recording technologies did not merely make Indian classical music louder or more widely accessible. These technologies gradually altered the conditions under which music was performed, recorded, heard, and evaluated. The microphone, in particular, became an important mediator between the performer, the instrument, the acoustic environment, and the listener.

This article examines the microphone as a technological and aesthetic agent in Indian classical music. It investigates how microphone technology influenced vocal production, instrumental technique, stage balance, recording practices, spatial perception, and ideas of sonic authenticity. Particular attention is given to the distinction between air microphones and vibration/contact pickups, and to commonly used microphones such as the AKG C411 L, Shure SM57, Shure Beta 57A, Neumann KM 184, AKG C414 XLS, Sennheiser MKH 50, Royer R-121, DPA 4099, and RØDE NT5. The sitar is used as an important case through which the technological transformation of instrumental sound can be understood.

The article argues that the modern sound of Indian classical music should not be understood solely as the acoustic output of a performer and an instrument. It is increasingly the result of a complex chain involving the performer, instrument, room, microphone, preamplifier, mixing system, signal processing, loudspeaker, and

listener. The concept of **"microphone-mediated aesthetics"** is proposed to describe this transformation. The article concludes by suggesting an empirical methodology through which the sonic effects of different microphone technologies on Indian classical instruments can be scientifically examined.

**Keywords :** Indian classical music, microphone, sound technology, sitar, recording, performance practice, acoustics, sound aesthetics, radio, amplification

**1. Introduction :** Indian classical music has historically been associated with an intimate relationship between performer, listener, and acoustic space. In the traditional performance environment, the projection of sound depended largely upon the physical characteristics of the voice or instrument, the architecture of the performance space, and the distance between performer and audience. The introduction of sound reproduction and amplification technologies gradually altered this relationship.

The gramophone first transformed music by separating performance from immediate physical presence. Radio subsequently created an unprecedented situation in which musicians could perform for listeners whom they could neither see nor directly respond to. The microphone became central to this transformation because it was not merely a device for increasing volume; it became a technological intermediary between musical sound and its audience.^1

Amanda J. Weidman has demonstrated how recording and technological mediation became deeply connected with changing conceptions of classical music, modernity, and authenticity in South India.^2 Similarly, Aditi Deo has shown that the history of audio recording has played a significant role in the way Hindustani khayal has been preserved, remembered, interpreted, and transmitted.^3

The central question, therefore, is not simply **when the microphone entered Indian classical music**, but rather:

**What happened to Indian classical music when its sound began to be mediated through the microphone?**

This question has implications for vocal technique, instrumental construction, stage arrangement, recording aesthetics, accompanimental balance, listening habits, and even contemporary ideas about what constitutes an "authentic" sound.

**2. Sound Before the Microphone :** Before electronic amplification, the acoustic projection of Indian classical music depended upon the performer and the physical environment.

A vocalist had to develop sufficient projection to reach the audience. Similarly, instrumentalists had to produce a sound capable of travelling through the performance space without electronic assistance. The architecture of the mehfil, temple, court, auditorium, or open performance area consequently became an integral component of musical communication.

This does not mean that performers before the microphone necessarily produced a single uniform kind of "loud" sound. Different traditions developed different approaches to projection, resonance, articulation, and tonal production.

The important distinction is that **the performer had to negotiate directly with the acoustic space**.

The microphone changed this relationship.

Once a microphone was placed between the performer and listener, the performer no longer needed to depend exclusively upon natural acoustic projection. The microphone could capture a relatively small sound source and reproduce it at a much greater level through a sound system.

This technological possibility created a new performance condition: **intimacy could be amplified**.

**3. From Gramophone to Radio: The Emergence of Technologically Mediated Music :** The gramophone was one of the earliest technologies to fundamentally change the relationship between Indian classical musicians and their audiences. Vikram Sampath's study of Indian classical music and the gramophone demonstrates how recording technology contributed to the standardization, institutionalization, and wider dissemination of Indian classical music during the early twentieth century.^4

The limitations of early recording technology were equally influential. The short duration available on gramophone records compelled musicians to condense musical material. Long-form elaborations had to be shortened or reorganized so that they could fit within the technological limits of the recording medium.

Thus, technology did not merely **record music**; it created conditions under which music itself had to be reorganized.

Radio introduced another major transformation.

All India Radio began the National Programme of Music in 1952, creating a national platform for classical music.^5 The importance of broadcasting was not restricted to geographical expansion. It also introduced the concept of the **"invisible audience."**

The performer could no longer rely upon visual interaction with listeners. Instead, the microphone, transmission system, and receiving device became the bridge between performer and audience.

The archival pages of *The Indian Listener* from the late 1930s and early 1940s provide evidence that questions surrounding radio, microphones, and microphone personalities were already being discussed within the broadcasting culture of the period.^6

This historical evidence suggests that microphone technology became an established component of Indian musical life much earlier than is sometimes assumed.

**4. The Microphone Is Not Merely an Amplifier :**

The common understanding of a microphone is simple: it makes a sound louder.

Acoustically and musically, however, this is inadequate.

A microphone determines **what part of a sound is captured, from what distance, with what directional sensitivity, and with what spectral emphasis**.

Consequently, two microphones placed in front of the same sitar can produce noticeably different sonic results.

The microphone may emphasize:

- the initial attack of the string,
- the resonance of the tumba,
- the brightness of the upper harmonics,
- the sustain of the note,
- sympathetic-string resonance,
- mechanical noises,
- finger movement,
- or the acoustic contribution of the room.

The listener therefore does not hear the instrument in a purely direct manner. The listener hears a **microphone-mediated representation of the instrument**.

This distinction becomes particularly important in Indian classical music because subtle variations in timbre, meend, gamak, mizrab attack, resonance, and harmonic density carry considerable musical significance.

**5. Different Microphones, Different Musical Perspectives :** The microphone should not be treated as a neutral object. Different transducer designs and polar patterns create different relationships between instrument and listener.

5.1 AKG C411 L: Capturing Vibration Rather Than Room Sound

The AKG C411 L is particularly interesting in the context of Indian string instruments because it is not a conventional distant air microphone. It is a miniature vibration pickup designed to capture structural vibration from instruments such as acoustic guitar, mandolin, and violin.^7

Its figure-of-eight pickup pattern and contact-based design allow it to capture the vibration of the instrument while substantially reducing dependence upon the surrounding acoustic environment.

For a sitar, such a system can create a highly direct representation of the instrument.

This raises an important aesthetic question:

**Is the sound produced by a contact pickup the "sound of the sitar," or is it a technological reconstruction of the sitar's vibration?**

The question becomes especially relevant when contact amplification is combined with conventional microphones.

**5.2 Shure SM57 :** The Shure SM57 is a dynamic cardioid microphone widely used for instruments and stage performance.^8

Its directional response allows the sound engineer to concentrate on the primary source while reducing unwanted surrounding sound.

In Indian classical performance, such a characteristic can be useful for tabla, percussion, or amplified instrumental performances where feedback control and source isolation are important.

However, close-miking can also change the perceived character of an instrument. The listener may hear more attack and less room ambience than would be heard from a naturally positioned audience seat.

5.3 Shure Beta 57A : The Beta 57A is a dynamic supercardioid microphone designed for instrument and vocal applications. Its stronger directional characteristics make it useful where stage isolation and feedback resistance are important.

For tabla or other percussion instruments, such microphones can produce a highly focused sound.

But again, **clarity is not necessarily equivalent to naturalness**.

A microphone can make individual strokes extremely clear while simultaneously reducing the sense of the instrument's relationship with the surrounding acoustic space.

5.4 Neumann KM 184 : The Neumann KM 184 is a small-diaphragm condenser microphone with a cardioid polar pattern and a wide frequency response. It is commonly suitable for acoustic instruments and detailed studio recording.

For sitar, sarod, flute, violin, or other acoustic instruments, such a microphone can capture subtle transient and harmonic information.

Compared with a contact pickup, however, its sound is strongly influenced by microphone distance and position. Moving the microphone only a few centimetres can alter the balance between direct instrument sound and room contribution.

Thus:

**Microphone placement is itself a form of musical interpretation.**

5.5 AKG C414 XLS : The AKG C414 XLS provides multiple polar-pattern options, including omnidirectional, cardioid, hypercardioid, wide cardioid, and figure-eight configurations.^9
Such flexibility makes it particularly interesting for classical recording.

A cardioid configuration can produce a relatively focused representation of a vocalist or instrumentalist, while an omnidirectional configuration can include substantially more of the surrounding acoustic environment.

Consequently, the choice of polar pattern is not simply a technical decision. It can determine whether the listener experiences the performance as **close and intimate** or **spatial and environmental**.

5.6 Sennheiser MKH 50 : The MKH 50 is a supercardioid condenser microphone designed for controlled directional capture.

Such a microphone can be useful when an engineer wants to isolate a solo instrument or voice within an ensemble.

This becomes significant in Indian classical music because the traditional musical hierarchy between soloist and accompanists is not merely a matter of volume. It is also a matter of perceptual focus.

Microphone placement can therefore reinforce or alter the perceived hierarchy between:
**soloist → melodic accompaniment → rhythmic accompaniment → drone.**

5.7 Royer R-121 : The Royer R-121 is a ribbon microphone with a figure-eight polar pattern. Ribbon microphones are often valued for their smooth treatment of high-frequency information.

For instruments such as sitar, sarod, violin, or percussion, a ribbon microphone can provide a different tonal representation from a bright condenser microphone.

The choice can be particularly meaningful when the engineer wishes to preserve the complexity of a string instrument without making its upper harmonics excessively aggressive.

5.8 DPA 4099 and RØDE NT5 : The DPA 4099 is a compact clip-on condenser microphone designed for close-miking instruments. Such a microphone can be particularly useful in stage environments where performer movement is considerable.

The RØDE NT5, a small-diaphragm cardioid condenser, is often used as a matched pair for stereo recording. Stereo techniques can provide a more spatial representation of an ensemble or acoustic instrument.

These examples demonstrate that there is no single technological definition of the "correct" Indian classical sound.

Instead, different microphones create different **sonic perspectives**.

6. The Sitar as a Case Study : The sitar provides an especially useful example because its sound consists of several acoustically complex components:

1. main playing strings,
2. sympathetic strings,
3. resonating gourds,
4. jawari,
5. bridge,
6. body resonance,
7. attack produced by the mizrab,
8. sustain and decay,
9. interaction with the performance room.

A microphone placed close to the bridge may emphasize attack and upper-frequency components.

A microphone placed near the tumba may emphasize body resonance.

A distant microphone may capture a more integrated relationship between instrument and room.

A contact pickup may capture structural vibration while minimizing room ambience.

Therefore, **there is no single acoustic location that represents the entire sitar**.

The microphone position effectively determines which dimension of the sitar becomes dominant in the final recording.

This is one reason why two recordings of the same artist playing the same raga can sound dramatically different even when the musical performance itself is comparable.

7. The Transistor Sitar: When the Instrument Itself Responded to Amplification : The technological transformation did not remain restricted to microphones.

Instrument makers also began modifying instruments in response to amplification requirements.

According to the historical account provided by Rikhi Ram, an amplified or transistor sitar was developed in the early 1960s because existing amplification systems were not adequately suited to the sitar.^10 The design incorporated amplification-related components into the instrument itself.

This development is important because it demonstrates a reciprocal relationship between technology and musical instruments.

The question was no longer:

"How can we amplify the sitar?"

It gradually became:

"How should the sitar itself be designed for amplification?"

This represents a major technological shift.

The instrument was no longer conceived exclusively as an acoustic object. It increasingly became an **electro-acoustic performance system**.

8. Microphone and the Transformation of Vocal Technique : The microphone also created new possibilities for vocal performance.

A singer performing without amplification must project sound acoustically. A microphone can capture a much lower-intensity sound and reproduce it at an appropriate listening level.

This makes possible greater use of:

- soft dynamics,
- intimate tonal production,
- controlled breath,
- subtle consonantal articulation,
- micro-dynamic variation,
- tonal shading.

It would be inaccurate to claim that the microphone simply "created" soft singing. Indian vocal traditions possessed nuanced dynamic and tonal practices long before electronic amplification.

However, the microphone created **new technological conditions in which such low-intensity expressions could become more viable in large performance spaces and recording environments**.

This distinction is crucial.

The microphone did not invent musical expression; it altered the conditions under which expression could be performed and heard.

9. The Microphone and the Balance Between Soloist and Accompanist : The microphone also changed the traditional balance among performers.

In an acoustic performance, the physical position of the performer and the natural projection of each instrument influence the balance.

In an amplified performance, the sound engineer can independently control the level of:

- vocalist,
- sitar,
- sarod,
- tabla,
- harmonium,
- tanpura,
- flute,
- percussion,
- and other instruments.

This introduces a new form of musical authority.

The question becomes:

**Who determines the balance of the performance—the musicians or the sound engineer?**

A striking example occurred during a 2006 performance involving Ravi Shankar and Zakir Hussain. Reports described an incident in which Hussain removed his microphone from its stand because the tabla was not sufficiently audible in the performance.^11

The incident may appear trivial, but it reveals an important principle:

**Microphone balance can become part of musical performance itself.**

The sound engineer therefore becomes an invisible participant in the musical event.

10. From Natural Sound to Microphone-Mediated Sound : The concept of "natural sound" becomes complicated in technologically mediated performance.

Consider two situations.

In the first:

Performer → room → listener

In the second:

Performer → microphone → preamplifier → mixer → processing → loudspeaker → listener

The listener in the second situation is not hearing the same acoustic event.

The contemporary concert sound can therefore be represented as:

**Musical sound = performer + instrument + acoustic space + microphone + preamplifier + mixing + processing + loudspeaker + listener**

This formulation does not imply that technology destroys authenticity.

Rather, it suggests that **authenticity itself has become technologically mediated**.

11. Recording Technology and the Construction of Tradition : Recording technology has had an especially profound influence on Indian classical music because recordings became repositories of musical memory.

Musicians and students today frequently learn from recordings rather than from direct physical proximity to a historical performer.

Consequently, recorded sound has become part of the process through which tradition is transmitted.

Aditi Deo's study of the Hindustani khayal audio archive demonstrates how technological changes and changing sonic expectations influence the ways in which musical traditions are remembered and reconstructed.^12

This creates an interesting paradox.

Technology can preserve tradition while simultaneously changing it.

The microphone and recording studio can preserve a performance with extraordinary detail, but the recorded sound itself is already an interpretation.

Thus:

**Recording does not merely preserve tradition; it helps define the form in which tradition becomes audible to later generations.**

12. The Sound Engineer as an Invisible Performer : In the traditional Indian classical concert, the visible performer occupies the centre of attention.

In an amplified performance, however, another person may exert considerable influence over the final sound: the sound engineer.

The engineer decides:

- microphone type,
- microphone position,
- distance,
- gain,
- equalization,
- compression,
- panning,
- reverb,
- monitoring level,
- and the relative level of performers.

The audience may never see this person.

Yet the sonic image heard by the audience may be substantially determined by these decisions.

The sound engineer therefore functions as an **invisible co-creator of the performance experience**.

This observation is particularly important for Indian classical music because the aesthetic value of the tradition depends heavily upon subtle relationships of pitch, timbre, resonance, articulation, and temporal development.

13. Is Close-Miking More "Natural"?

Modern recordings often use very close microphone placement.

The resulting sound may appear exceptionally clear.

But clarity and naturalness are not identical.

Close-miking generally increases the proportion of direct sound relative to room sound. It can also increase the audibility of small mechanical and articulatory details.

A listener may consequently hear an instrument in greater detail than would be possible from the normal audience position.

The paradox is therefore:

**The more detailed a recording becomes, the less acoustically similar it may be to the experience of sitting in the concert hall.**

This does not make the recording inferior.

It means that recording creates a **different listening reality**.

14. Towards the Concept of "Microphone-Mediated Aesthetics" : The preceding discussion suggests the need for a conceptual term capable of describing this phenomenon.

I propose the term:

Microphone-Mediated Aesthetics : It refers to the aesthetic consequences that arise when musical sound is captured, shaped, amplified, and reproduced through microphone-based technological systems.

Its principal dimensions include:

1. **Timbre** – alteration of perceived tonal colour.
2. **Dynamics** – expansion of the usable soft-to-loud range.
3. **Spatiality** – modification of the relationship between direct and ambient sound.
4. **Balance** – technologically controlled hierarchy among performers.
5. **Detail** – increased audibility of subtle articulatory features.
6. **Intimacy** – possibility of reproducing low-level and close vocal/instrumental sounds.
7. **Authenticity** – changing perceptions of what constitutes a "natural" or "traditional" sound.

This concept provides a useful framework for studying the technological transformation of Indian classical music without assuming that technology is either inherently beneficial or inherently destructive.

15. Towards an Empirical Study : The historical and theoretical arguments presented above can be tested experimentally.

A controlled experiment could record the same musician performing the same musical passage on the same instrument in the same acoustic environment using different microphones.

For example:

- AKG C411 L
- Shure SM57
- Shure Beta 57A
- Neumann KM 184
- AKG C414 XLS
- Sennheiser MKH 50
- Royer R-121
- DPA 4099
- RØDE NT5

The recordings should maintain constant:

- performer,
- instrument,
- raga,
- musical passage,
- room,
- microphone distance,
- preamplifier gain,
- recording resolution,
- and post-processing conditions.

The resulting recordings could then be examined through:

- spectral centroid,
- harmonic distribution,
- RMS level,
- crest factor,
- attack and decay characteristics,
- dynamic range,

- direct-to-room ratio,
- noise floor,
- and perceptual listening tests.

A blind listening experiment involving trained musicians, students, and general listeners could further investigate whether different microphone systems produce statistically significant differences in perceived descriptors such as:

**brightness, warmth, resonance, clarity, naturalness, intimacy, attack, spaciousness, and authenticity.**

Such research would transform a largely subjective discussion into an experimentally testable field of musicological inquiry.

16. Conclusion :

The history of Indian classical music cannot be fully understood without considering the history of sound technology.

The microphone did not simply make classical music louder.

It changed the relationship between performer and acoustic space, performer and audience, soloist and accompanist, instrument and recording system, and tradition and technology.

It created new possibilities for intimate vocal production, detailed instrumental reproduction, controlled stage balance, and large-scale dissemination. At the same time, it introduced new forms of mediation in which the final sound heard by the audience could differ significantly from the sound produced acoustically by the performer.

The sitar provides a particularly revealing example. Its complex interaction of strings, jawari, resonance, sympathetic vibration, body, and room cannot be reduced to a single microphone position or recording technique. Different microphones reveal different aspects of its identity.

The same principle applies to vocal music, tabla, sarod, flute, violin, and other forms of Indian classical performance.

The fundamental transformation can therefore be expressed simply:

**The microphone did not merely amplify Indian classical music; it helped redefine the conditions under which Indian classical music became audible.**

The contemporary sound of Indian classical music is consequently not produced by the performer alone. It emerges through an interaction among performer, instrument, acoustic environment, microphone, recording technology, sound engineer, playback system, and listener.

Understanding this interaction opens a relatively underexplored field of research: **the study of Indian classical music as a microphone-mediated musical culture.**

**Footnotes :**

1. For the broader relationship between technology, performance, modernity, and musical authenticity, see Amanda J. Weidman, *Singing the Classical, Voicing the Modern: The Postcolonial Politics of Music in South India* (Duke University Press, 2006).
2. Weidman, *Singing the Classical, Voicing the Modern*, especially the discussions of performance, recording, acoustics, technology, and authenticity.
3. Aditi Deo, “Technological Conversations with the Past: Musicians, Connoisseurs and the Audio Archive of Hindustani Khayal Music,” *Indian Theatre Journal*, vol. 4, no. 1, 2020, pp. 77–94.
4. Vikram Sampath, *Indian Classical Music and the Gramophone, 1900–1930* (Rupa Publications, 2022).

5. Prasar Bharati, "National Programme of Music," official archival material on All India Radio's classical music broadcasting history.
6. See V. R. Talasikar, "Classical Music and the Radio," *The Indian Listener*, vol. III, no. 15, 22 July 1938; and the series "Microphone Personalities," *The Indian Listener*, 1941. These archival materials demonstrate the established presence of microphone and broadcasting culture within All India Radio.
7. AKG, *C411 L Specifications and Product Documentation*. The C411 L is a miniature vibration pickup designed for acoustic string instruments and uses a contact-based transducer rather than functioning as a conventional distant air microphone.
8. Shure, *SM57 Specifications and Product Documentation*.
9. AKG, *C414 XLS Specifications and Product Documentation*.
10. Rikhi Ram Musical Instrument Manufacturing Company, historical documentation concerning the development of the transistor sitar in the early 1960s.
11. "Zakir Hussain Pulls Out Mic During Concert," *The Times of India*, 14 February 2006. Contemporary reports described the incident as a consequence of inadequate tabla volume in the amplified stage mix.
12. Deo, "Technological Conversations with the Past," pp. 77–94.

**References :**

1. Deo, Aditi. "Technological Conversations with the Past: Musicians, Connoisseurs and the Audio Archive of Hindustani Khayal Music." *Indian Theatre Journal*, vol. 4, no. 1, 2020, pp. 77–94.
2. Prasar Bharati. "National Programme of Music." All India Radio archival materials.
3. Sampath, Vikram. *Indian Classical Music and the Gramophone, 1900–1930*. Rupa Publications, 2022.
4. Shure. *SM57 Dynamic Instrument Microphone: Product Specifications*. Shure Incorporated.
5. Weidman, Amanda J. *Singing the Classical, Voicing the Modern: The Postcolonial Politics of Music in South India*. Duke University Press, 2006.
6. AKG. *C411 L: Miniature Vibration Pickup—Product Documentation*. AKG/Harman.
7. AKG. *C414 XLS: Large-Diaphragm Condenser Microphone—Product Documentation*. AKG/Harman.
8. Neumann. *KM 184: Small-Diaphragm Condenser Microphone—Product Documentation*. Neumann GmbH.
9. Royer Labs. *R-121 Ribbon Microphone—Product Documentation*. Royer Labs.
10. Sennheiser. *MKH 50: Supercardioid Condenser Microphone—Product Documentation*. Sennheiser Electronic GmbH.
11. *The Indian Listener*. "Classical Music and the Radio," vol. III, no. 15, 22 July 1938.
12. *The Indian Listener*. "Microphone Personalities," vol. VI, nos. 4–5, February 1941.
13. *The Times of India*. "Zakir Hussain Pulls Out Mic During Concert." 14 February 2006.

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-233-237

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 233-237
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. तनुजा रश्मि**

हिंदी विभागाध्यक्ष, जैन कॉलेज, ऑटोनोमस
वी.वी. पुरम, वासवी कैंपस, बेंगलुरु

Corresponding Author :

**डॉ. तनुजा रश्मि**

हिंदी विभागाध्यक्ष, जैन कॉलेज, ऑटोनोमस
वी.वी. पुरम, वासवी कैंपस, बेंगलुरु

# नई शिक्षा नीति 2020 के संदर्भ में भारतीय ज्ञान प्रणाली

भारतीय ज्ञान प्रणाली (Indian Knowledge System — IKS) भारत में विकसित ज्ञान, अनुभव, चिंतन, प्रयोग और जीवन-दर्शन की विविध परंपराओं का समेकित स्वरूप है। इसमें वेद, उपनिषद, भारतीय दर्शन, गणित, खगोलशास्त्र, आयुर्वेद, योग, भाषा-विज्ञान, साहित्य, कला, कृषि, स्थापत्य, धातुविज्ञान तथा लोक एवं जनजातीय ज्ञान जैसी परंपराएँ सम्मिलित हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारतीय शिक्षा को भारतीय संदर्भ, भाषाओं, संस्कृति और ज्ञान-परंपरा से जोड़ते हुए आधुनिक, वैज्ञानिक, बहुविषयी और वैश्विक दृष्टि से सक्षम बनाने का प्रयास करती है। नीति में 'Knowledge of India' तथा भारतीय ज्ञान प्रणालियों को पाठ्यचर्या में वैज्ञानिक और प्रमाण-आधारित ढंग से सम्मिलित करने की स्पष्ट दिशा दी गई है।[1] प्रस्तुत शोध-पत्र भारतीय ज्ञान प्रणाली की अवधारणा, NEP 2020 में उसकी स्थिति, हिंदी एवं भारतीय भाषाओं की भूमिका, उच्च शिक्षा, अनुसंधान, डिजिटल संरक्षण, पर्यावरण एवं मूल्य शिक्षा तथा कार्यान्वयन की चुनौतियों का विश्लेषण करता है।

**प्रमुख शब्द :** भारतीय ज्ञान प्रणाली, नई शिक्षा नीति 2020, भारतीय भाषाएँ, हिंदी, बहुविषयी शिक्षा, उच्च शिक्षा, अनुसंधान, डिजिटल ज्ञान, मूल्य शिक्षा।

**1. प्रस्तावना :** शिक्षा किसी राष्ट्र के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और बौद्धिक विकास की आधारशिला है। इसका उद्देश्य केवल परीक्षा में सफलता या रोजगार प्राप्त करना नहीं, बल्कि चिंतन, सृजनात्मकता, मूल्यबोध, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और सामाजिक उत्तरदायित्व का विकास भी है। भारत की ज्ञान-परंपरा बहुआयामी रही है और इसमें दर्शन, गणित, खगोल, चिकित्सा, भाषा, साहित्य, कला, कृषि, शासन तथा लोकजीवन से जुड़े अनेक ज्ञान-रूप विकसित हुए। मूल स्रोत-पाठ भी भारतीय ज्ञान प्रणाली को सूचना से आगे व्यक्ति, समाज, प्रकृति और जीवन के संतुलित विकास से जोड़ता है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 को 29 जुलाई 2020 को केंद्रीय मंत्रिमंडल ने मंजूरी दी। नीति के निर्माण में व्यापक परामर्श प्रक्रिया अपनाई गई और मंत्रालय के अनुसार लगभग दो लाख सुझाव प्राप्त हुए।[2] नीति 21वीं सदी की आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा को अधिक समावेशी, बहुविषयी, कौशल-आधारित, अनुसंधानपरक और भारतीय संदर्भ से जुड़ा बनाने की दिशा प्रस्तुत करती है।

**2. भारतीय ज्ञान प्रणाली : अवधारणा और स्वरूप :** भारतीय ज्ञान प्रणाली का आशय भारत में विभिन्न ऐतिहासिक कालों में विकसित ज्ञान, चिंतन, अनुभव, प्रयोग और व्यवहार की उन परंपराओं से है जिन्होंने व्यक्ति और समाज को प्रभावित किया। IKS Division की आधिकारिक सामग्री इसे ज्ञान, विज्ञान और जीवन-दर्शन से जुड़ी परंपरा के रूप में प्रस्तुत करती है, जो अनुभव, अवलोकन, प्रयोग और विश्लेषण से विकसित हुई तथा पाठ्य, मौखिक और कलात्मक माध्यमों से संप्रेषित हुई।[3]

भारतीय ज्ञान प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता समग्र दृष्टिकोण है। शरीर, मन, बुद्धि, आचरण और सामाजिक दायित्व को अलग-अलग खंडों में देखने के बजाय इनके परस्पर संबंध पर विचार किया गया। दूसरी विशेषता अनुभव एवं प्रयोग है। कृषि, औषधि, शिल्प और स्थानीय ज्ञान में पीढ़ियों के अनुभव का संचय हुआ। तीसरी विशेषता प्रकृति के साथ सामंजस्य है। चौथी विशेषता मूल्य-आधारित जीवन-दृष्टि तथा पाँचवीं विशेषता बहुविषयी ज्ञान-प्रकृति है।

**3. NEP 2020 में भारतीय ज्ञान प्रणाली का स्थान :** NEP 2020 के अनुच्छेद 4.27 में 'Knowledge of India' के अंतर्गत प्राचीन भारत के ज्ञान और आधुनिक भारत में उसके योगदान को वैज्ञानिक एवं सटीक रूप में पाठ्यक्रम में शामिल करने की बात कही गई है। इसमें गणित, खगोलशास्त्र, दर्शन, योग, वास्तुकला, चिकित्सा, कृषि, इंजीनियरिंग, भाषाविज्ञान, साहित्य, खेल, शासन तथा संरक्षण जैसे क्षेत्रों का उल्लेख है। नीति भारतीय एवं स्थानीय संदर्भ से जुड़े पाठ्यचर्या और शिक्षण को भी प्रोत्साहित करती है।[4]

इस दृष्टि से IKS को केवल एक पृथक विषय बनाना पर्याप्त नहीं होगा। भारतीय ज्ञान के तत्वों को इतिहास, साहित्य, विज्ञान, समाजशास्त्र, पर्यावरण, प्रबंधन, तकनीक और अन्य विषयों से जोड़कर समझना अधिक सार्थक होगा। इससे विद्यार्थियों में ज्ञान को संदर्भ, प्रयोग और समकालीन समस्याओं से जोड़ने की क्षमता विकसित की जा सकती है।

**4. भारतीय भाषाएँ और हिंदी की भूमिका :** भारतीय ज्ञान के संरक्षण और प्रसार में भाषा की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। ज्ञान की कई परंपराएँ विशिष्ट भाषाओं में विकसित और संरक्षित हुई हैं। इसलिए भारतीय ज्ञान प्रणाली का पुनर्पाठ भारतीय भाषाओं की सुदृढ़ता से जुड़ा है। NEP 2020 भारतीय भाषाओं तथा भारतीय संदर्भ में शिक्षण-सामग्री के विकास को प्रोत्साहित करती है।[5]

हिंदी के संदर्भ में केवल अनुवाद पर्याप्त नहीं है। IKS पर हिंदी में मौलिक शोध-पत्र, शोध-प्रबंध, मोनोग्राफ, संदर्भग्रंथ और डिजिटल सामग्री विकसित करनी चाहिए। साथ ही हिंदी को कन्नड़, तमिल, तेलुगु, मराठी, बंगाली, संस्कृत, मलयालम और अन्य भारतीय भाषाओं के ज्ञान से जोड़ना आवश्यक है। इससे भारतीय ज्ञान प्रणाली का बहुभाषिक स्वरूप अधिक स्पष्ट होगा।

**5. दर्शन, गणित, आयुर्वेद और योग :** भारतीय दर्शन में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और वेदान्त जैसी परंपराएँ भारतीय चिंतन की विविधता दर्शाती हैं। न्याय में तर्क और प्रमाण, वैशेषिक में पदार्थ-विचार तथा योग में अनुशासन और मन के अध्ययन को आधुनिक तर्कशास्त्र, दर्शन और चेतना-अध्ययन के साथ संवाद में रखा जा सकता है।

भारतीय गणित के इतिहास में शून्य और स्थान-मूल्य पद्धति की परंपरा का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। आर्यभट्ट और भास्कराचार्य जैसे विद्वानों के ग्रंथ इस इतिहास के प्रमुख स्रोत हैं। किंतु इन उपलब्धियों का अध्ययन ऐतिहासिक

स्रोतों और प्रमाणों के आधार पर होना चाहिए।

आयुर्वेद के संदर्भ में चरक संहिता और सुश्रुत संहिता ऐतिहासिक स्रोत हैं। योग भारतीय ज्ञान परंपरा का महत्वपूर्ण आयाम है। आधुनिक शिक्षा में योग का अध्ययन शारीरिक अनुशासन, एकाग्रता और जीवन-पद्धति के संदर्भ में किया जा सकता है। चिकित्सा संबंधी दावों को आधुनिक प्रमाण-आधारित शोध के मानकों के साथ परखा जाना चाहिए।

**6. बहुविषयी शिक्षा और IKS :** NEP 2020 में विषयों के बीच कठोर विभाजन को कम करने और बहुविषयी शिक्षा को प्रोत्साहित करने की दिशा दिखाई देती है। IKS इस दृष्टिकोण के लिए उपयोगी संदर्भ उपलब्ध कराता है। उदाहरण के लिए 'जल' विषय को इतिहास में पारंपरिक जल-संरक्षण, विज्ञान में जल-चक्र, भूगोल में जल-संसाधन, समाजशास्त्र में जल और समुदाय, साहित्य में जल-चित्रण तथा अर्थशास्त्र में जल-प्रबंधन से जोड़ा जा सकता है।

इस प्रकार IKS अतीत का अध्ययन मात्र न रहकर वर्तमान समस्याओं के अध्ययन का माध्यम बन सकता है। स्थानीय ज्ञान और आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति का संवाद विद्यार्थियों में परियोजना-आधारित तथा समस्या-समाधान उन्मुख सीखने को बढ़ा सकता है।

**7. उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान :** उच्च शिक्षा में IKS को वैकल्पिक पाठ्यक्रम से आगे बढ़ाकर अंतर्विषयी अनुसंधान का क्षेत्र बनाया जा सकता है। वाणिज्य में भारतीय व्यापार परंपरा और अर्थचिंतन, कला में दर्शन-साहित्य-संस्कृति, विज्ञान में गणित एवं खगोल का इतिहास और तकनीकी शिक्षा में डिजिटल ज्ञान-संरक्षण जैसे विषय विकसित किए जा सकते हैं।

IKS Division की स्थापना अक्टूबर 2020 में अंतर्विषयी एवं पार-अंतर्विषयी अनुसंधान, IKS केंद्रों, शोध परियोजनाओं, फैकल्टी डेवलपमेंट और दस्तावेजीकरण जैसी गतिविधियों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से की गई थी। [4] इससे उच्च शिक्षा संस्थानों में IKS को शोध-आधारित ढंग से विकसित करने की संस्थागत संभावना दिखाई देती है।

**8. डिजिटल युग में भारतीय ज्ञान प्रणाली :** डिजिटल तकनीक प्राचीन पांडुलिपियों, दुर्लभ ग्रंथों, लोकज्ञान, मौखिक परंपराओं और भारतीय भाषाओं की सामग्री को संरक्षित करने का प्रभावी माध्यम है। डिजिटल कॉर्पस, ई-संग्रह, ऑनलाइन पाठ्यक्रम और डिजिटल मानविकी के माध्यम से ज्ञान तक पहुँच का विस्तार किया जा सकता है।

स्थानीय समुदायों के पारंपरिक कृषि-ज्ञान, जल-संरक्षण, लोकगीत, लोककला और शिल्प का ऑडियो-विजुअल दस्तावेजीकरण भी किया जा सकता है। इस कार्य में स्रोत की प्रामाणिकता, समुदाय की सहमति, संदर्भ और बौद्धिक संपदा संबंधी सावधानियों का पालन आवश्यक होगा।

**9. पर्यावरण एवं मूल्य शिक्षा ;** भारतीय परंपराओं में प्रकृति, जल, वन, भूमि और जीव-जगत के साथ संबंध से जुड़े अनेक विचार मिलते हैं। वर्तमान जलवायु परिवर्तन, जल संकट और जैव-विविधता की चुनौतियों के संदर्भ में इन परंपराओं का अध्ययन उपयोगी हो सकता है। किंतु किसी पारंपरिक पद्धति को केवल परंपरा के आधार पर आधुनिक समाधान मानना उचित नहीं; उसकी उपयोगिता का परीक्षण वर्तमान वैज्ञानिक परिस्थितियों में आवश्यक है।

NEP 2020 विद्यार्थियों में नैतिक एवं संवैधानिक मूल्यों के विकास पर भी बल देती है। सत्य, अहिंसा, सेवा, सहिष्णुता, करुणा, पर्यावरण-सम्मान, समानता, न्याय, स्वतंत्रता और बंधुत्व जैसे मूल्यों को भारतीय संदर्भ तथा संवैधानिक मूल्यों के साथ जोड़कर देखा जा सकता है।[6]

**10. प्रमुख चुनौतियाँ :** IKS के कार्यान्वयन में प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी, प्रमाणित सामग्री की आवश्यकता, विभिन्न परंपराओं की विविध व्याख्याएँ, अप्रमाणित दावों का जोखिम, भारतीय भाषाओं में उच्च-स्तरीय सामग्री की कमी तथा बहुविषयी अनुसंधान की आवश्यकता जैसी चुनौतियाँ हैं।

अकादमिक अध्ययन में दो अतियों से बचना आवश्यक है — भारतीय परंपरा को बिना अध्ययन के अस्वीकार करना और प्रत्येक प्राचीन दावे को बिना प्रमाण के वैज्ञानिक सत्य मान लेना। प्रमाण, स्रोत-समीक्षा, तुलनात्मक अध्ययन और आलोचनात्मक चिंतन IKS अध्ययन की विश्वसनीयता के लिए आवश्यक हैं।

**11. समाधान एवं सुझाव :** पहला, विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में IKS अध्ययन केंद्र और अंतर्विषयी शोध समूह विकसित किए जाएँ। दूसरा, शिक्षकों के लिए नियमित Faculty Development Programmes आयोजित किए जाएँ। तीसरा, हिंदी सहित भारतीय भाषाओं में मौलिक शोध-सामग्री तैयार की जाए। चौथा, विद्यार्थियों को स्थानीय ज्ञान के दस्तावेजीकरण पर परियोजनाएँ दी जाएँ। पाँचवाँ, पांडुलिपियों और दुर्लभ ग्रंथों का डिजिटल संरक्षण किया जाए। छठा, प्रत्येक दावे को उपलब्ध ऐतिहासिक और वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर प्रस्तुत किया जाए।

वैश्विक स्तर पर भारतीय ज्ञान प्रणाली का तुलनात्मक अध्ययन भी उपयोगी होगा। भारतीय, यूनानी, चीनी, अरब और यूरोपीय ज्ञान परंपराओं के बीच संवाद से यह समझ विकसित हो सकती है कि ज्ञान का निर्माण अनेक सभ्यताओं के योगदान से हुआ है।

**12. निष्कर्ष :** भारतीय ज्ञान प्रणाली भारत की सांस्कृतिक स्मृति भर नहीं है; यह ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, कला, भाषा, चिकित्सा, पर्यावरण और सामाजिक जीवन से जुड़ी विविध परंपराओं का व्यापक क्षेत्र है। NEP 2020 ने भारतीय ज्ञान और स्थानीय संदर्भों को शिक्षा में उचित स्थान देने की दिशा स्पष्ट की है। नीति में भारतीय ज्ञान प्रणालियों को पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक और सटीक ढंग से सम्मिलित करने का प्रावधान है।[7]

IKS की सार्थकता तब बढ़ेगी जब इसे अतीत के गौरव तक सीमित न रखकर आधुनिक शिक्षा, अनुसंधान, डिजिटल तकनीक, पर्यावरण, स्थानीय ज्ञान और समकालीन सामाजिक समस्याओं से जोड़ा जाए। इसके लिए आलोचनात्मक चिंतन, प्रमाण-आधारित अनुसंधान, बहुभाषिक ज्ञान-सृजन और बहुविषयी दृष्टिकोण आवश्यक हैं। परंपरा और आधुनिकता के बीच रचनात्मक संवाद स्थापित करके भारतीय ज्ञान प्रणाली 21वीं सदी की शिक्षा को अधिक समग्र, मानवीय, सृजनात्मक और ज्ञान-केंद्रित बनाने में योगदान दे सकती है।

**संदर्भ सूची — APA शैली के निकट प्रारूप :**

1. भारत सरकार, शिक्षा मंत्रालय। (2020). राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (National Education Policy 2020). नई दिल्ली: भारत सरकार।
2. भारत सरकार, शिक्षा मंत्रालय। (2020). Consultation Process: National Education Policy 2020. नई दिल्ली: शिक्षा मंत्रालय।
3. Ministry of Education, Government of India. (2020). Indian Knowledge Systems, Arts and Culture: NEP 2020 Reference.
4. Indian Knowledge Systems Division, Ministry of Education, Government of India. (2020). About Indian Knowledge Systems Division.
5. भारत सरकार, शिक्षा मंत्रालय। (2024). National Education Policy 2020 Initiatives. नई दिल्ली: शिक्षा मंत्रालय।
6. आर्यभट्ट। आर्यभटीय।
7. भास्कराचार्य। लीलावती।
8. चरक। चरक संहिता।
9. सुश्रुत। सुश्रुत संहिता।
10. कौटिल्य। अर्थशास्त्र।

11. पाणिनि। अष्टाध्यायी।
12. भरतमुनि। नाट्यशास्त्र।
13. पतंजलि। योगसूत्र।
14. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली। भारतीय दर्शन।
15. ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद तथा प्रमुख उपनिषद।

**वेब-स्त्रोत :**

1. Ministry of Education, Government of India — National Education Policy 2020. https://www.education.gov.in/nep2020
2. Ministry of Education, Government of India — Consultation Process. https://www.education.gov.in/nep/about-consultation
3. Ministry of Education, Government of India — NEP 2020 PDF. https://education.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/NEP_Final_English_0.pdf
4. Indian Knowledge Systems Division, Ministry of Education — About IKS Division. https://iksindia.org/

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-238-243

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 238-243
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. माया गोला**

असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग, सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय परिसर, अल्मोड़ा, उत्तराखंड

Corresponding Author :

**डॉ. माया गोला**

असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग, सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय परिसर, अल्मोड़ा, उत्तराखंड

# रह गईं दिशाएं इसी पार उपन्यास में अभिव्यक्त पूंजी और विज्ञान के गठजोड़ की पड़ताल

**शोध सारांश :** शोध सारांश: संजीव का यह उपन्यास हिंदी साहित्य में बेलगाम पूंजी, जैविकी (बायोलॉजी), जेनेटिक्स और क्लोनिंग जैसे विषयों पर रचित पहला प्रमुख उपन्यास माना जाता है,जो मनुष्य की अंतहीन लिप्सा और पूंजी के द्वारा विज्ञान के दुरुपयोग की कहानी कहता है। कहानी मुख्य रुप से विस्नू बिजारिया नामक एक बड़े व्यवसायी के इर्द-गिर्द घूमती है।विस्नू की कंपनी मांसाहार उत्पादन और सप्लाई में विश्व स्तर पर विस्तार चाहती है। वे समुद्री तटों पर मछली पकड़ने का एकाधिकार हासिल करना चाहते हैं और प्रकृति का बेतहाशा दोहन करते हैं। उनकी सबसे बड़ी इच्छा अजर (उम्र बढ़ने से मुक्त) होना है। इस चाह में वे कई वैज्ञानिक प्रयोगशालाएँ चलाते हैं, जहाँ स्टेम सेल्स, क्लोनिंग और अंग-प्रत्यारोपण जैसे प्रयोग होते हैं। विस्नू का इकलौता बेटा अतुल बिजारिया (उर्फ जिम) एक टेस्ट-ट्यूब बेबी है। माँ एलिस के गर्भाशय में समस्या के कारण उसे नानी कैथरिन के गर्भ में ट्रांसप्लांट किया गया था। ज्ञान -विज्ञान और पूंजी की नाभिनालबद्धता इस उपन्यास की केंद्रीय भूमि है। विज्ञान जब तक मनुष्यता से जुड़ा रहता है तब तक तो वरदान है, लेकिन जब पूँजी और उसकी हवस के हाथ का खिलौना बन जाता है तो विनाशकारी हो जाता है।

**बीज शब्द :** मनुष्य, प्रकृति, मिथक, इतिहास, ब्रह्मांड, विज्ञान, सृष्टि और संहार जीवन और मृत्यु, पूंजी, शोषण, विनाश।

**मुख्य आलेख:** हिंदी साहित्य में समकालीन कथा-साहित्य की जनवादी धारा के प्रमुख हस्ताक्षर संजीव विज्ञान की पृष्ठभूमि से आए कथाकार हैं। "20वीं सदी के उत्तरार्ध में नई भावभूमि को लेकर उभरे कथाकारों में संजीव अपनी अलग एवं महत्त्वपूर्ण पहचान रखते हैं। संजीव भीड़ से अलग अपनी राह चलने वाले एक परिश्रमी, प्रतिबद्ध एवं बेचैन कथाकार हैं।"[1] उन्होंने इंडियन आयरन एंड स्टील कंपनी, कुल्टी (पश्चिम बंगाल) में रसायनज्ञ के रुप में कार्य किया। इस वैज्ञानिक अनुभव ने उनकी रचना-दृष्टि को विशेष गहराई दी। "संजीव के उपन्यासों का कथ्य मौलिक ही

नहीं वरन अनेक संभावनाएं लेकर अवतरित होता है वह कथ्य में नवीनता ही नहीं ढूंढते हैं वरन उसकी व्यापक धरातल पर अभिव्यक्त भी करते हैं।"[2] संजीव भविष्यद्दष्टा सृजनकर्ता हैं। "स्वतंत्र्योत्तर काल में पूंजीपति और व्यवस्था ने आम आदमी के जीवन को खोखला बना दिया है। खुलेआम उसकी जिंदगी के साथ खिलवाड़ की जाती है। संजीव के उपन्यासों में व्यवस्थागत विसंगतियों का व्यापक और यथार्थ चित्रण मिलता है।"[3] उनका उपन्यास "रह गई दिशाएं इसी पार" पूंजी, वर्ग और जाति के जंजाल में उलझे हुए समाज के बीच बहती हुई लिप्साओं और मेहनतकश जीवन से मुठभेड़ करता है। "इस उपन्यास में यह सच उजागर होता है कि इस समाज के पूंजीवादी संचालन में श्रम, मनुष्य, प्रेम, मानवीय मूल्य, सभ्यता, पारिस्थितिकी आदि सब कुछ बिकाऊ मात्र हैं। यहां तक कि प्रकृति के साथ-साथ प्रत्येक जीव कॉर्पोरेट की परखनली में डूब चूभ /छटपटा रहा है। संजीव इस रचना में यथार्थ को बहुकोणीय नजर से प्रस्तुत करते हुए यथार्थवाद की प्रचलित धारणा को ध्वस्त करते हैं। संपूर्णता में ऐसा उपन्यास भारतीय भाषाओं में अब तक दुर्लभ है।"[4]

इस उपन्यास के बारे में राजेंद्र यादव का कहना है कि "रह गई दिशाएं इसी पार कथाकार संजीव का बेहद महत्वाकांक्षी उपन्यास है जिसे लिखने में उन्होंने दसियों वर्ष लगाए हैं। यह एक वैज्ञानिक खोज का उपन्यास भी है। इसमें टेस्ट ट्यूब बेबी के बहाने उन्होंने जन्म, मृत्यु, जीवन, मरण, जेंडर, ईश्वर और अनंत के रहस्यों पर एक वैज्ञानिक की तरह बात की है। जो प्रश्न अभी तक सिर्फ दर्शनशास्त्र के तर्क- वितर्कों और आत्मगत निष्कर्षों तक सीमित रहे हैं उन्हें वैज्ञानिक प्रयोगशाला में लाकर वस्तुगत तथ्यों की तरह उलटना- पुलटना बौद्धिक दुस्साहस लग सकता है।मगर वैज्ञानिक शोध के परिवेश में लिखा गया यह उपन्यास हिंदी में तो विलक्षण है ही मुझे नहीं लगता किसी और भारतीय भाषा में भी ऐसी कोई रचना है। हां इसके आस्वाद के लिए विज्ञान की प्राथमिक जानकारी से भी ज्यादा वैज्ञानिक दृष्टि की जरूरत है।"[5] यह उपन्यास सृष्टि और संहार, जीवन और मृत्यु के बफर-जोन पर खड़े मनुष्य की नियति से साक्षात्कार कराता है। उपन्यास पारंपरिक ढाँचे में गैर-पारंपरिक हस्तक्षेप करता है और मिथक, इतिहास, विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा समकालीन चिंतन को एक प्रयोग-भूमि बनाता है। यह जीवन और मृत्यु के दोनों छोरों के आर-पार तक विस्तारित है, जहाँ काल अनंत हो जाता है और दिशाएँ छोटी पड़ जाती हैं। यह उपन्यास जीव विज्ञान की खोज और पूंजी के हाथों विज्ञान के दुरुपयोग की कहानी भी साथ-साथ कहता है, " पिछले कुछ दशकों में जीव विज्ञान में अपूर्व अनुसंधान और प्रयोग हुए हैं और उनकी उपलब्धियां भी अपूर्व ही हैं। इस प्रक्रिया में लिंग परिवर्तन, उधार की कोख, हार्मोन थेरेपी, क्लोनिंग, टेस्ट ट्यूब बेबी, कृत्रिम गर्भाधान, टिश्यू कल्चर आदि का वर्तमान पूंजीवाद में व्यापार करने और लाभ कमाने के लिए कितना और कैसा वीभत्स दुरुपयोग किया है यह जानना हो तो "रह गई दिशाएं इसी पार" को पढ़ना आवश्यक है और उपयोगी भी।"[6] इस उपन्यास का एक महत्वपूर्ण पात्र विशाल एक जगह कहता है- "यह पैसे वाले ज्ञान -विज्ञान की सारी बौद्धिक संपदा को हथिया लेना चाहते हैं- अब तक सुनता ही आया था आज प्रत्यक्ष हो गया।"[7] पूंजी की अंधी दौड़ को संजीव ने बहुत पहले ही पहचान लिया था। पूंजीवाद विज्ञान को अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए तो इस्तेमाल करता ही है साथ ही वह इसका भीषण विनाश के लिए भी उतना ही दुरुपयोग करता है। आज 'ए आई' के संभावित खतरे के मद्देनजर भी इस उपन्यास को देखा जा सकता है कि कैसे विज्ञान के उपयोगी आविष्कार कॉरपोरेटी पूंजी के हाथों मनुष्य के लिए खतरा उत्पन्न करने वाले और उसके विनाशक हो सकते हैं।पूंजीवाद सिर्फ लाभ के सिद्धांत पर काम करता है। यह मनुष्य को भी एक उत्पाद ही समझता है। बेचना और लाभ कमाना ही पूंजीवाद की संस्कृति है। अपने इस उपन्यास में मछुआरिनों के माछ बेचने के प्रसंग में संजीव कहते हैं,"माछ ले लो माछ! टटका माछ! मांस लेना है मांस! किस जीव का मांस! आदमी तक का मांस हमारे पास है। बोलो, क्या चाहिए।

पूरा देश बैठा है बेचने। क्या बेच रहे हैं लोग?मछली? मांस?

सिर्फ मछली नहीं, सेक्स,आँख, दिल, खून किडनी, स्टेम सेल्स, कोख...

अलसायी अलसायी धूप में टाँगे फैलाये -डिंब ले लो डिंब। मछली, घड़ियाल, कछुए, मुर्गी हंस के नहीं, आदमी के डिंब उंकडू बैठ...टाँगे फैलाये...स्पर्म ले लो स्पर्म, जैसा चाहे वैसा स्पर्म! यकीन नहीं आता?
लोग हथेलियों पर रखकर अपना माल दिखा रहे हैं- ये देखो, ये डिंब,ये वीर्य, ये कोख, ये...
सब बेच रहे हैं खुद को, झेंपने की जरूरत नहीं। श्लील, अश्लील, मूल्य संस्कार की सारी रेखाएँ मिट गई हैं।
क्या कहा? असलहे? असलहे भी कितने चाहिए? हां, किसे मारना है और किसे जिलाये रखना है यह हम तय करेंगे, आप नहीं।"[8]

गहरी पाठकीय संवेदना- समझ और विवेक सम्मत विवेचना के आलोक में उपन्यास के पृष्ठ खंगालने पर समाज, पूंजी और साम्राज्यवाद के घिनौने चेहरे हमारे सामने उपस्थित होते हैं। आलोचक मैनेजर पांडेय के शब्दों में "यह उपन्यास भारत और दुनिया की समस्याओं और सूचनाओं की खान है। इस उपन्यास में संजीव ने अमेरिकी साम्राज्यवाद की निर्मम आलोचना की है।"[9] इस उपन्यास में अमेरिका के अनेक राष्ट्रपतियों की करतूत का ब्यौरा भी मौजूद है," बर्बर लोगों की बात ही छोड़िए। जॉर्ज वाशिंगटन जैसे अमेरिकी स्वतंत्रता के महान योद्धा तक की वसीयत में 160 गुलाम थे। बेंजामिन फ्रैंकलिन और 'स्वाधीनता का घोषणा पत्र' के रचयिता टामस जेफरसन छांट छांटकर नीग्रो युवतियां खरीदते थे। मुक्त करने के लिए? नहीं आरती उतारने के लिए! अरे भोगने के लिए। फ्रैंकलिन का तो दास उत्पादन का ही व्यापार था। भोगी हुई औरतों से जो लड़कियां पैदा होतीं, यानी उनकी अपनी बेटियां, वे भी बेच दी जातीं। प्रेसिडेंट जेफरसन अपनी ऐसी कन्याओं को सीधे रंडी खाने में बेचा करते।"[10]

पूंजी और साम्राज्यवाद की पोल खोलने के बाद संजीव की दृष्टि अन्यत्र भी फैलती है और हमारे सामने लहूलुहान चित्र प्रस्तुत करती है। संजीव अपने इस उपन्यास में स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य सिर्फ पूंजी को लेकर ही स्वार्थी नहीं है, उसके स्वार्थ के कई और कोण भी हैं, "और सुनिए लेवोजियर जैसे विश्व के अग्रणी वैज्ञानिक को गिलोटिन दे दी गई।वह मिन्नतें करता रहा कि कम से कम पहले से चल रहे उसके प्रयोग को पूरा कर लेने दें,लेकिन जुनूनियों ने एक न सुनी, जिस व्यक्ति को बनाने में सैकड़ो साल लगे होंगे उसका सिर धड़ से अलग करने में उन्हें एक सेकंड भी न लगा।और यह सब किया किसने?

"किसी हत्यारे ने, तानाशाह ने,पागल ने!"

"नहीं, फ्रांस के क्रांतिकारियों ने, जिनकी हम प्रशंसा करते हैं।"

रैले को जो एक लेखक भी था, झूठ बोलते वह धोखा धड़ी के लिए गिलोटिन से बलि दी गई जबकि वहां अपनी ही बेटी व दास को बेचना न्याय संगत था।... ये बर्बर प्रथाएं तमाम दुनिया में प्रचलित थीं। अफ्रीका के कैनिबल में तो अपने घर के सदस्य को ही मरणोपरांत खा जाते हैं। विचित्र अंतर विरोध है कि इस्लाम में शराब हराम है मगर जन्नत में शराब के झरने मिलने के प्रलोभन हैं। ऐसे ही दूसरे दूसरे अंतर विरोध भी...। नीग्रो लोगों के संदर्भ में कहा गया कि वह 60% नहीं मात्र 50% इंसान हैं। पूरी न्याय व्यवस्था में जज घूस लेते थे खुलेआम। चाणक्य ने खुलेआम राजाओं को अमीर सेठों के धन को छल से जुए में लूट लेने को कहा है। चाणक्य, मनु शंकराचार्य, मोहम्मद साहब, वाशिंगटन, फ्रैंकलिन,जेफरसन या रैले जैसे लोग काफी सचेत बुद्धिजीवी थे। जाति,धर्म, सेक्स और स्वार्थ का सवाल आने पर बड़ों बड़ों का आसान डोल जाता है। विवेकानंद में भी जाति और स्वधर्म के प्रति कलर ब्लाइंडनेस था।"[11] जाहिर सी बात है आज की कॉरपोरेटी पूंजी का चेहरा पूर्व में जातीय और धार्मिक दंभ तथा नस्लीय दंभ का रहा है।

इस उपन्यास के केंद्र में विज्ञान के साथ-साथ पूंजी है, पूंजी जो सत्ता के रूपक में ढलकर मनुष्य से मनुष्यता के आवरण को नोंच कर उतार फेंकती है, " सभ्यता का रथ कितने बेगुनाहों को पीसता हुआ रक्त पंकिल पथ से आज पूंजीवाद की प्रतियोगिता मूलक और सामाजिक प्रवृत्ति तक आ पहुंचा है जिसमें अब समाज नहीं होगा। एक दूसरे को कुचलकर लोग आगे बढ़ेंगे। समाज नहीं होगा तो व्यक्ति दिनों- दिन अकेला और असहाय होता जायेगा।"[12] संजीव की चिंता वाजिब है।

यह उपन्यास केंद्रीय पात्र अजय, जिम और विस्नू बिजारिया के क्रियाकलापों द्वारा आवारा पूंजी और साम्राज्यवाद की जो कथा रचता है वह इकहरी नहीं है, "अब ऐसा है कि वैज्ञानिक के पास प्रतिभा होती है लेकिन पैसा...? पैसा तो पूंजीपति के पास होता है या फिर शासक या सरकारों के पास। ये सेठ और सरकारें उन्हें खिलानी पिलाती हैं, पैसे देती हैं, पालतू बनाती हैं। फैराडे साब को अंग्रेज सरकार ने विषाक्त गैस बनाने को कहा -उसने इंकार कर दिया। उसे तो उस सरकार ने ज्यादा नुकसान नहीं पहुंचाया लेकिन ओपेन हाइमर और रोजन वर्ग दंपति जैसों को अपमान व मौत तक झेलनी पड़ी।"[13] यह पूंजी ही है जो मनुष्य को उपभोक्ता और उत्पाद में बदलती है, "ययाति ग्रंथि यानी अजरत्व की कामना यानी काल के प्रवाह को थाम कर चिर युवा बने रहने की अभीप्सा क्लोनिंग यदि इसका एकमात्र विकल्प है तो तीसरी दुनिया की गरीबी के चलते ह्यूमन क्लोनिंग के प्रयोगों हेतु इंसानों को उपलब्ध कराना और ह्यूमन क्लोन को गर्भ में प्रत्यारोपित करना जरा भी कठिन कार्य नहीं।"[14]

संजीव बेलगाम पूंजी से उत्पन्न खतरों को पहचानते हैं और उनसे चिंतित होते हैं, "आदमी को मार कर खा जाने वाली कबीलाई संस्कृति की स्मृतियां अभी इतनी क्षीण नहीं हुईं कि उन्हें पुनर्जीवित न किया जा सके। यूं भी अतीत की व्याख्याएं सदा से आज के सामर्थ्यवानों द्वारा अपने मंतव्यों को 'मूल्य' सिद्ध करने के लिए की जाती रही हैं।"[15] विस्नू बिजारिया की पत्नी एलिस के माध्यम से संजीव कहते हैं, "भारत और शिकागो के स्लॉटर हाउस में फलते फूलते मांस उद्योग के घिनौने सच को जहां वैज्ञानिक उपकरणों की मदद से प्रोफेशनल दक्षता के साथ 'जीवन से भरे मवेशी पाउंडों, डॉलरों, यूरो और येनों में तब्दील हो रहे थे, उनका जिस्म कट-पिट नुच -चुंथ कर पैकिंगों में।' यही नहीं जार में रखे नौवें माह के भ्रूण के मांस पिंड पर लगाए गए लेवल 'बाल भोग' का रहस्य भी अब खुला है उसके सामने। समृद्धि,ग्लैमर और तेज रोशनियों के नीचे फल -फूल रहे यौनिकता उद्योग के नरक को अपनी आंखों से देखा है उसने।"[16]

संजीव ने गहरी मार्क्सवादी दृष्टि और सघन वैज्ञानिक जानकारी के आलोक में इस उपन्यास में पूंजी और विज्ञान के गठजोड़ को रेखांकित किया है, "विज्ञान अपने प्रारंभिक दिनों से ही पूंजी की बंधुआगिरी करता रहा है। जिस प्रकार पूंजी के अन्य रुप मानव द्वेषी हैं ठीक उसी तरह विज्ञान की दुनिया में भी पूंजी की भूमिका रक्त पिपासु की ही रही है। यही यथार्थ है जिससे संजीव पूर्ण परिचित हैं और हमें परिचित करवाना चाहते हैं।"[17] पूंजी के समस्त विद्रूपों का प्रतीक इस उपन्यास का मुख्य पात्र विस्नू बिजारिया है इसके बारे में उसकी मां के विचार हैं, "जो श्वेत चूहे शुभ माने जाते हैं और जिनकी वे पूजा करती रही हैं उन्हें ही तरह-तरह से तकलीफें देकर मरवाता फिरता है उनका बड़ा बेटा। जिन गायों की रक्षा करने में उनके छोटे बेटे किस्नू ने जीवन लगा दिया, उन गायों को कटवाता है उनका बड़ा बेटा। भेड़ बकरी भी, यहां तक की सूअर भी। घर में मांस मछली वर्जित है और मछलियों का धंधा करता है उनका विस्नू। आदमी तक के मांस का कारोबार करता है।"[18] यह पूंजी का घिनौना,लोभी और हिंसक पक्ष है जबकि उसका दूसरा पक्ष फासीवादी भी है, "पूंजी की यात्रा का ही एक पड़ाव है, धार्मिक पहचान की सांप्रदायिक राजनीति के रथ पर सवार होकर फासीवादी शासन व्यवस्था की स्थापना। उपन्यासकार भविष्य की इस आहट को भांप रहा था इसलिए उसने किस्नू बिजारिया नामक पात्र को गढ़ा जो गो -रक्षा की अति करुणामयी यात्रा से शुरुआत करता हुआ धर्म के धंधे के विशाल आसन पर सवार हो जाता है।"[19] पूंजी के खूनी पंजों की कहानी कहता हुआ यह उपन्यास अपनी संरचना में एकरेखीय नहीं है, क्रूर सच को कहते हुए संजीव की आँखें एक सुंदर प्रति -संसार का स्वप्न देखती हैं, जहां भी पूंजी के साथ-साथ जाति के सांप को सांप को भी फुंफकारते हुए देखते हैं, "संजीव जी की यह समाजशास्त्रीय दृष्टि का कमाल है कि वे धर्म के धंधे में भी सर्वव्यापी जाति के फुंफकारते नाग को दुम से पकड़ कर उल्टा लटका देते हैं।"[20]

यह एक नितांत घातक पहलू है कि विज्ञान और वैज्ञानिक पूंजी की गुलामी करते हैं, "नतीजन विशाल भी विस्नू बिजारिया की अनंत अतृप्त भोग- संभोग की इच्छा को पूर्ण करने का उपकरण बनकर रह जाता है। युवा आलोचक मृत्युंजय 'समकालीन जनमत' में प्रकाशित इस उपन्यास की समीक्षा में ठीक ही टिप्पणी करते हैं, 'पुराने जमाने के वफादार देबू ठाकुर और नए जमाने के वैज्ञानिक विशाल दोनों ही इस पूंजी मालिक के लिए जी -जान से

काम करते हैं। कॉरपोरेटी पूंजी कैसे आधुनिक और सामान्य तत्वों का एक साथ फायदा उठाती है, विस्नू बिजारिया इसका मूर्तिमान रूप है।' दिक्कत सिर्फ यही है आत्ममुग्ध वैज्ञानिक विशाल को अपनी इस गुलामी का जरा सा पछतावा भी नहीं है।"[21]

उपन्यास की केंद्रीय जमीन 'अतुल मेंशन' और केंद्रीय पात्र 'विस्नू बिजारिया' द्वारा पूंजी के स्याह पक्ष बड़ी बारीकी से उद्घाटित होते हैं ..."यह उपन्यास कॉरपोरेट जगत की हल-चल और उनके भीतर की तिकड़मों का पर्दाफाश करने के साथ यह दिखाने की कोशिश करता है कि यह अदृश्य दुनिया कैसे चलती है। पूंजीवाद की आलोचना के क्रम में संजीव जी उसके आज के प्रबल स्रोत अमेरिका की आलोचना तक पहुँचते हैं। वे उस महाशक्ति के श्रेष्ठताबोध के मूल आधारों / प्रतिकों पर ही चोट करते हैं"[22]

पूंजीपति पूंजी के बल पर सब कुछ भोगते हैं। ज्ञान -विज्ञान और बौद्धिक संपदा को भी हथिया लेते हैं। "संजीव ने बड़ी कलात्मकता के साथ कारपोरेट परिवार और व्यापक जन का ताना-बाना बुना है। मां करणी देवी के माध्यम से घर में धर्म अध्यात्म का रंग चढ़ा दिखता है। इस घर में धन की अतिशय कामना में बड़ा भाई विस्नू एशिया का सबसे बड़ा सूअर बाड़ा, कसाई खाना, मछली व्यापार, चमड़ा उद्योग जैसे जाने कितने व्यवसायों का कर्ता धर्ता है। भोगवाद ने मानो इस घर की अंतरात्मा ही छीन ली है। इस घर का हर सदस्य यहां तक कि उनकी सेवा में लगे कर्मचारी तक आत्म निर्वासन का दंड भोग रहे हैं, टूटे बिखरे पड़े हैं। अतुल मेंशन में खुशियां नहीं मुर्दनी शांति का मनहूस माहौल है। इन तथाकथित समाज व धर्म के सुधारकों, ठेकेदारों, वर्चस्वकारी शक्तियों की जटिलता का विश्लेषण संजीव बड़े समझदार वैज्ञानिक की तरह करते हुए उन खाली स्थानों पर उंगली रखने की कोशिश करते हैं जहां से अंतरविरोध आरंभ होता है।"[23] कहना अनुचित न होगा कि समाज में व्याप्त अंतरविरोधों खासतौर पर जाति, धर्म और वर्ग से संबंधित अंतरविरोधों पर पूंजी की बेल खूब फलती फूलती है। मेहनतकश वर्ग हर जगह पूंजी के शोषण का शिकार है। वह एकजुट होता है संघर्ष भी करता है लेकिन सफल नहीं हो पाता है। बंगाल के एक छोटे से ग्राम केंदुली की मछुवारन लड़की बेला को सतत जीवन संघर्ष ने समझाया है कि सारे शोषित जब तक एकजुट नहीं होंगे, धन की इस विशाल ताकत से मुठभेड़ संभव नहीं। "परंतु मजदूरों के लिए तो हर जगह तट से लेकर गहरे समुद्र तक विस्नू या इस जैसे पूंजी पतियों का शोषण जाल फैला हुआ है। मछली प्रोसेसिंग सेंटर में काम करने वाले मजदूरों की स्थितियां और भी बदतर थीं। इसी संदर्भ में एक छोटा सा प्रसंग प्रोसेसिंग सेंटर में काम करने वाली बेहद गरीब तबके से आई हुई मजदूरिन लड़कियों का है जो अपनों की प्रताड़ना के चलते परिवार के दमघोटूं वातावरण से भाग आयी हैं हालांकि यहां भी स्थिति बेहतर नहीं है। ये सभी पूंजीवादी व्यवस्था के शोषण से जूझ रही हैं।"[24] अजीब भयावह स्थिति है,"अकड़ी उंगलियों से सामान उठाये नहीं उठ रहे थे। कहां केंदुली के गर्म पानी का स्वच्छंद जीवन कहां यह कलेजे को कंपा देने वाली ठंडक? कमरा मिले चाहे न मिले, पहली राहत इस काल कोठरी से बाहर निकलने की थी। बाहर आते ही उमस भरी आत्मीय गर्म हवा ने बेला का स्वागत किया।... खाना खाकर अपने लिए आशियाना ढूंढने निकली तो हैरान रह गई। वही दो मंजिले के ऊपर वाले कमरे। 10 बाई 10 के एक-एक कमरे में छह- छह, कहीं-कहीं आठ -आठ लड़कियां। जिस कमरे के सामने भी जाकर खड़ी होती, अंदर की लड़कियां चीखने लगतीं, "यहां नहीं, यहां कहां जगह है?"[25] तो आखिर किसने छीन ली मेहनतकश लोगों की जगह? और इसका जवाब है पूंजी। "मानव इतिहास में हर एक सभ्यता बर्बर रही है, मनुष्य के श्रम की विरोधी रही है। जबकि सभी चीजों का अस्तित्व श्रम का परिणाम रहा है। ऐसे में ऐसी प्रत्येक सभ्यता से श्रम की सभ्यता की मुक्ति का प्रश्न सर्वोपरि है। जब व्यक्तिगत पूंजी का अंत होगा, सत्ता का ढांचा समाज केंद्रित होगा, जब सामूहिक श्रम का प्रभाव और सम्मान पुष्पित होगा। इसे संजीव के अंदाज में सुनना और महसूस करना मानीखेज है...एक लेखक आने वाले वक्त की आहट को कितना पहले ही सुन लेता है इसे हम इस उपन्यास की महान चरित्र बेला की जबान में जैसे आज भी सुन रहे हैं, 'जिस तरह पूरे देश के जंगल, पहाड़, नदी, जमीन और संपदा को छीन कर बेचा जा रहा है, उसी तरह हमारे आठ हजार किलोमीटर सागर तट के

अधिकारों को हमसे छीन कर बड़ी कंपनियों को बेच दिया जाएगा। अब भी वक्त है आप चेत जाइए'।"[26] बेहद जागरूक और सचेत कथाकार संजीव ने विस्नू बिजारिया की कथा के बहाने दुनिया के भीतर की दुनिया का कच्चा चिट्ठा खोलकर हमारे सामने रख दिया है जहां सब कुछ खरीद सकने के हथकंडे हैं...यह दुनिया असल में एक बड़ा बाजार है यहां सब कुछ खरीदा जा सकता है और इस खरीद फरोख्त को संभव बनाती है पूंजी, जो चंद लोगों के हाथ की कठपुतली है।

**संदर्भ :**


1. कथाकार संजीव: संपादक गिरीश काशिद, शिल्पायन प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 2008, पृष्ठ सं0 245
2. वही सं0 245
3. वही, पृष्ठ सं0 253
4. रामजी सिंह यादव, समकालीन सोच: संजीव के विविध रंग, अतिथि संपादक: रामजी सिंह यादव, जुलाई 2023 से जून 2024, पृष्ठसं0 10
5. राजेंद्र यादव, समकालीन सोच: संजीव के विविध रंग, अतिथि संपादक: रामजी सिंह यादव, जुलाई 2023 से जून 2024, पृष्ठ सं0 119
6. मैनेजर पांडेय, समकालीन सोच: संजीव के विविध रंग, अतिथि संपादक: रामजी सिंह यादव, जुलाई 2023 से जून 2024, पृष्ठ सं0120
7. संजीव: रह गई दिशाएं इसी पार, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012, पृष्ठ सं0 118
8. वही, पृष्ठ सं0 302
9. मैनेजर पांडेय, समकालीन सोच: संजीव के विविध रंग, अतिथि संपादक: रामजी सिंह यादव, जुलाई 2023 से जून 2024, पृष्ठ सं0 121
10. संजीव: रह गई दिशाएं इसी पार, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012, पृष्ठ 284-285
11. वही, पृष्ठ सं0 285
12. वही सं0 285
13. वही, पृष्ठ सं0 283
14. रोहिणी अग्रवाल, समकालीन सोच: संजीव के विविध रंग, अतिथि संपादक: रामजी सिंह यादव, जुलाई 2023 से जून 2024, पृष्ठ सं0 126-127
15. वही, पृष्ठ सं0 129
16. वही, पृष्ठ सं0128
17. रणेंद्र, समकालीन सोच: संजीव के विविध रंग, अतिथि संपादक: रामजी सिंह यादव, जुलाई 2023 से जून 2024, पृष्ठ सं0 130
18. संजीव: रह गई दिशाएं इसी पार, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012, पृष्ठ सं0 233
19. रणेंद्र, समकालीन सोच: संजीव के विविध रंग, अतिथि संपादक: रामजी सिंह यादव, जुलाई 2023 से जून 2024, पृष्ठ सं0 131
20. वही, पृष्ठ सं0 133
21. वही पृष्ठ सं0 133
22. वही, पृष्ठ 135
23. डॉ. पुष्पा बरनवाल, समकालीन सोच: संजीव के विविध रंग, अतिथि संपादक: रामजी सिंह यादव, जुलाई 2023 से जून 2024, पृष्ठ 138
24. वही, पृष्ठ 139
25. वही, पृष्ठ 140
26. वही, पृष्ठ 143

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-244-248

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 244-248
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. संतोष कुमार सिंह**

असिस्टेंट प्रोफेसर, बी.एड., राणा प्रताप पी.जी. कॉलेज, सुलतानपुर, उत्तर प्रदेश

Corresponding Author :

**डॉ. संतोष कुमार सिंह**

असिस्टेंट प्रोफेसर, बी.एड., राणा प्रताप पी.जी. कॉलेज, सुलतानपुर, उत्तर प्रदेश

# शिक्षा, साहित्य, संस्कृति और पर्यावरण की वैश्विक चुनौतियां और संभावनाएं

**सारांश :** वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में शिक्षा, साहित्य, संस्कृति और पर्यावरण को अलग-अलग क्षेत्रों के रूप में देखने के स्थान पर उन्हें मानव सभ्यता के समग्र विकास से जुड़े परस्पर पूरक आयामों के रूप में समझना आवश्यक है। एक ओर विज्ञान, प्रौद्योगिकी और डिजिटल क्रांति ने ज्ञान एवं संचार के नए अवसर उपलब्ध कराए हैं, वहीं दूसरी ओर जलवायु परिवर्तन, जैव विविधता का क्षरण, प्रदूषण, असमानता, सांस्कृतिक विघटन, भाषाई संकट, डिजिटल विभाजन और मानवीय मूल्यों में गिरावट जैसी चुनौतियां भी तीव्र हुई हैं। UNESCO के अनुसार शिक्षा जलवायु परिवर्तन के शमन और अनुकूलन के लिए ज्ञान, कौशल तथा व्यवहार परिवर्तन का महत्वपूर्ण माध्यम है, जबकि UNEP वर्तमान पर्यावरणीय संकट को जलवायु परिवर्तन, जैव विविधता हानि तथा प्रदूषण एवं अपशिष्ट की परस्पर संबद्ध त्रि-ग्रहीय चुनौती के रूप में रेखांकित करता है।

इस शोध-पत्र का उद्देश्य शिक्षा, साहित्य, संस्कृति और पर्यावरण के अंतर्संबंधों का विश्लेषण करते हुए उनकी वैश्विक चुनौतियों तथा संभावनाओं को रेखांकित करना है। अध्ययन में वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है। अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि यदि शिक्षा को मूल्यपरक बनाया जाए, साहित्य को सामाजिक एवं पर्यावरणीय चेतना का माध्यम बनाया जाए, सांस्कृतिक विविधता को संरक्षण मिले और पर्यावरणीय जिम्मेदारी को जीवन-शैली का हिस्सा बनाया जाए, तो सतत एवं मानवीय वैश्विक समाज के निर्माण की दिशा में महत्वपूर्ण प्रगति संभव है।

**प्रमुख शब्द :** शिक्षा, साहित्य, संस्कृति, पर्यावरण, वैश्वीकरण, सतत विकास, सांस्कृतिक विविधता, पर्यावरणीय चेतना, मानव मूल्य।

**प्रस्तावना :** मानव सभ्यता का विकास केवल भौतिक प्रगति की कहानी नहीं है। मनुष्य ने ज्ञान अर्जित किया, अनुभवों को भाषा एवं साहित्य में

अभिव्यक्त किया, संस्कृति के माध्यम से अपनी सामूहिक पहचान निर्मित की और प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व की विभिन्न परंपराओं को विकसित किया। शिक्षा ने इन सभी प्रक्रियाओं को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाने में केंद्रीय भूमिका निभाई है। इसलिए शिक्षा, साहित्य, संस्कृति और पर्यावरण को परस्पर अलग करके नहीं देखा जा सकता।

इक्कीसवीं सदी में वैश्वीकरण और डिजिटल तकनीक ने दुनिया को अभूतपूर्व रूप से जोड़ा है। ज्ञान कुछ ही क्षणों में एक देश से दूसरे देश तक पहुंच सकता है। ऑनलाइन शिक्षा, डिजिटल पुस्तकालय, ई-पुस्तकें, कृत्रिम बुद्धिमत्ता, अनुवाद तकनीक और सामाजिक संचार माध्यमों ने ज्ञान एवं साहित्य के प्रसार को नई गति दी है। किंतु इसके साथ ही सूचना की विश्वसनीयता, डिजिटल असमानता, सांस्कृतिक एकरूपता, भाषाई संकट और मानवीय संवाद में कमी जैसी नई चुनौतियां भी सामने आई हैं।

UNESCO की वैश्विक शिक्षा निगरानी रिपोर्ट के अनुसार 2015 के बाद विश्व स्तर पर विद्यालय जाने वाले बच्चों और युवाओं की संख्या में वृद्धि हुई है, लेकिन अभी भी बड़ी संख्या में बच्चे एवं युवा शिक्षा से बाहर हैं। रिपोर्ट जलवायु परिवर्तन के कारण विद्यालयी अवसंरचना और पाठ्यक्रमों के सामने उत्पन्न चुनौतियों की ओर भी ध्यान आकर्षित करती है।

**शिक्षा की वैश्विक चुनौतियां :** आज शिक्षा के सामने सबसे बड़ी चुनौती केवल विद्यालय एवं महाविद्यालयों तक पहुंच सुनिश्चित करना नहीं, बल्कि गुणवत्तापूर्ण, समावेशी, न्यायपूर्ण और जीवनोपयोगी शिक्षा उपलब्ध कराना है। आर्थिक असमानता, लैंगिक असमानता, ग्रामीण-शहरी अंतर, डिजिटल विभाजन, संघर्ष एवं विस्थापन तथा संसाधनों की असमान उपलब्धता शिक्षा के सार्वभौमिक लक्ष्य में बाधा उत्पन्न करते हैं।

दूसरी महत्वपूर्ण चुनौती शिक्षा के उद्देश्य से जुड़ी है। यदि शिक्षा केवल रोजगार प्राप्त करने का साधन बन जाती है तो उसका मानवीय एवं सामाजिक पक्ष कमजोर हो सकता है। वर्तमान समय में शिक्षा में आलोचनात्मक चिंतन, संवेदनशीलता, नैतिकता, सह-अस्तित्व, लोकतांत्रिक मूल्यों, पर्यावरणीय जिम्मेदारी तथा वैश्विक नागरिकता को पर्याप्त महत्व देना आवश्यक है।

जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में शिक्षा की भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। UNESCO की Education and Climate Change रिपोर्ट बताती है कि जलवायु शिक्षा को केवल सूचनात्मक विषय न बनाकर सामाजिक, भावनात्मक और क्रियात्मक अधिगम से जोड़ने की आवश्यकता है।

**शिक्षा की संभावनाएं :** डिजिटल तकनीक शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक संभावनाएं प्रस्तुत करती है। ऑनलाइन पाठ्यक्रम, मुक्त शैक्षिक संसाधन, डिजिटल पुस्तकालय, वर्चुअल प्रयोगशालाएं और कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित शिक्षण उपकरण ज्ञान तक पहुंच को विस्तृत कर सकते हैं। हालांकि इन तकनीकों का उपयोग समानता, गोपनीयता, नैतिकता और मानवीय शिक्षक-विद्यार्थी संबंधों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

भविष्य की शिक्षा को 'ग्रीन एजुकेशन' तथा 'ग्लोबल सिटिजनशिप एजुकेशन' से जोड़ना समय की आवश्यकता है। विद्यार्थी केवल पर्यावरण के बारे में पढ़ें ही नहीं, बल्कि जल संरक्षण, ऊर्जा बचत, वृक्षारोपण, जैव विविधता संरक्षण और जिम्मेदार उपभोग जैसे व्यवहारों को अपने जीवन में अपनाएं।

**साहित्य की वैश्विक चुनौतियां :** साहित्य मानव संवेदना और सामाजिक चेतना का दर्पण है। वह समाज की समस्याओं को अभिव्यक्ति देता है तथा भविष्य की संभावनाओं की कल्पना भी करता है। आज साहित्य के सामने सबसे बड़ी चुनौती त्वरित डिजिटल संस्कृति के कारण पढ़ने की आदतों में परिवर्तन है। लघु संदेश, वीडियो और त्वरित सूचना के दौर में गंभीर एवं दीर्घकालिक पठन के लिए समय कम होता जा रहा है।

दूसरी चुनौती भाषाई विविधता से जुड़ी है। वैश्विक संचार में कुछ भाषाओं का प्रभाव बढ़ने से अनेक स्थानीय भाषाओं और बोलियों के सामने संरक्षण की चुनौती उत्पन्न होती है। भाषा केवल संचार का माध्यम नहीं, बल्कि

संस्कृति, इतिहास, स्मृति और सामुदायिक पहचान की वाहक होती है।

तीसरी चुनौती साहित्य के बाजारीकरण की है। जब साहित्य को केवल बाजार की मांग के आधार पर देखा जाता है तो सामाजिक सरोकार, लोकजीवन और हाशिए के अनुभव पर्याप्त स्थान नहीं पा सकते।

**साहित्य की संभावनाएं :** डिजिटल युग साहित्य के लिए केवल चुनौती नहीं, बल्कि विशाल अवसर भी है। ई-पुस्तकें, डिजिटल पत्रिकाएं, ऑडियोबुक, साहित्यिक मंच और ऑनलाइन पुस्तकालय साहित्य को वैश्विक पाठक तक पहुंचाने में सहायक हैं। अनुवाद तकनीक विभिन्न भाषाओं के साहित्य के बीच संवाद को बढ़ा सकती है।

पर्यावरणीय साहित्य भी आज महत्वपूर्ण संभावना के रूप में उभर रहा है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और निबंध के माध्यम से जलवायु परिवर्तन, जल संकट, वनों की रक्षा, जीव-जंतुओं के संरक्षण तथा प्रकृति के साथ मानवीय संबंधों को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार साहित्य पर्यावरणीय चेतना को केवल आंकड़ों की भाषा में नहीं, बल्कि संवेदना की भाषा में समाज तक पहुंचाता है।

**संस्कृति की वैश्विक चुनौतियां :** संस्कृति किसी समाज की जीवन-पद्धति, भाषा, कला, परंपरा, विश्वास, लोकाचार, स्मृति और सामूहिक अनुभवों का समग्र रूप है। वैश्वीकरण ने संस्कृतियों के बीच संवाद और आदान-प्रदान को बढ़ाया है, लेकिन सांस्कृतिक एकरूपता का खतरा भी बढ़ा है।

युद्ध, विस्थापन, जलवायु परिवर्तन, सांस्कृतिक धरोहरों का क्षरण और अवैध सांस्कृतिक संपदा व्यापार भी महत्वपूर्ण चुनौतियां हैं। UNESCO के अनुसार जलवायु परिवर्तन ऐतिहासिक स्थलों, जीवित सांस्कृतिक परंपराओं और सांस्कृतिक-रचनात्मक क्षेत्रों को प्रभावित कर रहा है। साथ ही स्थानीय एवं स्वदेशी ज्ञान प्रणालियां जल, भूमि और पारिस्थितिक तंत्रों के प्रबंधन में महत्वपूर्ण योगदान दे सकती हैं।

डिजिटल माध्यमों ने सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को व्यापक बनाया है, परंतु सांस्कृतिक सामग्री के व्यावसायीकरण, गलत प्रस्तुतीकरण और सतही उपभोग जैसी समस्याओं को भी जन्म दिया है।

**संस्कृति की संभावनाएं :** संस्कृति सतत विकास की महत्वपूर्ण शक्ति बन सकती है। UNESCO ने संस्कृति को सतत विकास के व्यापक विमर्श में अधिक केंद्रीय स्थान देने की आवश्यकता पर बल दिया है। UNESCO की हालिया सांस्कृतिक नीति संबंधी रिपोर्ट संस्कृति, कला-शिक्षा, डिजिटल परिवर्तन, पर्यावरणीय स्थिरता और सामाजिक समावेशन के बीच संबंधों को रेखांकित करती है।

भारतीय संदर्भ में लोककला, लोकगीत, लोककथाएं, पारंपरिक जल संरक्षण प्रणालियां, प्रकृति-आधारित जीवन पद्धतियां तथा सामुदायिक पर्व पर्यावरणीय एवं सामाजिक चेतना के प्रभावी माध्यम बन सकते हैं। अतः सांस्कृतिक विरासत को संग्रहालयों तक सीमित रखने के बजाय उसे आधुनिक शिक्षा और सामुदायिक जीवन से जोड़ने की आवश्यकता है।

**पर्यावरण की वैश्विक चुनौतियां :** वर्तमान विश्व पर्यावरणीय संकट के गंभीर दौर से गुजर रहा है। जलवायु परिवर्तन, जैव विविधता का नुकसान, वायु एवं जल प्रदूषण, भूमि क्षरण, वनों की कटाई, जल संकट तथा अत्यधिक प्राकृतिक संसाधन उपयोग प्रमुख समस्याएं हैं। UNEP के Global Resources Outlook 2024 ने जलवायु परिवर्तन, जैव विविधता हानि तथा प्रदूषण और अपशिष्ट को परस्पर संबंधित वैश्विक संकटों के रूप में रेखांकित किया है।

पर्यावरणीय संकट का प्रभाव केवल प्राकृतिक तंत्र पर नहीं पड़ता, बल्कि स्वास्थ्य, शिक्षा, अर्थव्यवस्था, आजीविका, संस्कृति और सामाजिक समानता पर भी पड़ता है। गरीब एवं कमजोर समुदाय प्रायः पर्यावरणीय संकटों के प्रभावों के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं।

**पर्यावरण संरक्षण की संभावनाएं :** पर्यावरण संरक्षण के लिए विज्ञान और तकनीक महत्वपूर्ण हैं, लेकिन केवल तकनीकी समाधान पर्याप्त नहीं होंगे। जीवन-शैली, उपभोग की आदतों और सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन भी आवश्यक

है। शिक्षा, साहित्य और संस्कृति इस परिवर्तन को स्थायी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

विद्यालय एवं महाविद्यालयों में पर्यावरणीय क्लब, स्थानीय जैव विविधता अध्ययन, जल संरक्षण अभियान, वृक्षारोपण, अपशिष्ट पृथक्करण, ऊर्जा संरक्षण और सामुदायिक सेवा जैसी गतिविधियों को शिक्षण-अधिगम का हिस्सा बनाया जा सकता है।

UNEP ने भी संस्कृति एवं सामुदायिक मूल्यों को टिकाऊ जीवन-शैली तथा पर्यावरणीय व्यवहार को बढ़ावा देने वाला महत्वपूर्ण माध्यम माना है।

**शिक्षा, साहित्य, संस्कृति और पर्यावरण का अंतर्संबंध :** इन चारों क्षेत्रों का संबंध अत्यंत गहरा है। शिक्षा ज्ञान देती है, साहित्य संवेदना जगाता है, संस्कृति सामूहिक पहचान एवं मूल्य प्रदान करती है और पर्यावरण जीवन का आधार उपलब्ध कराता है। यदि इनमें से किसी एक को विकास प्रक्रिया से अलग कर दिया जाए तो विकास अधूरा रह जाता है।

उदाहरण के लिए, पर्यावरण संरक्षण के लिए केवल वैज्ञानिक जानकारी पर्याप्त नहीं है। व्यक्ति को प्रकृति के प्रति संवेदनशील भी होना चाहिए। यह संवेदनशीलता साहित्य एवं संस्कृति विकसित कर सकते हैं और शिक्षा इसे व्यवहार में बदलने की क्षमता प्रदान कर सकती है।

इसी प्रकार सांस्कृतिक विविधता का संरक्षण केवल परंपराओं को सुरक्षित रखने का विषय नहीं है। यह सामाजिक समावेशन, संवाद और शांति से भी जुड़ा है। UNESCO के अनुसार संस्कृति और सांस्कृतिक विविधता सतत विकास, सामाजिक एकजुटता और जलवायु कार्रवाई में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

**वैश्विक स्तर पर संभावित कार्ययोजना :** पहला, शिक्षा के पाठ्यक्रम में सतत विकास, पर्यावरणीय नागरिकता, सांस्कृतिक विविधता और मानवीय मूल्यों को समेकित किया जाना चाहिए।

दूसरा, स्थानीय ज्ञान और आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान के बीच संवाद स्थापित किया जाना चाहिए। स्थानीय समुदायों के पारंपरिक पर्यावरणीय ज्ञान को वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ जोड़कर अधिक प्रभावी समाधान विकसित किए जा सकते हैं।

तीसरा, साहित्यकारों, शिक्षकों, कलाकारों, वैज्ञानिकों और पर्यावरण विशेषज्ञों के बीच अंतर्विषयी सहयोग बढ़ाया जाना चाहिए।

चौथा, डिजिटल तकनीक का उपयोग भाषाई एवं सांस्कृतिक विविधता को बढ़ावा देने के लिए किया जाना चाहिए। स्थानीय भाषाओं के साहित्य, लोकगीत, लोककला और मौखिक परंपराओं का डिजिटल दस्तावेजीकरण किया जा सकता है।

पांचवां, विद्यार्थियों को केवल 'पर्यावरण के बारे में जानने' के बजाय 'पर्यावरण के लिए कार्य करने' के अवसर प्रदान किए जाने चाहिए। यही शिक्षा को व्यवहार परिवर्तन से जोड़ने का प्रभावी मार्ग है।

छठा, विकास की अवधारणा में आर्थिक वृद्धि के साथ सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक विविधता और पर्यावरणीय संतुलन को समान महत्व दिया जाना चाहिए।

**निष्कर्ष :** शिक्षा, साहित्य, संस्कृति और पर्यावरण मानव सभ्यता के चार महत्वपूर्ण आधार हैं। वर्तमान वैश्विक संकटों का समाधान किसी एक क्षेत्र की क्षमता से संभव नहीं है। जलवायु परिवर्तन का सामना केवल वैज्ञानिक तकनीक से नहीं, बल्कि शिक्षा, सामाजिक चेतना और जिम्मेदार जीवन-शैली से भी करना होगा। इसी प्रकार सांस्कृतिक विविधता की रक्षा केवल विरासत संरक्षण से नहीं, बल्कि नई पीढ़ी को अपनी संस्कृति के प्रति जागरूक और अन्य संस्कृतियों के प्रति सम्मानपूर्ण बनाने से होगी।

आज आवश्यकता ऐसी शिक्षा की है जो ज्ञान के साथ विवेक, कौशल के साथ संवेदना और अधिकारों के

साथ जिम्मेदारी सिखाए। ऐसा साहित्य चाहिए जो मनुष्य और प्रकृति के संबंध को मजबूत करे। ऐसी संस्कृति चाहिए जो विविधता को विभाजन नहीं, बल्कि मानवता की शक्ति माने। और ऐसी विकास-दृष्टि चाहिए जो प्रकृति को संसाधन मात्र नहीं, बल्कि जीवन के आधार के रूप में स्वीकार करे।

अतः शिक्षा, साहित्य, संस्कृति और पर्यावरण को एकीकृत दृष्टिकोण से देखने की आवश्यकता है। इन चारों क्षेत्रों के समन्वित प्रयास से ऐसी वैश्विक व्यवस्था का निर्माण संभव है जिसमें विकास के साथ मानवीयता, तकनीकी प्रगति के साथ नैतिकता, वैश्वीकरण के साथ सांस्कृतिक विविधता और आर्थिक समृद्धि के साथ पर्यावरणीय संतुलन सुनिश्चित हो सके। यही सतत, समावेशी और मानवीय भविष्य की आधारभूमि बन सकती है।

**संदर्भ ग्रंथ सूची :**


1. UNESCO. (2024). Education and Climate Change: Learning to Act for People and Planet. Global Education Monitoring Report, UNESCO.
2. UNESCO. (2024/2025). Global Report on Cultural Policies: Culture – The Missing SDG. UNESCO.
3. UNESCO. (2024). Monitoring SDG 4: Education 2024/5. Global Education Monitoring Report, UNESCO.
4. UNESCO. (2022). Reimagining Our Futures Together: A New Social Contract for Education. UNESCO.
5. UNESCO. (2020). Education for Sustainable Development: A Roadmap. UNESCO.
6. UNESCO. (2022). MONDIACULT 2022 Declaration. UNESCO.
7. UNEP. (2024). Global Resources Outlook 2024: Bend the Trend – Pathways to a Liveable Planet as Resource Use Spikes. United Nations Environment Programme.
8. UNEP. (2025). Global Environment Outlook 7: A Future We Choose. United Nations Environment Programme.
9. UNEP. (2021). Making Peace with Nature: A Scientific Blueprint to Tackle the Climate, Biodiversity and Pollution Emergencies. United Nations Environment Programme.
10. United Nations. (2015). Transforming Our World: The 2030 Agenda for Sustainable Development. United Nations.
11. Brundtland Commission. (1987). Our Common Future. World Commission on Environment and Development, United Nations.
12. Gadgil, M., & Guha, R. (1992). This Fissured Land: An Ecological History of India. Oxford University Press.
13. Guha, R. (2000). Environmentalism: A Global History. Oxford University Press.
14. Shiva, V. (1988). Staying Alive: Women, Ecology and Development. Zed Books.
15. Naess, A. (1989). Ecology, Community and Lifestyle. Cambridge University Press.
16. UNESCO. Culture and Climate Action. UNESCO Culture Sector.


•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-249-255

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 249-255
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. शिलेश मोहन**

सहायक प्राध्यापक, भूगोल विभाग,
सरिया कॉलेज, सरिया, गिरीडीह, झारखंड

Corresponding Author :

**डॉ. शिलेश मोहन**

सहायक प्राध्यापक, भूगोल विभाग,
सरिया कॉलेज, सरिया, गिरीडीह, झारखंड

# बिहार एवं झारखंड में मानव संसाधन विकास और सतत विकास की संभावनाएँ एवं चुनौतियाँ : एक भौगोलिक अध्ययन

**सारांश :** मानव संसाधन किसी भी क्षेत्र के आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय विकास का महत्त्वपूर्ण आधार है। बिहार और झारखंड में पर्याप्त जनसंख्या, युवा श्रमशक्ति, कृषि, खनिज, वन तथा सांस्कृतिक संसाधन उपलब्ध हैं; फिर भी मानव संसाधन की गुणवत्ता, रोजगार के अवसरों, शिक्षा, स्वास्थ्य और क्षेत्रीय असमानताओं से जुड़ी चुनौतियाँ सतत विकास की गति को प्रभावित करती हैं। बिहार का भौगोलिक स्वरूप मुख्यतः गंगा के मैदानों, उच्च जनसंख्या घनत्व, कृषि और बाढ़-संबंधी जोखिमों से जुड़ा है, जबकि झारखंड का पठारी भूभाग, खनिज संपदा, वन और जनजातीय विविधता उसके विकास की संभावनाओं तथा पर्यावरणीय चुनौतियों को विशिष्ट बनाते हैं।

यह लेख द्वितीयक स्रोतों पर आधारित वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक अध्ययन है। इसमें जनगणना 2011 के जनसंख्या एवं साक्षरता आँकड़ों, सतत विकास के अंतरराष्ट्रीय ढाँचे और सरकारी रिपोर्टों के आधार पर दोनों राज्यों की स्थिति का विवेचन किया गया है। अध्ययन का प्रमुख निष्कर्ष है कि जनसंख्या की प्रचुरता अपने-आप में मानव संसाधन की गुणवत्ता या सतत विकास सुनिश्चित नहीं करती। इसके लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाएँ, कौशल प्रशिक्षण, स्थानीय रोजगार, लैंगिक समानता, आदिवासी समुदायों की भागीदारी और पर्यावरण-संवेदनशील नियोजन आवश्यक हैं।

**मुख्य शब्द :** मानव संसाधन विकास, सतत विकास,, क्षेत्रीय असमानता, कौशल विकास, पर्यावरणीय संरक्षण।

**1. प्रस्तावना :** मानव संसाधन विकास का आशय केवल जनसंख्या की संख्या बढ़ने से नहीं, बल्कि लोगों के ज्ञान, स्वास्थ्य, कौशल, उत्पादकता, निर्णय-क्षमता और सामाजिक भागीदारी में सुधार से है। शिक्षित, स्वस्थ और कुशल जनसंख्या आर्थिक गतिविधियों को गति

देती है, नवाचार को बढ़ावा देती है और सामाजिक संस्थाओं को अधिक प्रभावी बनाती है। इसके विपरीत, शिक्षा की कमजोर गुणवत्ता, स्वास्थ्य सेवाओं की कमी, बेरोजगारी और अवसरों की असमानता जनसंख्या की संभावित क्षमता को सीमित कर सकती है।

सतत विकास का विचार आर्थिक वृद्धि को सामाजिक न्याय और पर्यावरणीय संरक्षण से जोड़ता है। विश्व पर्यावरण एवं विकास आयोग की रिपोर्ट 'Our Common Future' ने ऐसी विकास-प्रक्रिया पर बल दिया जो वर्तमान की आवश्यकताओं को पूरा करे, लेकिन भविष्य की पीढ़ियों की आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता को क्षति न पहुँचाए (WCED, 1987)। संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्य भी गरीबी उन्मूलन, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, स्वास्थ्य, लैंगिक समानता, स्वच्छ जल, सम्मानजनक रोजगार और पर्यावरणीय संरक्षण को परस्पर संबंधित लक्ष्य मानते हैं (United Nations, 2015)।

बिहार और झारखंड का तुलनात्मक अध्ययन इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि दोनों राज्य ऐतिहासिक रूप से जुड़े रहे हैं, परंतु उनकी भौगोलिक संरचना, संसाधन आधार, जनसंख्या वितरण और आजीविका के स्वरूप में उल्लेखनीय अंतर हैं। बिहार का उपजाऊ मैदानी क्षेत्र कृषि के लिए अनुकूल है, किंतु बाढ़, जल-जमाव और उच्च जनसंख्या घनत्व जैसी समस्याएँ विकास नियोजन को प्रभावित करती हैं। झारखंड में खनिज और वन संसाधनों की प्रचुरता औद्योगिक एवं आजीविका संबंधी अवसर प्रदान करती है, लेकिन खनन-प्रदूषण, भूमि उपयोग में परिवर्तन, विस्थापन और दूरस्थ क्षेत्रों में सेवाओं की पहुँच जैसी चुनौतियाँ भी मौजूद हैं। इस अध्ययन में दोनों राज्यों को केवल पिछड़ेपन या संसाधन-संपन्नता के आधार पर नहीं देखा गया है, बल्कि यह समझने का प्रयास किया गया है कि भौगोलिक परिस्थितियाँ मानव संसाधन विकास के अवसरों और सीमाओं को किस प्रकार आकार देती हैं।

**2. अध्ययन की समस्या एवं औचित्य :** दोनों राज्यों में प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों की पर्याप्त उपलब्धता के बावजूद विकास के लाभ सभी क्षेत्रों और सामाजिक समूहों तक समान रूप से नहीं पहुँचते। संसाधनों की उपलब्धता और मानव कल्याण के बीच यह अंतर अध्ययन की केंद्रीय समस्या है। बिहार में कृषि पर निर्भरता, सीमित स्थानीय गैर-कृषि रोजगार, मौसमी पलायन तथा बाढ़-संबंधी जोखिम प्रमुख प्रश्न हैं। झारखंड में खनिज संपदा से उत्पन्न आय और स्थानीय समुदायों के जीवन-स्तर के बीच संबंध, जनजातीय क्षेत्रों में शिक्षा एवं स्वास्थ्य की पहुँच तथा खनन के पर्यावरणीय प्रभाव महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। अध्ययन का औचित्य इस बात में है कि सतत विकास की रणनीति प्रत्येक राज्य की भौगोलिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप बनाई जानी चाहिए। एक जैसी नीति सभी क्षेत्रों में समान परिणाम नहीं दे सकती।

**3. अध्ययन के उद्देश्य :**

- बिहार और झारखंड में मानव संसाधन विकास की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण करना।
- दोनों राज्यों की भौगोलिक परिस्थितियों और विकास संभावनाओं के बीच संबंध स्पष्ट करना।
- शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, कौशल विकास और लैंगिक समानता से जुड़ी चुनौतियों की पहचान करना।
- सतत विकास के संदर्भ में पर्यावरणीय जोखिमों और क्षेत्रीय असमानताओं का तुलनात्मक विवेचन करना।
- मानव संसाधन की गुणवत्ता और स्थानीय विकास को बेहतर बनाने के लिए व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत करना.

**4. शोध-पद्धति एवं अध्ययन की सीमाएँ :** यह अध्ययन वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक पद्धति पर आधारित है। इसमें मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया है—जैसे भारत की जनगणना 2011, संयुक्त राष्ट्र का सतत विकास एजेंडा, नीति आयोग की राष्ट्रीय बहुआयामी गरीबी सूचकांक रिपोर्ट और स्वास्थ्य एवं शिक्षा से संबंधित सरकारी प्रकाशन। जहाँ राज्य-विशिष्ट आँकड़ों का उपयोग किया गया है, वहाँ स्रोत और संदर्भ वर्ष का उल्लेख किया गया है। अध्ययन में जनसंख्या, जनसंख्या घनत्व और साक्षरता के तुलनात्मक आँकड़े मुख्यतः 2011

की जनगणना पर आधारित हैं। अतः इन आँकड़ों को वर्तमान वर्ष की स्थिति के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है। लेख में नवीनतम राज्य-स्तरीय संकेतकों के समावेश से पहले संबंधित सरकारी रिपोर्ट के संस्करण, परिभाषा और संदर्भ-वर्ष का मिलान आवश्यक है। यह अध्ययन प्राथमिक सर्वेक्षण पर आधारित नहीं है; इसलिए निष्कर्ष उपलब्ध द्वितीयक स्रोतों और भौगोलिक विश्लेषण तक सीमित हैं।

**5. अध्ययन क्षेत्र का भौगोलिक परिचय :**

**5.1 बिहार :** बिहार भारत के पूर्वी भाग में स्थित है और इसका अधिकांश भाग गंगा तथा उसकी सहायक नदियों द्वारा निर्मित जलोढ़ मैदानों से बना है। उपजाऊ मिट्टी और नदी-आधारित जल संसाधन कृषि के लिए महत्त्वपूर्ण आधार प्रदान करते हैं। धान, गेहूँ, मक्का, दलहन, तिलहन और गन्ना प्रमुख कृषि गतिविधियों से जुड़े हैं। घनी आबादी के कारण भूमि पर दबाव, कृषि जोतों का छोटा आकार, कृषि पर निर्भरता तथा स्थानीय गैर-कृषि रोजगार का विस्तार महत्त्वपूर्ण विकास प्रश्न हैं। उत्तरी बिहार के अनेक क्षेत्रों में बाढ़ और जल-जमाव, जबकि कुछ दक्षिणी क्षेत्रों में वर्षा की अनिश्चितता और सिंचाई की चुनौतियाँ आजीविका को प्रभावित कर सकती हैं।

बिहार के लिए मानव संसाधन विकास की बड़ी संभावना उसकी विशाल श्रमशक्ति, कृषि-आधारित मूल्य श्रृंखलाओं, खाद्य प्रसंस्करण, लघु एवं सूक्ष्म उद्यमों, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं तथा परिवहन-संबंधी गतिविधियों के विस्तार में है। इन अवसरों को वास्तविक रोजगार में बदलने के लिए कौशल, पूँजी, बाजार तक पहुँच और बुनियादी ढाँचे का समन्वय आवश्यक है।

**5.2 झारखंड :** झारखंड का अधिकांश भूभाग छोटानागपुर पठार से संबंधित है। यहाँ खनिज संसाधन, वन, जलग्रहण क्षेत्र और जैव-सांस्कृतिक विविधता विकास की प्रमुख विशेषताएँ हैं। कोयला, लौह अयस्क, बॉक्साइट, तांबा तथा अन्य खनिज राज्य की औद्योगिक संभावनाओं से जुड़े हैं। साथ ही, अनेक समुदायों की आजीविका कृषि, वनोपज, पशुपालन और स्थानीय प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर करती है।

खनिज संपदा के बावजूद संसाधन-आधारित विकास अपने-आप व्यापक मानव विकास सुनिश्चित नहीं करता। खनन से भूमि क्षरण, जल एवं वायु प्रदूषण, आजीविका में बदलाव और विस्थापन जैसी समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं। इसलिए औद्योगिक विकास को स्थानीय रोजगार, पुनर्वास, कौशल प्रशिक्षण, पर्यावरणीय निगरानी और समुदायों की सार्थक भागीदारी के साथ जोड़ना आवश्यक है। दूरस्थ ग्रामीण और जनजातीय क्षेत्रों में विद्यालय, स्वास्थ्य केंद्र, परिवहन, डिजिटल संपर्क तथा मातृभाषा-संवेदनशील सेवाओं का विस्तार भी महत्त्वपूर्ण है।

**6. मानव संसाधन की स्थिति: तुलनात्मक संकेतक :** जनगणना 2011 के आधार पर दोनों राज्यों की जनसंख्या और साक्षरता में स्पष्ट अंतर दिखाई देता है। बिहार की जनसंख्या और घनत्व झारखंड की तुलना में अधिक थे, जबकि झारखंड की कुल साक्षरता दर बिहार से अधिक थी। ये आँकड़े मानव संसाधन की मात्रा और एक महत्त्वपूर्ण गुणवत्ता-सूचक—साक्षरता—की तुलना करते हैं; हालांकि साक्षरता अकेले शिक्षा की गुणवत्ता, कौशल या रोजगार-क्षमता को पूरी तरह नहीं मापती।

| संकेतक (जनगणना 2011) | बिहार | झारखंड | व्याख्या |
|---|---|---|---|
| कुल जनसंख्या | 10,40,99,452 | 3,29,88,134 | बिहार की जनसंख्या अधिक |
| जनसंख्या घनत्व (व्यक्ति/वर्ग किमी) | 66.41% | 414 | बिहार में भूमि और सेवाओं पर अधिक जनसंख्या |

| | | | |
|---|---|---|---|
| | | | दबाव |
| कुल साक्षरता दर | 76.84% | 66.4% | झारखंड की दर बिहार से अधिक |
| पुरुष साक्षरता दर | 55.42% | 76.8% | दोनों राज्यों में लैंगिक अंतर मौजूद |
| महिला साक्षरता दर | 51.5% | 55.4% | महिला शिक्षा में सुधार की आवश्यकता |

*स्रोत: भारत की जनगणना 2011*

बिहार का उच्च जनसंख्या घनत्व विद्यालयों, स्वास्थ्य सेवाओं, आवास, परिवहन, भूमि और रोजगार पर दबाव बढ़ा सकता है। इसके साथ ही, यदि शिक्षा, कौशल और उत्पादक रोजगार के अवसर उपलब्ध हों, तो बड़ी कार्यशील आबादी आर्थिक प्रगति का आधार बन सकती है। इसलिए जनसंख्या घनत्व को केवल समस्या नहीं, बल्कि नियोजन और सेवा-वितरण की चुनौती के रूप में देखना चाहिए।

झारखंड का अपेक्षाकृत कम जनसंख्या घनत्व भौगोलिक दूरी और बस्तियों के फैलाव के कारण कुछ क्षेत्रों में सार्वजनिक सेवाओं की पहुँच महँगी या कठिन बना सकता है। खनिज-समृद्ध जिलों और दूरस्थ ग्रामीण/जनजातीय क्षेत्रों के बीच अवसरों का अंतर भी स्थानीय स्तर पर विकास की असमानता पैदा कर सकता है। दोनों राज्यों में महिला साक्षरता की स्थिति यह रेखांकित करती है कि लैंगिक समानता और माध्यमिक/उच्च शिक्षा तक पहुँच मानव संसाधन विकास के केंद्रीय घटक होने चाहिए।

**7. मानव संसाधन और सतत विकास की प्रमुख संभावनाएँ :**

**7.1 शिक्षा और कौशल विकास :** विद्यालयी नामांकन के साथ सीखने के परिणाम, शिक्षक उपलब्धता, डिजिटल संसाधन, माध्यमिक शिक्षा की निरंतरता और उच्च शिक्षा की गुणवत्ता पर ध्यान देना आवश्यक है। बिहार में कृषि, खाद्य प्रसंस्करण, परिवहन, निर्माण, स्वास्थ्य और सेवा क्षेत्र से जुड़े कौशल कार्यक्रम स्थानीय रोजगार को बढ़ा सकते हैं। झारखंड में खनन एवं भारी उद्योगों के साथ-साथ नवीकरणीय ऊर्जा, मशीन रखरखाव, पर्यावरण प्रबंधन, वन-आधारित उद्यम और पर्यटन से संबंधित प्रशिक्षण उपयोगी हो सकते हैं। प्रशिक्षण कार्यक्रमों को स्थानीय उद्योगों और बाजार की वास्तविक माँग से जोड़ना चाहिए।

**7.2 स्वास्थ्य, पोषण और उत्पादकता :** स्वास्थ्य मानव पूँजी का आधार है। मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य, पोषण, किशोर स्वास्थ्य, सुरक्षित पेयजल, स्वच्छता और प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता शिक्षा तथा कार्यक्षमता पर सीधा प्रभाव डालती है। ग्रामीण और दूरस्थ क्षेत्रों में स्वास्थ्यकर्मियों की उपलब्धता, रेफरल व्यवस्था, दवाओं की आपूर्ति और डिजिटल स्वास्थ्य सेवाओं को मजबूत करना आवश्यक है। स्वास्थ्य योजनाओं की सफलता का मूल्यांकन केवल लाभार्थियों की संख्या से नहीं, बल्कि सेवाओं की गुणवत्ता और परिणामों से किया जाना चाहिए।

**7.3 स्थानीय रोजगार और उद्यमिता :** बिहार में कृषि-आधारित उद्योग, दुग्ध उत्पादन, मखाना, मक्का, फल-सब्जी प्रसंस्करण, भंडारण और ग्रामीण उद्यमों में संभावनाएँ हैं। झारखंड में खनिज-आधारित उद्योगों के अतिरिक्त वनोपज का मूल्य संवर्धन, हस्तशिल्प, लघु उद्योग, इको-टूरिज्म और कृषि-विविधीकरण स्थानीय रोजगार के विकल्प दे सकते हैं। इन क्षेत्रों में सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यमों को सस्ता ऋण, तकनीकी सहायता, बाजार संपर्क और परिवहन सुविधाएँ देना आवश्यक है।

**7.4 महिला सशक्तिकरण और सामाजिक समावेशन :** महिलाओं की शिक्षा, सुरक्षित आवागमन, कौशल प्रशिक्षण,

संपत्ति और ऋण तक पहुँच तथा निर्णय-निर्माण में भागीदारी मानव संसाधन विकास को व्यापक बनाती है। स्वयं सहायता समूहों को केवल ऋण या बचत समूह तक सीमित न रखकर उन्हें विपणन, डिजिटल भुगतान, उत्पाद गुणवत्ता, उद्यम प्रबंधन और बाजार संपर्क से जोड़ना चाहिए। झारखंड में आदिवासी समुदायों के पारंपरिक ज्ञान और स्थानीय भाषाओं को शिक्षा तथा आजीविका कार्यक्रमों में सम्मानजनक स्थान देना भी आवश्यक है।

**7.5 पर्यावरणीय संरक्षण और जलवायु-सहनशील विकास :** बिहार में बाढ़-प्रबंधन, जल निकासी, आर्द्रभूमि संरक्षण, नदी-तटीय नियोजन, सूखा-प्रभावित क्षेत्रों में जल-संरक्षण और जलवायु-सहनशील कृषि पर बल दिया जाना चाहिए। झारखंड में खनन क्षेत्रों की भूमि पुनर्बहाली, प्रदूषण नियंत्रण, जल स्रोतों की रक्षा, वनों का संरक्षण और खनन के बाद भूमि उपयोग की योजना महत्त्वपूर्ण है। प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण केवल पर्यावरणीय आवश्यकता नहीं, बल्कि स्थानीय आजीविका और भविष्य की पीढ़ियों की सुरक्षा का भी प्रश्न है।

**8. प्रमुख चुनौतियाँ एवं सीमाएँ :**

1. **शिक्षा की गुणवत्ता में अंतर:** विद्यालयों में आधारभूत सुविधाओं, शिक्षकों, डिजिटल पहुँच और सीखने के परिणामों में क्षेत्रीय अंतर मानव संसाधन की गुणवत्ता को प्रभावित कर सकते हैं।
2. **स्वास्थ्य एवं पोषण संबंधी बाधाएँ:** दूरस्थ बस्तियों में स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच, पोषण, मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य और स्वास्थ्यकर्मियों की उपलब्धता चुनौती बनी रह सकती है।
3. **रोजगार और पलायन:** स्थानीय स्तर पर पर्याप्त गुणवत्तापूर्ण रोजगार न होने से श्रमिकों को दूसरे क्षेत्रों में काम तलाशना पड़ता है। पलायन आय का स्रोत हो सकता है, लेकिन असुरक्षित कार्यस्थितियाँ और परिवार से दूरी सामाजिक लागत भी पैदा करती हैं।
4. **लैंगिक एवं सामाजिक असमानता:** महिलाओं, अनुसूचित जनजातियों, अनुसूचित जातियों और दूरस्थ ग्रामीण समुदायों को शिक्षा, स्वास्थ्य, संपत्ति, डिजिटल संसाधनों और रोजगार में अलग-अलग बाधाओं का सामना करना पड़ सकता है।
5. **प्राकृतिक जोखिम और पर्यावरणीय दबाव:** बिहार में बाढ़ तथा जल-जमाव, और झारखंड में खनन-संबंधी प्रदूषण, भूमि क्षरण तथा जल स्रोतों पर दबाव सतत विकास को प्रभावित करते हैं।
6. **नीति-कार्यान्वयन और समन्वय:** योजनाओं के बीच समन्वय, स्थानीय संस्थाओं की क्षमता, पारदर्शी निगरानी, पर्याप्त वित्त और परिणाम-आधारित मूल्यांकन की कमी से अपेक्षित लाभ सीमित हो सकते हैं।

**9. सरकारी कार्यक्रमों की भूमिका :** मानव संसाधन विकास से जुड़े सरकारी कार्यक्रमों का उल्लेख करते समय योजना के आधिकारिक नाम, लागू अवधि और वास्तविक उद्देश्य की पुष्टि आवश्यक है। बिहार में 'कुशल युवा कार्यक्रम', बिहार कौशल विकास मिशन, बिहार स्टूडेंट क्रेडिट कार्ड योजना तथा जीविका के माध्यम से कौशल, उच्च शिक्षा, आजीविका और स्वयं सहायता समूहों से जुड़े प्रयास किए गए हैं। झारखंड में कौशल विकास कार्यक्रमों, झारखंड स्टेट लाइवलीहुड प्रमोशन सोसाइटी के आजीविका प्रयासों तथा शिक्षा और स्वास्थ्य संबंधी केंद्रीय एवं राज्य योजनाओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

इन कार्यक्रमों का मूल्यांकन करते समय केवल योजना की घोषणा या प्रशिक्षण में नामांकन पर्याप्त संकेतक नहीं है। प्रशिक्षण पूरा करने वालों की संख्या, रोजगार प्राप्ति, रोजगार की गुणवत्ता, आय में बदलाव, महिला एवं वंचित समूहों की भागीदारी और पर्यावरणीय प्रभाव जैसे परिणामों को भी देखना चाहिए। योजनाओं के अद्यतन नाम एवं विवरण संबंधित विभाग की नवीनतम अधिसूचना या वार्षिक रिपोर्ट से सत्यापित किए जाने चाहिए।

**10. सतत विकास के लिए सुझाव :**

- राज्य एवं जिला स्तर पर शिक्षा, स्वास्थ्य, कौशल, रोजगार और पर्यावरण के संकेतकों का एकीकृत डैशबोर्ड तैयार किया जाए। आँकड़ों में वर्ष, परिभाषा और स्रोत स्पष्ट दर्ज हों।
- माध्यमिक और उच्च शिक्षा में सीखने के परिणाम, शिक्षक प्रशिक्षण, डिजिटल साक्षरता, व्यावसायिक शिक्षा और स्थानीय भाषाओं में सीखने की सहायता को मजबूत किया जाए।
- कौशल प्रशिक्षण को स्थानीय रोजगार की माँग से जोड़ा जाए और प्रशिक्षण के बाद रोजगार, आय तथा कार्यस्थल पर टिके रहने की निगरानी की जाए।
- बिहार में कृषि विविधीकरण, खाद्य प्रसंस्करण, बाढ़-सहनशील अवसंरचना, जल निकासी और ग्रामीण उद्यमों को प्राथमिकता दी जाए।
- झारखंड में खनन के लाभों का स्थानीय समुदायों तक न्यायसंगत वितरण, खनन-क्षेत्र पुनर्बहाली, प्रदूषण नियंत्रण, वनोपज का मूल्य संवर्धन और जनजातीय आजीविका सुरक्षा सुनिश्चित की जाए।
- महिला स्वयं सहायता समूहों को डिजिटल कौशल, बाजार संपर्क, वित्तीय साक्षरता और उद्यम प्रबंधन से जोड़ा जाए।
- स्वास्थ्य एवं पोषण सेवाओं को प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों, आंगनवाड़ी सेवाओं, सुरक्षित जल और स्वच्छता कार्यक्रमों के साथ बेहतर समन्वित किया जाए।
- पंचायती राज संस्थाओं, नगर निकायों, शैक्षणिक संस्थानों, स्थानीय उद्यमों और समुदायों को योजना निर्माण तथा निगरानी में शामिल किया जाए।
- बाढ़, सूखा, खनन-प्रदूषण और जलवायु जोखिमों के लिए स्थानीय भूगोल पर आधारित जिला-स्तरीय योजनाएँ बनाई जाएँ।
- सभी प्रमुख योजनाओं के परिणामों का सामाजिक एवं पर्यावरणीय ऑडिट किया जाए और उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर सुधार किए जाएँ।

1. **11. निष्कर्ष :** बिहार और झारखंड में मानव संसाधन विकास और सतत विकास की संभावनाएँ उनकी जनसंख्या, भौगोलिक विविधता, प्राकृतिक संसाधनों और स्थानीय आर्थिक गतिविधियों से जुड़ी हैं। बिहार में कृषि-आधारित मूल्य संवर्धन, ग्रामीण उद्यम, शिक्षा, स्वास्थ्य और कौशल विकास के विस्तार से बड़ी श्रमशक्ति को उत्पादक अवसर मिल सकते हैं। झारखंड में खनिज एवं औद्योगिक क्षमता को स्थानीय रोजगार, कौशल प्रशिक्षण, जनजातीय आजीविका और पर्यावरणीय पुनर्बहाली से जोड़ना आवश्यक है।

तुलनात्मक दृष्टि से यह स्पष्ट होता है कि जनसंख्या की मात्रा और प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता विकास के लिए अवसर तो प्रदान करते हैं, परंतु वे अपने-आप सतत विकास की गारंटी नहीं हैं। मानव संसाधन की वास्तविक क्षमता तभी विकसित होगी जब गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, सुलभ स्वास्थ्य सेवाएँ, सम्मानजनक रोजगार, लैंगिक समानता, सामाजिक समावेशन और पर्यावरणीय संरक्षण को एकीकृत नीति का हिस्सा बनाया जाए।

इस अध्ययन की सीमा यह है कि इसके कुछ प्रमुख तुलनात्मक संकेतक 2011 की जनगणना पर आधारित हैं और प्राथमिक क्षेत्रीय सर्वेक्षण इसमें शामिल नहीं है। भविष्य के अध्ययन में नवीनतम सरकारी आँकड़ों, जिला-स्तरीय संकेतकों, प्रवासन के अनुभवों, कौशल प्रशिक्षण के परिणामों तथा खनन और बाढ़ के सामाजिक-पर्यावरणीय प्रभावों का प्राथमिक सर्वेक्षण किया जा सकता है। इससे दोनों राज्यों की विकास रणनीतियों के लिए अधिक सटीक और क्षेत्र-विशिष्ट सुझाव प्राप्त होंगे।

**संदर्भ सूची :**


1. भारत के महारजिस्ट्रार एवं जनगणना आयुक्त का कार्यालय। (2011)। भारत की जनगणना 2011: राज्य एवं जिला-स्तरीय जनसंख्या तथा साक्षरता तालिकाएँ। भारत सरकार, नई दिल्ली। https://censusindia.gov.in/
2. भारत के महारजिस्ट्रार एवं जनगणना आयुक्त का कार्यालय। (2011)। C-08: Educational Level by Age and Sex for Population Age 7 and Above—Bihar and Jharkhand. Census of India 2011.
3. https://censusindia.gov.in/
4. नीति आयोग। (2023)। National Multidimensional Poverty Index: A Progress Review 2023. भारत सरकार, नई दिल्ली. https://www.niti.gov.in/node/868
5. United Nations. (2015). Transforming Our World: The 2030 Agenda for Sustainable Development. United Nations, New York. https://sdgs.un.org/2030agenda
6. World Commission on Environment and Development. (1987). Our Common Future. Oxford University Press.
7. Ministry of Health and Family Welfare, Government of India. (2021). National Family Health Survey (NFHS-5), 2019–21: State Fact Sheets.
8. https://www.mohfw.gov.in/
9. बिहार सरकार. (विभिन्न वर्ष). बिहार आर्थिक सर्वेक्षण एवं युवा, रोजगार तथा कौशल विकास संबंधी सरकारी प्रकाशन। वित्त विभाग/संबंधित विभाग, पटना. https://state.bihar.gov.in/
10. झारखंड सरकार. (विभिन्न वर्ष). झारखंड आर्थिक सर्वेक्षण एवं शिक्षा, कौशल विकास तथा आजीविका संबंधी सरकारी प्रकाशन। वित्त विभाग/संबंधित विभाग, राँची. https://www.jharkhand.gov.in/


•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-256-259

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

**ISSN : 3048-4537(Online)**
**3049-2327(Print)**
**IIFS Impact Factor-6.125**
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 256-259
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**अशोक कुमार**
शोधार्थी (हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग)
सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय अल्मोड़ा,
(उत्तराखंड)

Corresponding Author :

**अशोक कुमार**
शोधार्थी (हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग)
सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय अल्मोड़ा,
(उत्तराखंड)

# माया गोला की कविताओं में स्त्री चेतना

**शोध सारांश :** कवयित्री माया गोला ने अपनी रचनाओं में नारी को विशेष स्थान दिया है। नारी उनकी कविताओं में केन्द्रीय विषय के रुप में दिखाई देती है। समाज का निर्माण बिना नारी के संभव नहीं उसके बिना समाज को निर्माण की बात सोचना भी मूर्खता है। स्त्री चेतना एक मनोवृत्ति है जिसके माध्यम से स्त्री अपने अधिकारों के विभिन्न पक्षों का समर्थन करती है। स्त्री चेतना स्त्रियों के जीवन से जुड़े हर पहलुओं पर चिंतन करती है। स्त्री किसी भी रंग की, धर्म, कामकाजी, गरीब, विकलांग और वृद्ध आदि किसी भी स्त्री के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, आदि रूपों में स्त्री जीवन का चिंतन किया जाता है। प्रस्तुत शोध पत्र में माया गोला की कविताओं में चित्रित स्त्री चेतना का विश्लेषण किया गया है। जिसको मुख्य रूप से मिथक, पौराणिक, आधुनिक और स्वानुभूतिपरक रूप में दर्शाया गया है।

**बीज शब्द :** स्त्री चेतना, मिथक, पौराणिक, स्वानुभूति, आधुनिक।

**प्रस्तावना :** कवयित्री माया गोला का जन्म 8 फरवरी 1975 को उत्तराखंड के नैनीताल जिले के कोटाबाग नामक स्थान पर हुआ। इनके पिता का नाम श्री हरिप्रसाद गोला एवं माता का नाम श्रीमती कांति गोला है। कवयित्री माया गोला ने अपनी कविताओं में स्त्री को विशेष स्थान दिया है। स्त्री उनकी कविताओं में केन्द्रीय विषय के रुप में दिखाई देती है। समाज का निर्माण बिना स्त्री के संभव नहीं। माया गोला की रचनाओं में नारी चित्रण को हम तीन वर्गो में बाँटकर देख सकते हैं। पहले हम पौराणिक स्त्री पात्रों को देखेगें। दूसरे वर्गीकरण में हम आधुनिक घटनाओं में स्त्री पर दृष्टिपात करेगें और अंतिम वर्गीकरण में हम कवयित्री की स्व–अनूभूति एवं नारी संबंधित विचारों को देखेगें।

**मिथक एवं पौराणिक संबंधी कविताओं में स्त्री चेतना :** कवयित्री माया गोला ने पौराणिक एवं मिथकों में प्रचलित पात्रों को एक नई दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। माया गोला ने सीता, सूर्पणखा माधवी, अहल्या, द्रौपदी, मीरा और साहित्यिक पात्र पद्मावती के विषय में अपनी नई दृष्टि डालते हुए कविताएं लिखी हैं। इन पात्रों को मिथकों या साहित्य में जिस ढंग से दिखाया गया है, माया गोला ने उस दृष्टिकोण पर प्रश्न उठाये हैं तथा अपने नए दृष्टिकोण से उसे अपनी रचनाओं में ढाला है।

'सीता के पक्ष में' नामक कविता में कवयित्री ने सीता के विषय में एक नया दृष्टिकोंण रखते हुए, सीता की मनः स्थिति से लेकर राम के मानवीय स्वभाव पर प्रश्न करते हुए कटाक्ष किया है। कवयित्री मानती है कि जीवन भर कष्ट सीता ने सहा, स्वयंवर में उसे जीत लिया गया, बिना अपराध के अग्नि परीक्षा देनी पड़ी। गर्भवती होते हुए भी उसे राज्य से निकाल कर वन भेजा गया, तब राम स्वंय भी तो सीता का साथ दे सकते थे लेकिन राम ने ऐसा नहीं किया। सीता ने अकेले वन में बच्चों को जन्म दिया, अकेले सारे कष्ट सहे और अंत में पुत्र होने पर दुनिया कहती आ रही है कि राजा राम के दो पुत्र हुए। मर्यादा की ओट में एक स्त्री को अकेले छोड़ देना कहाँ का न्याय था? क्या उस स्त्री के प्रति राम का कोई दायित्व नहीं था, जो उनकी

धर्म–पत्नी थीं। उस असहाय पीड़ित सीता की ओर से सोचती हुई माया गोला लिखती हैं –

''वन में जिस क्षण
अकेली खड़ी होगी सीता
अपने गर्भ के साथ
उसकी आत्मा ने
राम के पौरुषत्व को ललकारा होगा
प्रेम को धिक्कारा होगा''[1]

'शूर्पणखा' नामक कविता में कवयित्री ने शूर्पणखा के अंग–भंग पर दुख प्रकट करते हुए उसके द्वारा की गई प्रेम की प्रार्थना को उचित ठहराया है। कवयित्री प्रेम को सर्वोपरि मानती है परन्तु शूर्पणखा के प्रेम–याचना करने पर उसके अंग– भंग को कवयित्री गलत ठहराती हैं। इसी बात को आधार बनाकर क्या कहीं आज ऑनर किलिंग तो नहीं हो रही है? कवयित्री यहाँ स्पष्ट रूप से स्त्रियों पर प्रयोग होने वाले मुहावरे ''कि उसने नाक कटा ही खानदान की!'' को इसी घटना से जोड़ते हुए कहती है कि कहीं नाक का संदर्भ स्त्री की स्वेच्छा से प्रेम याचना करने से तो नहीं जुड़ा?

'माधवी' नामक कविता में राजा ययाति द्वारा अपनी पुत्री माधवी को ऋषि गालव को सौंपने की कथा है, जिसमें श्याम कर्ण वाले श्वेत अश्वों के बदले माधवी को साथ राजा हर्यश्व, राजा दिवोदास, राजा उनीशर ने भोग किया और पुत्र प्राप्त किये। अंततः 200 अश्वों की कमी के कारण गालव माधवी को विश्वामित्र के पास ले गये उन्होंने भी माधवी से भोग किया और अष्टक नामक पुत्र पैदा किया। ऊपर से कहलवाया गया उस स्त्री से कि उसे वरदान प्राप्त है कि ''प्रत्येक प्रसव के बाद वो पुनः कन्या हो जायेगी।'' कितनी निंदनीय बात है यह! पहले से ही नारी के शोषण का यह खेल रहा है। अपने भोग प्रेम, पुत्र प्रेम के लिए ही स्त्री को इस्तेमाल किया गया। उस कन्या की बुद्धि का हरण किसने किया होगा? किसने बरगलाया होगा उसे ऐसा करने को जो वह मात्र भोग और पुत्र पैदा करने की वस्तु मात्र बनकर रह गई। पौराणिक कथाओं से लेकर आज के समय तक स्त्री को देखने की दृष्टि उसकी देह तक ही सीमित है, जो आज का सामाजिक यथार्थ बन गया है। इस पर कवयित्री कहती हैं–

''ईजाद किए गए चश्मे!
जिनसे सबसे पहले दिखे
औरत की देह
देह ही में औरत
दिखती है आज भी
बिकती है
जलती है
टुकड़े–टुकडे होती है
सरे आम
कि पौराणिक मिथक अब
सामाजिक यथार्थ में बदल गए है
गवाह है अतीत
गवाह है वर्तमान... ''[2]

'पद्मावती' नामक कविता में साहित्यिक पात्र पद्मावति के विषय में कविता लिखी गई है। इस कविता में बताया गया है कि स्त्री को हमेशा से ही उसकी शारीरिक सुंदरता से अधिक जाना गया है। सामाजिक व्यवस्था में भी कमनीय, रमणीय, स्त्री को ही राजा पसंद करते थे, मूर्तियों में उभरे वक्ष ही दिखाये जाते हैं, जन्नत में हूरों का प्रावधान है और स्वर्ग में अप्सराओं का। कुल मिलाकर स्त्री को देह तक ही सीमित कर दिया गया है, उनको देखने का दृष्टिकोंण देह तक ही सीमित रह गया है। इसके कारण आज आधुनिक युग में सौन्दर्य की प्रतियोगिताएं होने लगी हैं। स्त्री की कमाई का बहुत बड़ा हिस्सा ब्यूटी प्रोडक्ट्स खरीदने और अपने आपको सुन्दर दिखाने में चला जाता है जबकि स्त्री की सुंदरता को उसके गुणों से आँकना चाहिये ना की शारीरिक खूबसूरती से।

**आधुनिक घटनाओं से संबंधित कविताओं में स्त्री चेतना :** आधुनिक समय में वास्तव में देखा जाये तो स्त्री की स्थिति में थोड़ा बहुत सुधार तो है परन्तु बुनियाद समस्याऐं वहीं की वहीं धरी पड़ी हैं। जो स्त्रीयाँ आर्थिक रूप से सुदृढ़ हैं, वही स्त्रियाँ थोड़ा बहुत प्रगति कर पा रही हैं, वरना समाज की सोच और धारणा वहीं की वहीं बनी हुई है। इसका कारण सदियों से चली आ रही कुरीतियां एवं रूढ़ीवादी परम्पराएं हैं। इनके कारण स्त्रियाँ मानसिक रूप से इसी भँवर में फँस गई हैं उन्हें इससे आगे की दुनिया दिखती ही नहीं है। वे परम्पराओं एवं रूढ़ियों के जाल में ऐसे फँस चुकी है कि मिथकों में गढ़े गये पात्रों के मानकों के अनुसार ही अपने जीवन को ढ़ाल चुकी हैं और अभ्यस्त हो चुकी हैं। इन्ही समस्याओं को लेकर माया गोला ने आवाज अपनी कविताओं में उठाई है।

'पितृसत्ता' नामक कविता में स्त्री को लेकर आज के समाज की सोच का वर्णन किया गया है। स्त्रियों पर जो अत्याचार होते रहे हैं आज भी पुरुष समाज उस पर दोहरी सोच रखता है मुँह के सामने तो वे हुये अत्याचार पर संवेदना दिखाते हैं परन्तु पीठ पीछे उसी बात के मजे लेते हैं।

''इसी हवेली के सामने
पॉर्न फिल्मों का रस लेते
बलात्कार की खबरों से
अपना जायका ठीक करते
आलती–पालथी मारे बैठे लोग
'यत्र नार्यस्तु पुज्यंते रमंते तत्र देवता'
के मंत्र का
निरन्तर जाप किया करते हैं।''[3]

'वो लड़की' नामक कविता में कवयित्री कॉलोनी की एक लड़की के साथ होने वाले शोषण के विषय में बता रही हैं। यहां इस लड़की जैसी कई लड़कियां है जो अभी जवान होने की अवस्था में हैं और कुछ घटिया प्रकृति व मानसिकता के लोग उन पर बुरी नजर रखते हैं। वर्तमान समय में यही सच है कि इस प्रकार की घटनाएं आए दिन सुनने में आ जाती हैं।

''बोल्डनेस' नामक कविता से स्पष्ट हो जाता है कि कवयित्री सिर्फ नारी के साथ हुये दुराचार, अपराध व उत्पीड़न को ही नहीं दिखा रही हैं, बल्कि वे तो स्त्रियों व लड़कियों के भी गलत कृत्य करने पर बरस रही हैं। कवयित्री बोल्डनेस का सही अर्थ गाली गलौच करना, परिधान को लेकर स्वतंत्र होना एवं देह प्रदर्शन करना नहीं मानती बल्कि अपने व्यक्तित्व व मानसिक क्षमता का विकास करना मानती हैं। आज के समय में बहुत सी लड़कियां पढ़ाई में अव्वल हैं, कुश्ती की चैम्पियन हैं डॉक्टर हैं, इंजीनियर हैं, पायलेट हैं और कल्पना चावला को कहाँ भूल सकते हैं ये सब वाकई में बोल्ड हैं।

''कल्पना चावला वाकई बोल्ड थी
फिर बताओ क्यों तुम
अपनी देह का उठान प्रदर्शित करती हो
कौन सी उड़ान सम्भव हैं हौसलों के बगैर
फिर देह की प्रदर्शनी का मतलब !''[4]

कवयित्री माया गोला की आधुनिक समय की घटनाओं में स्त्री की स्थिति को दर्शाया गया है। इसमें कवयित्री आधुनिक समय में भी स्त्रियों की स्थिति को लेकर चिंतित हैं। शिक्षा के प्रचार–प्रसार से इसमें थोड़ा बहुत सुधार तो है परन्तु समाज में निक्रिष्ट सोच वाले कुछ तत्व अवश्य ही विद्यमान रहते हैं, जिसके कारण आज भी स्त्रियों की स्थिति में ज्यादा सुधार देखने को नहीं मिलता है। स्त्रियों के साथ होने वाले बलात्कार, समाज के सामने उन्हें नग्न करके दौड़ाना, प्रेमी द्वारा प्रेमिकाओं की हत्याएं आदि घटनाओं पर कवयित्री ने आक्रोश में कविताएं लिखी हैं ऐसा नहीं है कि कवयित्री ने मात्र स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों पर ही प्रकाश डाला है बल्कि उन्होने स्त्रियों को परिश्रम करने और शिक्षा ग्रहण करके स्वयं के बलबूते पर आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है। माया गोला रूढ़ियों और परम्पराओं पर स्त्रियों को चलने से मना करती हैं, वह मानती है कि सारी परम्पराएं सारे नियम स्त्रियों को बाँधने के लिये बनाये हुए हैं जबकि स्त्रियाँ इस बंद जिंदगी से काफी बेहतर हैं और पुरूषों से कई मामलों में आगे हैं। इसका प्रमाण आज स्त्रियों ने कई क्षेत्रों में अव्वल आकर दिया है।

**स्वानुभूति से संबंधित कविताओं में स्त्री चेतना :** कवयित्री के स्वयं के नारी संबंधित विचार–इसके अन्तर्गत हैं। इसमें हम कवयित्री के खुद के नारी संबंधित विचारों व रचनाओं पर दृष्टिपात करेंगे। कवयित्री माया गोला अपनी इन रचनाओं में स्त्री के महत्व को उद्घाटित करती हुई नजर आती हैं। यहाँ पर वे स्त्री द्वारा प्रेम की उत्कृष्टता को उदाहरण देते हुए समझाती हैं! इन रचनाओं में वे स्त्रियों को जरूरत भर हिम्मत साथ रखने की बात करती हैं, स्त्री की असल योग्यताओं पर बात करती हैं, पुरूष के पीछे छिपी स्त्रियों की क्षमताओं पर बात करती है, स्त्रियों पर बनी गालियों का विरोध करती हैं, भ्रूण हत्या का विरोध करती हैं और अन्ततः 60 वर्ष पास करती हुई औरतों के विषय में लिखने से भी नहीं चूकती हैं।

'सोई हुई औरतें' कविता में सदियों से औरतों को जिस मानसिकता से छिपाया गया है वो अनायास ही नहीं है बल्कि उन्हें जान बूझकर ऐसा बना दिया गया है कि स्त्री अपने को उन्हीं परम्पराओं के अनुसार देखने लगी है क्योंकि यदि पुरूषों ने स्त्रियों के विचारों को आगे बढ़ने दिया तो वे प्रश्न करेंगी और उनके प्रश्नों से पितृ सत्तात्मक समाज की नींव हिल जायेगी,

'जरूरत भर हिम्मत' नामक कविता में कवयित्री माया गोला स्त्रियों से ये कहते हुये नजर आती हैं कि फैशन के सामान के बजाय अपने कलेजे में जरूरत भर हिम्मत लपेटकर रखनी चाहिये। इस पर कवयित्री लिखती हैं–

''बैग में अपने
क्रीम पाउडर
चूड़ी बिन्दी
काजल लिपस्टिक
रखने के बजाय
रख लेनी चाहिये
जरूरत भर हिम्मत कलेजे में लपेटकर ''[5]

'गालियां' नामक कविता में पुरूष समाज द्वारा जितनी भी गालियां बनाई गईं वो स्त्रियों पर ही बनाई गई हैं इस बात का जोर देकर कवयित्री विरोध करती हैं कि समाज में गालियों को खुल्लम खुल्ला उपयोग का अधिकार मिला हुआ है। इन गालियों का बहिष्कार कोई भी समाज नहीं करता बल्कि जोर देकर इन गालियों का सरे आम उपयोग होता है, अधिकांश गालियां

स्त्रियों के जनन अंगों से संबंधित हैं। औरत की देह उनकी इजाजत के बगैर इस्तेमाल हुई और उसकी देह पर या शरीर के अंगों पर गालियां बनाते वक्त उनसे न तो पूछा गया ना उनकी अनुमति ली गई तो यह किस प्रकार का समाज है जहाँ इन गालियों का सार्वजनिक प्रयोग होता है।

'आज उनका दिन है' कविता में कन्या भ्रूण हत्या पर तीखा तंज कसा गया है। नवरात्र में कन्या पूजन के दिन नौ लड़कियों को देवी मानकर पूजा की जाती है और ढूँढ ढूंढकर उन्हें लाया जाता है, परन्तु जब वे बच्चियां पैदा हुई थी तब क्या उनके माँ बाप ने उन्हें देवी समझा होगा? आज तो इन कन्याओं की पूजा की जा रही है परन्तु कितनी ही ऐसी बच्चियाँ है जिनको पैदा होने से पहले ही गर्भ में मार दिया गया होगा।

**निष्कर्ष :** नारी चित्रण में हमने देखा कि सर्वप्रथम पौराणिक मिथक और पौराणिक पात्रों का वर्गीकरण किया। उसके सारांश में हम समझ सकते हैं कि मिथकों और पौराणिक कथाओं में एक षणयंत्र के तहत स्त्रियों को निम्न दर्जे पर ही रखा गया। उनकी मानसिक स्थित इस प्रकार बना दी गई कि वे कुँएं की मेंढ़क की तरह अपना संसार कुँएं को ही मानने लगीं। उन स्त्रियों में से जिन्होंने भी उन परम्पराओं और रूढ़ियों का विरोध किया उन्हें या तो राक्षसी की उपाधि दे दी गई या चरित्रहीन कहकर दुत्कारा गया। इन्हीं के खिलाफ कवयित्री अपनी कलम से आग उगलती नजर आती हैं। इसके बाद आधुनिक समय में स्त्रियों की स्थिति पर प्रकाश डालते हुये कवयित्री यह बताते हुये नजर आती हैं कि वर्तमान में स्त्रियों के साथ दुष्कर्म एवं अनैतिक घटनायें देखने को मिलती हैं। इसके खिलाफ भी कवयित्री आक्रोश में लिखते हुये नजर आती हैं और साथ ही साथ वर्तमान में जो स्त्रियाँ अपने कर्मों को भूलकर अंग प्रदर्शन की तरफ बढ़ रही हैं उनको भी फटकार लगाते हुए नजर आती हैं। अंततः हमने देखा कि कवयित्री स्वयं की अनुभूतियों एवं विचारों को प्रदर्शित करती हैं। वे कहती हैं कि स्त्रियाँ सदियों से प्रेम को सम्भालती आती रहीं हैं उन्होंने सदैव से प्रेम ही बाँटा, उन्होंने अपनी महत्वकांक्षा के लिये कभी खूनखराबा नहीं किया, युद्ध नहीं लड़े बल्कि अपने अहं को दबाकर चुपचाप सबकुछ सहन करती आई हैं आज के समय में भी स्त्रियाँ पुरूषों से हर क्षेत्र में आगे नजर आती हैं परन्तु उन्हें उनकी क्षमता के अनुसार नहीं आँका जाता नौकरियों में भी उनके साथ भेद–भाव देखने को मिलता है। अतः माया गोला अपनी कविताओं में स्त्री चेतना के सभी आयाम दिखाई देते हैं।

**संदर्भ :**

1. डॉ० माया गोला, मौलसिरी, समय साक्ष्य प्रकाषन, देहरादून, 2024, पृश्ठ–19
2. वही, पृश्ठ–31–32
3. माया गोला, उपाधियां लौटाती हूं, न्यू वर्ल्ड प्रकाषन, नई दिल्ली, 2023, पृश्ठ–43
4. डॉ० माया गोला, मौलसिरी, समय साक्ष्य प्रकाषन, देहरादून, 2024, पृश्ठ–33
5. माया गोला, उपाधियां लौटाती हूं, न्यू वर्ल्ड प्रकाषन, नई दिल्ली, 2023, पृश्ठ–46

•

Gyanvividha, Special Issue (October) 2026 (Part-2) : PP-260-264

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Special Issue (October) 2026 (Part-2)
Page No.- 260-264
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**डॉ. अमित शिवाजी चिंगली**

सह प्राध्यापक, हिंदी विभाग, भाऊराव काकतकर कॉलेज, बेलगावी कर्नाटक

Corresponding Author :

**डॉ. अमित शिवाजी चिंगली**

सह प्राध्यापक, हिंदी विभाग, भाऊराव काकतकर कॉलेज, बेलगावी कर्नाटक

# सकल राष्ट्रीय प्रसन्नता (GNH) एवं भारतीय ज्ञान परंपरा : शिक्षा, संस्कृति और पर्यावरण संरक्षण का एकीकृत मॉडल

**शोध सार :** वर्तमान वैश्वीकरण और तीव्र औद्योगीकरण के दौर में संपूर्ण विश्व गंभीर पर्यावरणीय संकट, जलवायु परिवर्तन और सांस्कृतिक विघटन की चुनौतियों से जूझ रहा है। ऐसी परिस्थिति में आर्थिक वृद्धि को ही विकास का एकमात्र मानक मानना संधारणीय भविष्य की गारंटी नहीं देता। प्रस्तुत शोध पत्र भूटान के 'सकल राष्ट्रीय प्रसन्नता' (Gross National Happiness - GNH) दर्शन तथा भारत की पारंपरिक दार्शनिक मान्यताओं (विशेष रूप से वैदिक एवं बौद्ध चिंतन) के आलोक में शिक्षा, संस्कृति और पर्यावरण के अंतर्संबंधों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

अध्ययन का मुख्य उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि कैसे प्रकृति-केंद्रित संस्कृति और मूल्य-आधारित शिक्षा मिलकर पारिस्थितिकीय संतुलन का निर्माण कर सकती हैं। शोध में भूटान के चार प्रमुख स्तंभों सतत सामाजिक-आर्थिक विकास, सांस्कृतिक संरक्षण, पर्यावरण सुरक्षा और सुशासन की तुलना भारतीय ज्ञान परंपरा के 'पंचमहाभूत' व 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा से की गई है। निष्कर्ष यह है कि जब तक आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में स्थानीय संस्कृति और पर्यावरणीय संवेदना का समावेश नहीं होगा, तब तक सतत विकास का लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। अंततः, यह पत्र भारत और भूटान के द्विपक्षीय सांस्कृतिक-पर्यावरणीय सहयोग को दक्षिण एशिया के लिए एक आदर्श मॉडल के रूप में रेखांकित करता है।

**प्रस्तावना :** बीसवीं सदी के उत्तरार्ध से विकास की जो अवधारणा विश्व में प्रचलित हुई, उसका केंद्र बिंदु सकल घरेलू उत्पाद (GDP) रहा। किसी देश की प्रगति को उसकी उत्पादन क्षमता, औद्योगिक विस्तार और प्रति व्यक्ति आय से मापा जाने लगा। इस मॉडल ने निस्संदेह भौतिक समृद्धि बढ़ाई, किंतु इसकी कीमत प्राकृतिक संसाधनों के अति-दोहन, वनों के क्षरण, जल और वायु प्रदूषण, जैव विविधता की हानि तथा

पारंपरिक समुदायों के बिखराव के रूप में चुकानी पड़ी। जलवायु परिवर्तन आज किसी एक देश की नहीं, संपूर्ण मानवता की साझा चुनौती है।

इसी पृष्ठभूमि में यह प्रश्न उठता है कि क्या विकास का अर्थ केवल अधिक उत्पादन और उपभोग है, अथवा मनुष्य, समाज और प्रकृति के बीच संतुलित संबंध भी उसका अनिवार्य अंग है। हिमालय की गोद में बसा छोटा-सा देश भूटान इस प्रश्न का एक वैकल्पिक उत्तर प्रस्तुत करता है। वहाँ विकास को 'सकल राष्ट्रीय प्रसन्नता' की कसौटी पर परखा जाता है। दूसरी ओर, भारत की हज़ारों वर्ष पुरानी ज्ञान परंपरा में प्रकृति को उपभोग की वस्तु नहीं, बल्कि जीवन का आधार और पूजनीय सत्ता माना गया है।

यह शोध पत्र इन दोनों दृष्टियों को साथ रखकर देखता है और तीन प्रश्नों पर केंद्रित है: (1) GNH दर्शन पर्यावरण संरक्षण को किस प्रकार अपने मूल में समाहित करता है; (2) भारतीय ज्ञान परंपरा में प्रकृति और संस्कृति के बीच क्या संबंध है; (3) शिक्षा इन दोनों को जोड़ने का माध्यम कैसे बन सकती है। शोध की प्रासंगिकता इस तथ्य में है कि भारत की नई शिक्षा नीति (NEP 2020) भारतीय ज्ञान प्रणालियों और पर्यावरण शिक्षा पर बल देती है, जबकि भूटान अपनी शिक्षा में GNH मूल्यों को सुनियोजित ढंग से समाहित करने का प्रयास करता रहा है।

**भूटान का GNH दर्शन और पर्यावरण संरक्षण :**

- GNH की अवधारणा और चार स्तंभ : भूटान में 'सकल राष्ट्रीय प्रसन्नता' की अवधारणा का श्रेय चतुर्थ नरेश जिग्मे सिंग्ये वांगचुक को दिया जाता है, जिन्होंने 1970 के दशक में यह विचार रखा कि राष्ट्र का लक्ष्य सकल राष्ट्रीय उत्पाद से अधिक सकल राष्ट्रीय प्रसन्नता होना चाहिए। इसका आशय क्षणिक सुख नहीं, बल्कि समग्र और संतुलित कल्याण है। GNH के चार स्तंभ माने जाते हैं:
  - सतत एवं न्यायसंगत सामाजिक-आर्थिक विकास
  - पर्यावरण का संरक्षण
  - सांस्कृतिक मूल्यों का संरक्षण एवं संवर्धन
  - सुशासन को बढ़ावा

बाद में इन स्तंभों को नौ आयामों में विस्तारित किया गया, जिनमें मनोवैज्ञानिक कल्याण, स्वास्थ्य, शिक्षा, समय का उपयोग, सांस्कृतिक विविधता और सुदृढ़ता, सुशासन, सामुदायिक जीवंतता, पारिस्थितिकीय विविधता और सुदृढ़ता तथा जीवन-स्तर सम्मिलित हैं। विशेष उल्लेखनीय यह है कि संस्कृति और पर्यावरण यहाँ विकास के 'सहायक' तत्व नहीं, बल्कि उसके मूल घटक हैं।

- वन आवरण का संवैधानिक संकल्प एवं कार्बन-नेगेटिव स्थिति : भूटान के 2008 के संविधान के अनुच्छेद 5(3) में यह स्पष्ट प्रावधान है कि देश के कुल भू-भाग के कम से कम 60 प्रतिशत हिस्से पर सदैव वन आवरण बना रहेगा। किसी देश के लिए अपने संविधान में पर्यावरण संबंधी ऐसा न्यूनतम लक्ष्य दर्ज करना दुर्लभ वैश्विक उदाहरण है। भूटान की National Forest Inventory के नवीनतम आधिकारिक आँकड़ों के अनुसार, देश का वास्तविक वन आवरण लगभग 69.71 से 71 प्रतिशत के बीच बना हुआ है, जो संवैधानिक सीमा से कहीं अधिक है। इसके अतिरिक्त, भूटान विश्व के उन गिने-चुने देशों में शामिल है जो न केवल कार्बन-तटस्थ (Carbon Neutral) हैं, बल्कि कार्बन-नेगेटिव (Carbon Negative) हैं। भूटान जितना कार्बन उत्सर्जित करता है, उसके विशाल वन क्षेत्र उससे लगभग तीन गुना अधिक कार्बन का अवशोषण करते हैं। देश के बड़े भू-भाग को राष्ट्रीय उद्यानों, वन्यजीव अभयारण्यों और जैविक गलियारों के रूप में संरक्षित किया गया है। इस सफलता के पीछे केवल कानून नहीं, बल्कि बौद्ध जीवन-दृष्टि भी है, जिसमें सभी प्राणियों के प्रति करुणा और पर्वतों, नदियों व वनों के प्रति

आदर की भावना निहित है। भूटान में अनेक पर्वत और झीलें पवित्र मानी जाती हैं, जिससे उनके दोहन पर सामाजिक निषेध स्वतः लागू रहता है। यहाँ कानून और आस्था एक-दूसरे को पुष्ट करते हैं।

- विकास और संरक्षण का संतुलन : भूटान की जलविद्युत-आधारित अर्थव्यवस्था, सीमित और नियंत्रित पर्यटन नीति तथा औद्योगिक प्रदूषण पर अंकुश उसकी इसी दृष्टि के उदाहरण हैं। 'उच्च मूल्य, कम मात्रा' की पर्यटन नीति पर्यावरणीय दबाव घटाने के साथ सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा भी करती है। यह मॉडल दर्शाता है कि आर्थिक विकास और पारिस्थितिकीय संरक्षण परस्पर विरोधी नहीं हैं, बशर्ते विकास के लक्ष्य मूल्यों से निर्देशित हों।

**भारतीय ज्ञान परंपरा में प्रकृति और संस्कृति :**

- वैदिक एवं उपनिषदिक दृष्टि : भारतीय चिंतन में प्रकृति और मनुष्य का संबंध पृथक्-भाव का नहीं, आत्मीयता का है। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त की प्रसिद्ध पंक्ति 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' (पृथ्वी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ) इस भाव की अभिव्यक्ति है। ऋग्वेद और अन्य वैदिक ग्रंथों में सूर्य, वायु, जल, अग्नि और वनस्पतियों की स्तुति मिलती है, जो इन तत्वों के प्रति कृतज्ञता का बोध कराती है। 'पंचमहाभूत' की अवधारणा -पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश यह मानती है कि सृष्टि और मानव शरीर, दोनों इन्हीं पाँच तत्वों से निर्मित हैं। इसलिए इन तत्वों का प्रदूषण अथवा असंतुलन वस्तुतः स्वयं के संतुलन को बिगाड़ना है। ईशावास्य उपनिषद का आरंभिक मंत्र 'ईशावास्यमिदं सर्वं' समस्त जगत को एक परम सत्ता से व्याप्त मानता है और 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' के माध्यम से त्यागपूर्वक भोग का सूत्र देता है। यह सूत्र आज के उपभोक्तावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध संयमित उपयोग का दर्शन प्रस्तुत करता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा इसी विचार को मानव समाज से आगे समस्त जीव-जगत तक विस्तार देती है।
- बौद्ध दर्शन : बौद्ध दर्शन का 'प्रतीत्यसमुत्पाद' सिद्धांत बताता है कि सभी वस्तुएँ परस्पर निर्भर हैं; कुछ भी स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में नहीं है। अहिंसा, करुणा और मध्यम मार्ग की शिक्षाएँ उपभोग में संयम और सभी प्राणियों के प्रति सम्मान का आधार बनती हैं। भूटान का GNH दर्शन इसी बौद्ध परंपरा की आधुनिक नीतिगत अभिव्यक्ति के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रकार भारतीय ज्ञान परंपरा और भूटानी चिंतन के बीच गहरी वैचारिक निकटता दिखाई देती है।
- लोक जीवन और पर्यावरणीय चेतना : भारतीय लोक जीवन में पर्यावरण संरक्षण केवल सिद्धांत नहीं, दैनिक आचरण रहा है। तुलसी, पीपल और वट वृक्ष की पूजा, नदियों को माता मानना, गोवर्धन पूजा, छठ जैसे पर्व जिनमें सूर्य और जल की उपासना होती है, तथा वृक्षारोपण से जुड़ी परंपराएँ इसके उदाहरण हैं। राजस्थान का बिश्नोई समाज इसका अद्वितीय ऐतिहासिक उदाहरण है। वर्ष 1730 ईस्वी (भाद्रपद शुक्ल दशमी) में जोधपुर रियासत के खेजड़ली गाँव में अमृता देवी विश्नोई के नेतृत्व में खेजड़ी वृक्षों की रक्षा करते हुए 363 विश्नोई नर-नारियों ने अपने प्राणों की आहुति दी थी। बीसवीं सदी का प्रसिद्ध चिपको आंदोलन भी इसी चेतना की आधुनिक निरंतरता है। इसी प्रकार, देवताओं के नाम पर संरक्षित 'पवित्र उपवन' (Sacred Groves) सदियों से स्थानीय समुदायों द्वारा जैव विविधता बचाने की स्वदेशी एवं वैज्ञानिक पद्धति रहे हैं।

**शिक्षा में संस्कृति एवं पर्यावरण का समावेशन :**

- भारत और भूटान की शिक्षा दृष्टि : भारत की राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP 2020) भारतीय ज्ञान प्रणालियों को पाठ्यचर्या में सम्मिलित करने, मातृभाषा में शिक्षा देने तथा पर्यावरण शिक्षा और संवेदनशीलता को बढ़ावा देने की बात करती है। इस दिशा में शिक्षा मंत्रालय द्वारा स्थापित 'भारतीय ज्ञान प्रणाली' (IKS Division) उच्च एवं माध्यमिक शिक्षण संस्थानों में पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान जैसे जल-प्रबंधन, स्थानीय बीज संरक्षण और प्राकृतिक खेती को औपचारिक शिक्षा से जोड़ रहा है। नीतिगत स्तर पर भारत द्वारा प्रस्तुत 'मिशन LiFE'

(Lifestyle for Environment) इसी दर्शन का विस्तार है, जो 'उपभोग के स्थान पर विवेकपूर्ण उपयोग' (Pro-Planet People) पर बल देता है। यह विचार सीधे ईशावास्य उपनिषद के 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' के सिद्धांत से प्रेरित है।

दूसरी ओर, भूटान ने 2010 में औपचारिक रूप से 'एजुकेटिंग फॉर GNH' (Educating for Gross National Happiness) पहल की शुरुआत की। इसका उद्देश्य विद्यालयी शिक्षा में केवल सैद्धांतिक ज्ञान देना नहीं, बल्कि सजगता (mindfulness), पर्यावरण-चेतना, मूल्य-आधारित चिंतन और सामुदायिक सहभागिता को विद्यालयी संस्कृति व शिक्षण-पद्धतियों का अभिन्न हिस्सा बनाना है।

- 'हरित शिक्षा' की आवश्यकता : पारंपरिक शिक्षा प्रायः पर्यावरण को एक विषय के रूप में पढ़ाती है, जबकि आवश्यकता उसे जीवन-शैली के रूप में विकसित करने की है। हरित शिक्षा के अंतर्गत निम्न तत्व महत्वपूर्ण हैं:

• पाठ्यक्रम में स्थानीय पारिस्थिति और पारंपरिक पर्यावरणीय ज्ञान का समावेश
• अनुभवजन्य अधिगम, जैसे विद्यालय उद्यान, जल-संरक्षण परियोजनाएँ और वन-भ्रमण
• शिक्षकों को प्रकृति-संवेदी शिक्षण पद्धतियों का प्रशिक्षण
• विद्यालय और स्थानीय समुदाय के बीच सहभागिता
• ध्यान और सजगता के अभ्यास द्वारा भावनात्मक संतुलन

जब विद्यार्थी अपने गाँव की नदी, वन या पर्व के पर्यावरणीय महत्व को समझते हैं, तब पर्यावरण संरक्षण उनके लिए बाहरी उपदेश नहीं, बल्कि अपनी पहचान का हिस्सा बन जाता है। इस प्रकार शिक्षा संस्कृति और प्रकृति के बीच सेतु का कार्य करती है।

**भारत-भूटान साझेदारी: हिमालयी पारिस्थितिकी के संदर्भ में :** भारत और भूटान भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक रूप से घनिष्ठ हैं। दोनों देशों के बीच बौद्ध विरासत, हिमालयी भू-परिदृश्य और साझा नदी तंत्र उन्हें एक पारिस्थितिकीय इकाई के रूप में जोड़ते हैं। हिमालय क्षेत्र ग्लेशियरों के पिघलने, अनियमित वर्षा और भूस्खलन जैसे जलवायु-जनित खतरों के प्रति अत्यंत संवेदनशील है, इसलिए एक देश की पर्यावरणीय नीति का प्रभाव सीमा पार भी पड़ता है। जलविद्युत सहयोग दोनों देशों की साझेदारी का महत्वपूर्ण आयाम है, जिससे भूटान को राजस्व और भारत को स्वच्छ ऊर्जा प्राप्त होती है। जैव विविधता संरक्षण का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण 'ट्रांसबाउंड्री मानस कंज़र्वेशन एरिया' (TraMCA) है, जो भारत के मानस राष्ट्रीय उद्यान और भूटान के रॉयल मानस राष्ट्रीय उद्यान को जोड़कर एक एकीकृत सीमा-पार संरक्षण परिदृश्य का निर्माण करता है। यह मॉडल दक्षिण एशिया में सीमा-पार शांति और पारिस्थितिकीय कूटनीति का प्रमाण है। साथ ही, दोनों देशों का यह एकीकृत दृष्टिकोण संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्यों (विशेषकर SDG 12: संधारणीय उपभोग, SDG 13: जलवायु कार्रवाई, और SDG 4.7: सतत विकास हेतु शिक्षा) की प्राप्ति के लिए एक सशक्त क्षेत्रीय खाका प्रस्तुत करता है।

**निष्कर्ष एवं सुझाव :** इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भूटान का GNH दर्शन और भारतीय ज्ञान परंपरा दोनों इस मूल मान्यता पर आधारित हैं कि मानव कल्याण प्रकृति और संस्कृति से अविभाज्य है। 'पंचमहाभूत', 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'प्रतीत्यसमुत्पाद' की अवधारणाएँ उसी अंतर्संबंध को व्यक्त करती हैं जिसे GNH नीतिगत रूप देता है। शिक्षा इन मूल्यों को नई पीढ़ी तक पहुँचाने का सबसे प्रभावी माध्यम है। नीति-निर्माताओं और शैक्षणिक संस्थाओं के लिए व्यावहारिक सुझाव इस प्रकार हैं:

• विद्यालयी और उच्च शिक्षा में स्थानीय पारिस्थितिकी एवं पारंपरिक पर्यावरणीय ज्ञान को अनिवार्य रूप से सम्मिलित किया जाए।
• विकास योजनाओं के मूल्यांकन में केवल GDP नहीं, कल्याण और पारिस्थितिकीय संकेतकों को भी स्थान मिले।

• भारत-भूटान शैक्षणिक आदान-प्रदान, संयुक्त शोध और हिमालयी पर्यावरण परियोजनाओं को संस्थागत रूप दिया जाए।

• शिक्षकों के प्रशिक्षण में सजगता, अनुभवजन्य अधिगम और सामुदायिक सहभागिता पर बल दिया जाए।

• पवित्र उपवनों, लोक पर्वों और पारंपरिक जल-प्रबंधन जैसी सांस्कृतिक पद्धतियों का दस्तावेज़ीकरण और संरक्षण किया जाए।

अंततः, सतत भविष्य केवल तकनीक से नहीं, दृष्टि से निर्मित होगा। GNH और भारतीय ज्ञान परंपरा का समन्वय ऐसी दृष्टि प्रदान करता है जिसमें विकास का अर्थ है मनुष्य, समाज और प्रकृति का संतुलित एवं सामंजस्यपूर्ण उत्कर्ष।

**संदर्भ सूची :**

1. Royal Government of Bhutan. (2008). The Constitution of the Kingdom of Bhutan (Article 5: Environment). Thimphu.
2. Ministry of Energy and Natural Resources, Royal Government of Bhutan. (2023). National Forest Inventory Report. Thimphu.
3. Ministry of Education. (2020). National Education Policy 2020. Government of India.
4. Ura, K., Alkire, S., Zavaleta, D., & Wangdi, K. (2012). A Short Guide to Gross National Happiness Index. The Centre for Bhutan Studies.
5. Gadgil, M., & Guha, R. (1992). This Fissured Land: An Ecological History of India. Oxford University Press.
6. NITI Aayog. (2022). Mission LiFE (Lifestyle for Environment): Concepts and Framework. Government of India.

•